भारत के महान साधक

अष्टम् खण्ड

प्रथम प्रकाशन, १ दिसम्बर, १९८४ ई०

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन, दरभंगा

भारत के
महान साधक

भारत के महान साधक

अष्टम खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन
संभव हो
सका
उन्हीं महापुरुष
श्री कालीपद गुहाराय के कर-कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

प्रस्तावना

गत अक्टूबर ८४ की २६ तारीख को मुजफ्फरपुर में हठात् पं० रामनन्दन मिश्रजी ने कहा कि 'भारत के महान साधक' ग्रंथमाला के आगामी खण्ड की प्रस्तावना मुझे लिखनी होगी।

इस ग्रन्थमाला के प्रकाशित खण्ड यद्यपि मैं देख गई हूँ किन्तु उनका विश्रब्ध अध्ययन करने जितनी फुर्सत मेरे चिरव्यस्त जीवन में मिल नहीं पाई।

२० नवम्बर से शरीर अस्वस्थ हुआ। तब ग्रन्थ को शान्ति से पढ़ने के लिए समय अपने आप निकल आया। श्री रामकृष्णदेव परमहंस, गुरु अंगद, बाबा चरणदास एवं महर्षि रमण के जीवन चरित्र बड़े चाव से पढ़ गई। भाषा सरल है, शैली विशद् है, और वर्णन के विषय स्वयं ही उदात्त-गम्भीर हैं।

मेरा मानना है कि गुरु अङ्गद के विषय में पञ्जाब से बाहर के सत्सङ्गी लोग बहुत कम जानते होंगे। अद्भुत जीवन है। अपूर्व गुरुश्रद्धा से ओतप्रोत व्यक्तित्व है। अङ्गद बनने से पूर्व लहना के रूप में उन्होंने जो जीवन यापन किया है वह अपने में ही हृदयवेधक है। गुरु नानक से प्रथम मिलन में ही उनके हृदय में एक अनिर्वच-नीय श्रद्धा जागृत हुई। जैसे-जैसे श्रीनानक देव शिष्य की एक के बाद एक कठोर परीक्षा लेते गये, वैसे-वैसे लहनाजी की श्रद्धा निखरती चली गई। वे यथार्थ रूप में श्री नानकदेव की प्रतिकृति बन गये, प्रतिमूर्ति कहूँ तो भी अत्युक्ति नहीं होगी।

श्री चरणदास बाबा का जीवन कतिपय अंशों में गौड़ीय वैष्णव धर्म के प्रणेता श्री चैतन्य महाप्रभु का स्मरण दिलाता है। नीलाचल में उन्होंने अपनी निरहङ्कारिता का परिचय देते हुए जो असाधारण विनम्रता प्रकट की है, वह देख कर 'तृणादपि सुनीचेन'— यह उक्ति सार्थक हो गई— ऐसा प्रतीत होता है। श्री निताई एवं श्री निमाई

के सम्मिलन में से गढ़ा हुआ बाबा चरणदास का व्यक्तित्व जितना कमनीय है उतना ही प्रशान्त-गम्भीर है। उनकी विरहभक्ति सहृदय साधक को जड़मूल से हिला देगी।

महर्षि रमण के जीवन का परिचय हिन्दीभाषी सन्तप्रेमियों को इस ग्रन्थ के द्वारा होगा, इस की मुझे नितान्त प्रसन्नता है। महर्षि रमण एक योगी पुरुष थे। उन की योगसाधना प्रेमलक्षणा भक्ति से समृद्ध हुई थी। मौनदशा के वे सदेह अवतार थे। निर्विकल्प ध्यानावस्था के वे एक सदेह शिल्प थे। इतना होने पर भी उनके दैनिक व्यवहार में मानवीय गुणों का ह्रास या अभाव देखने में नहीं आया। ब्राह्मी मुहूर्त्त पर आश्रम के रसोई घर में काम करने वाले महर्षि, सात बजे गोशाला में जा कर ऋजु-कोमल प्रेम से गायों की देखभाल करनेवाले महर्षि, और आश्रम के ध्यानकक्ष में अपनी दिव्य आखें खुली रखते हुए समाधिस्थ दशा में बैठने वाले रमण महर्षि— भारत के इतिहास में एक अद्भुत घटनारूप थे। उन्होंने प्रत्येक साधक से एक ही बात कही कि 'मैं कौन हूँ और क्या हूँ ?'— इसकी खोज करो। शब्दों के द्वारा वह खोज नहीं होगी; अतल मौन में गहरे उतर कर चिन्तन क्रिया के विसर्जन में स्वरूप की उपलब्धि होगी। महर्षि रमण का यह वैज्ञानिक विश्लेषण साधक को पलभर में ही सम्प्रदायातीत आयाम में ले जाता है। गुरु शिष्य का द्वैतात्मक सम्बन्ध निर्माण किये बिना आत्मोपलब्धि का राजपथ महर्षि ने प्रशस्त कर दिया।

श्री रामकृष्ण परमहंसदेव के बारे में कुछ भी कहने में मैं असमर्थ हूँ। वैज्ञानिक आत्मसाधना के वे प्रथम प्रवक्ता रहे। प्रयोगात्मक तर्कशुद्ध सहृदय आत्मसाधना के वे सदेह दृष्टान्तरूप रहे। वे एकसाथ भक्त थे, ज्ञानी थे, ध्यानी थे, और कुशल कर्मयोगी भी थे। वे मूर्त्त अद्वैत थे। वे क्या नहीं थे ? मास्टर महाशय के रामकृष्ण लीलामृत के कारण एवं स्वामी विवेकानन्दजी के जीवनकार्य के द्वारा रामकृष्ण देव के व्यक्तित्व के कुछ पहलू मनुष्यजाति के सामने प्रकाशित हुए हैं, लेकिन जो उनके जीवन का अप्रकाशित और अज्ञात अंश है, वह प्रकाशित और ज्ञात से कहीं अधिक उदात्त, व्यापक और गहरा है। परम्परागत आत्मसाधना के सभी पन्थ और उनके अधिकारी उपदेशक

श्री रामकृष्णदेव की बालसुलभ विशुद्ध निर्दोषता, निखालस ऋजुता और प्रेममय मधुरता के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो जाते।

इन महान विभूतियों का परिचय नव भारत प्रकाशन-संस्था हिन्दीभाषी सत्सङ्गियों के लिये उपलब्ध कराती आयी है— यह उसका बड़ा उपकार है। भारतीय संस्कृति जीवनशुद्धि पर आधारित संस्कृति है; और साधना के सभी पन्थ चित्तशुद्धि तथा जीवनशुद्धि को अपना इष्ट समझ कर क्रिया-प्रक्रियाओं को उद्घाटित करते हैं।

आने वाली शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है। विज्ञान किसी को जीवन की दिशा का दर्शन नहीं करा सकता। जीवन के प्रयोजन का रहस्य विज्ञान नहीं जानता। उसका उत्तर तो अध्यात्म के पास है। पण्डित रामनन्दनजी के शब्दों में कहें तो 'आने वाला युग विज्ञानारूढ़ अध्यात्म का होगा।' इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए पाठकगण 'भारत के महान साधक' ग्रन्थमाला का अध्ययन-मनन करेंगे— यह आशा है।

'शिवकुटी', आबू पर्वत
१ दिसम्बर' ८४

विमला ठकार

प्रकाशकीय

'भारत के महान साधक' के अष्टम खंड को प्रकाशित करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है।

'भारत के महान साधक' के मूल लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक--तीनों एक साथ थे। उन्होंने लगातार ?५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया।

देश के सभी क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। इस अवसर पर उन सब महानुभावों के प्रति हम अपना आभार प्रकट करते हैं। हिन्दी में अनुवाद करने का कठिन कार्य आदरणीय प्रो० डॉ० रमाकान्त पाठक, श्री विश्वमोहन प्रसाद सिन्हा एवं श्री जगदीश्वर प्रसाद सिंह ने किया। इस कार्य के लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

अंत में हिन्दी-जगत के सुधी, सत्यान्वेषी एवं अध्यात्म में रुचि रखने वाले पाठकों के समक्ष यह ग्रन्थ प्रस्तुत है जिन्हें ही इस ग्रन्थ की महत्ता एवं उपादेयता के सम्बन्ध में निर्णय लेना है।

—निर्भय राघव मिश्र

विषय-सूची

श्री श्री रामकृष्ण परमहंस
(भावतन्मय अवस्था में)

श्रीरामकृष्ण परमहंस

संध्या की लाली, गंगा के वक्षःस्थल से, उस समय, निश्चिह्न नहीं हुई थी। देवी भवतारिणी के मंदिर में, सायंकालीन आरती की झाँझ-घंटी बज रही है। ऐसे ही समय दक्षिणेश्वर के घाट पर दिखलाई देते हैं, एक उलंग संन्यासी। सुन्दर, सुडौल, दीर्घायत शरीर है उनका; चेहरे पर है अपार प्रशान्ति और निर्लिप्तता; आँखों में है दिव्य आनन्द की ज्योति। अपनी उमंग की मनचाही चाल में वे टहल रहे हैं।

घाट के एक पार्श्व में बैठे हैं साधक गदाधर। उनकी भाव-तन्मयता की ओर संन्यासी की दृष्टि स्वभावतः आकृष्ट हुई। अपने-आप को इस तरह भूलकर बैठा हुआ, यह दिव्य-कान्ति-सम्पन्न तरुण, है कौन? इसके अंग-अंग में समाधि-भावापन्न साधक का लक्षण है। हठात् कुछ लक्ष्य कर, संन्यासी ठिठक गये। क्या तंत्र और भक्तिवाद की भूमि बंगाल में भी, वेदान्त का ऐसा उत्तम अधिकारी सम्भव है? यह बात संन्यासी को भौंचक में डाल देती है।

तरुण के सम्मुख जाकर संन्यासी ने कहा: 'मैं तुमको वेदान्त-सिद्धि और निर्विकल्प समाधि दूँगा। तुम लोगे?'

यह क्या कहा, जटाजूट-धारी तेजःपुञ्ज-कलेवर संन्यासी ने? माँ भवतारिणी के ध्यान में, उनके चिन्मय रूप में गदाधर भीतर से बाहर तक निमग्न और परिपूर्ण हैं। मातृ-साधना उनके समग्र अस्तित्व में ओतप्रोत है। सच

पूछो तो आनंदमयी माँ का रूप-ध्यान ही है उनका जीवन। यह सबकुछ, जिसमें एकाकार हो जायगा, वह गदाधर को देने आज कौन आ गये हैं?" निराकार का संदेश लेकर ये नागा संन्यासी, गदाधर के सम्मुख क्यों आये हैं?

माता के बिछोह की आशंकामात्र से गदाधर का कलेजा काँप उठता है। पर इस मायावादी तपस्वी का दुर्निवार आकर्षण उसे अभिभूत करता जा रहा है।

उस दिन की मोहमयी संध्या में, प्रकाश और अन्धकार के संधिक्षण में, साकार के वर-पुत्र के सामने निराकार के दूत ने अपना हाथ फैला दिया। वह नागा संन्यासी ही तो हैं भारत-विख्यात महावैदान्तिक—तोतापुरी स्वामी।

अलक्ष्य के संकेत से ही उस दिन तोतापुरी महाराज दक्षिणेश्वर में प्रकट हुए थे। इस आविर्भाव की आलोकच्छटा ने तरुण-साधक गदाधर के अध्यात्म-जीवन में जगा दिया है, नूतनतर पथ का संधान। इसी के परिणामस्वरूप, गदाधर का उत्तरण, आगे चलकर, शक्तिधर लोकगुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में हुआ।

संन्यासी के उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देना सहज नहीं है। किन्तु उस प्रश्न को, निरुत्तर रहकर, टाल देना और भी कठिन है। जन्म-जन्मान्तर का कौन-सा कोई संबंध, उन दोनों के बीच अब तक बना रह गया है, यह किसे मालूम? निरपेक्ष दृष्टि से कुछ देर तक देखकर, गदाधर केवल इतना ही बोल पाये : "क्या करूँ और क्या नहीं करूँ, यह तो मैं जानता नहीं, बाबा! मेरी माँ ही यह सब जानती हैं। उनका आदेश यदि मुझे प्राप्त हो जाय, तब तुम जैसा कहते हो, वैसा कर सकता हूँ।"

माता का आदेश मिल गया। गदाधर को यह समझते देर नहीं लगी कि उनके अध्यात्म-जीवन को पूर्णतर करने के ही लिए, संन्यासी का शुभागमन हुआ है।

पुरीजी आरम्भ में यह जानकर भौंचक थे कि गदाधर की माँ, कोई और नहीं, मन्दिर में प्रतिष्ठित श्यामा का वह विग्रह ही है, और उसी के आदेश की प्रतीक्षा गदाधर कर रहे हैं। गदाधर से यह पूरी बात सुन-समझ लेने के बाद उनके अधर पर चकित मुसकान की रेखा खिंच गई। अद्वैतवादी महापुरुष के लिए भक्त की मातृभावना के प्रति प्रसन्न विनोद का भाव स्वाभाविक ही था। तोतापुरीजी थे अद्वैत-ज्ञान के शिखर। मायामय विश्व-

प्रपञ्च के पार जाकर, भावातीत राज्य ही उस वेदान्ती का विचरण-क्षेत्र था। मानव-हृदय के परम धन, भगवत्प्रेम को भी, माया-ज्ञान की कसौटी पर कसकर, वे अद्वैत-ज्ञान के रूप में विशुद्ध कर चुके हैं। उन्होंने निर्विकल्प समाधि के पथ पर ब्रह्म-साक्षात्कार किया है। साकार का ध्यान और इष्ट की पूजा, इसी लिए उनके लिए सहज भाव से सार्थक नहीं।

बालक-स्वभाव मातृ-साधक गदाधर की बात सुनकर, उस दिन, वेदान्त-केसरी तोतापुरी, इसीलिए, अपनी हँसी रोक नहीं सके।

दक्षिणेश्वर में प्रसिद्ध पञ्चवटी के नीचे पुरीजी ने अपना आनुष्ठानिक-कार्य आरंभ किया। आज पितरों को पिण्ड प्रदान कर लेने के बाद, श्रद्धापूर्वक, साधक गदाधर को संन्यास ग्रहण करना है। पुरीजी के निर्देशानुसार ही सारे कार्य संपन्न हुए। अब तक गदाधर के पास जो कुछ बचा हुआ था, भवतारिणी माँ के प्रति जिस ममता, भक्ति, प्रेमसाधना के सहारे वे अब तक जीवित थे, उस सब कुछ को विसर्जित कर, वे संन्यास लेंगे। विरजा होम की समाप्ति के पश्चात्, इस नवीन संन्यासी का नाम पड़ा— श्रीरामकृष्ण।

सर्वपाशमुक्त साधक को अब समाधि की गंभीर निमग्नता के निमित्त प्रस्तुत रहना है।

रामकृष्ण कहा करते, "देखो, जैसे समुद्र के तीर पर सर्वदा निवास करनेवाले की कभी-कभी इच्छा होती है कि देखूँ, रत्नाकर समुद्र के गर्भ में कौन-कौन-से रत्न हैं, वैसे ही, माँ को प्राप्तकर, उनके निकट सर्वदा रहते हुए, मेरे मन में होता—अनन्त भावमयी, अनन्त रूपमयी माँ को नाना भावों, नाना रूपों में जरा देखूँ।" पर नागा संन्यासी के बताये मार्ग पर तो कुछ और ही होना है। अब तो अनन्त भावमयी, अनंत रूपमयी इष्टदेवी को उस रूपातीत तक ले जाना होगा, जहाँ नामरूप का अन्त हो जाता है। ज्ञान-मार्ग की चरमतम उपलब्धि इसके बिना प्राप्त नहीं होगी। ऐसा निश्चय कर, गुरु के निर्देशानुसार, वे आसन पर आ बैठे।

रामकृष्ण के ध्यान का धन थी, इष्टदेवी की चिन्मयी भावमयी मूर्त्ति। उनकी संपूर्ण सत्ता उसी में ओतप्रोत होकर निवास करती थी। निर्विकल्प परमात्मध्यान में वह मूर्त्ति यों ही विलीन नहीं होना चाहती। उनकी बार-बार की चेष्टा विफल होती रही।

तोतापुरी गरज उठे—"क्यों नहीं होगा?" शीशे के टूटे टुकड़े को उठाकर, उन्होंने इतने जोर से रामकृष्ण पर दे मारा कि रामकृष्ण की दोनों

भौहों के बीच में उसकी नुकीली नोंक चुभ गई। गम्भीर स्वर में तोतापुरी ने फिर गर्जन किया : "बैठो ! अब जहाँ शीशा गड़ा है, वहीं अपने मन को, अपनी संपूर्ण चेतना को केंद्रीभूत कर लो और पहुँच जाओ चरम उपलब्धि के शिखर पर।"

उस काल की अवस्था की बात परमहंस श्रीरामकृष्ण स्वयं बता गये हैं : "पहले की ही तरह, जगदम्बा की मूर्त्ति मन में उदित हुई। ऐसा होते ही, ज्ञान की असि-कल्पना से, मैंने मन-ही-मन, उस उदित मूर्त्ति के दो टुकड़े कर दिये। इसके बाद मन में कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया। फिर तो अकस्मात्, हू-हू करते हुए, सभी नामरूप, ऊपर के राज्य में उठकर, एकबारगी लुप्त हो गये। मैं समाधि में डूब गया।" (लीला-प्रसंग)

तोतापुरी नहीं चाहते कि शिष्य की समाधि में कोई विघ्न हो। इसीलिए रामकृष्ण की कुटी के दरवाजे को बाहर से बंद कर, उन्होंने ताला लगा दिया है। एक-एक कर तीन दिन बीत गये। विस्मय विमुग्ध गुरुमहाराज ने अब जाकर उस बंद दरवाजे को खोला। शिष्य अब तक समाधि में डूबे-के-डूबे ही थे। अपने आसन पर ज्योतिर्मय होकर रामकृष्ण बैठे हैं। उनकी देह है, निश्चल, निस्पन्द। चैतन्य का कोई वाह्य चिह्न नहीं। निर्वात, निष्कल दीप-शिखा की भाँति उनकी संपूर्ण सत्ता जैसे अपनी ज्योति में मौन होकर जली जा रही है।

यह कैसा अद्भुत काण्ड हो गया ! नर्मदा नदी के किनारे लगातार चालीस वर्षों तक कठोरतम तपस्या करने के बाद तोतापुरी को जो मिला था, वह प्रभु की कृपा के सहारे इस तरुण साधक को इतनी आसानी से कैसे मिल गया ? गुरु के विस्मय की सीमा नहीं रही। किंतु केवल इतना ही बोलकर वे चुप हो गये : "यह क्या दैवी माया ! यह क्या दैवी माया !" शिष्य रामकृष्ण की उस कृतार्थता को देखकर, उनके आनंद की सीमा न थी।

ज्ञानवादी, सर्वपाशमुक्त तोतापुरी स्वामी अब अपने अधिकारी शिष्य के प्रेम में बँध गये। तीर्थों की परिक्रमा के क्रम में वे कुछ ही दिनों के लिए इस स्थान पर आये थे। पर सहज भाव से यह स्थान छोड़कर जाना उनके लिए सहज नहीं रह गया है। अपने सान्निध्य में रखकर, अद्वैतबोध के क्षेत्र में शिष्य को सुप्रतिष्ठ कर देने के लिए वे तत्पर हैं।

रहते-रहते दक्षिणेश्वर के उद्यान में पुरीजी महाराज कोई छह महीने रह गये। श्रीरामकृष्ण की उच्चतम उपलब्धियों को दिनानुदिन अग्रसर होते देख वे विस्मित होते रहे।

रामकृष्ण की उपास्या, उनके ध्यान का धन जगन्माता थीं। माँ की चिन्मयी मूर्त्ति तोतापुरी की ज्ञानाग्नि के स्पर्श से नाम-रूप से अतीत होकर चली जाती। दूसरी ओर स्वयं तोतापुरीजी भी रामकृष्ण के स्पर्श से अनभिभूत नहीं रह सके। निराकार के आकार को, ब्रह्म की शक्ति को स्वीकृति देने के लिए उन्हें नित्य बाध्य होना पड़ता। मायातीत का माया-मोहांजन, उन अद्वैत-ब्रह्मात्मवादी की आँखों को उन दिनों आँजता जा रहा था।

नर्मदा की धारा अब गंगा के स्रोत में आकर जैसे मिल गई थी—ज्ञान आकर, जैसे धारण कर गई थी भक्ति और शक्ति की लीला।

जगन्माता का नाम-गान करना, साधक श्रीरामकृष्ण का, प्रतिदिन का अभ्यास था। करताल देते, नाम गाते-गाते, वे भावाविष्ट हो जाया करते। मायावादी तोतापुरीजी की आँखों को यह दृश्य अद्भुत लगा करता, पर यह देख, उन्हें अपनी हँसी दबानी पड़ती। एक दिन परिहास में उन्होंने अपने शिष्य से पूछा : "इस तरह क्यों रोटी ठोकते हो ?"

बालक-स्वभाव रामकृष्ण उत्तर में खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले, "लो, ये क्या कहते हैं। मैं प्राणों की शक्ति लगाकर, ब्रह्ममयी माँ का नाम-गान करता हूँ, यह ये समझना ही नहीं चाहते।"

सुदूर नर्मदा-तीर से माँ भवतारिणी तोतापुरी को खींचकर ले आई हैं। उनके प्रिय पुत्र गदाधर की साधन-सत्ता में प्रवाहित हो रही है भक्ति और शक्ति की धारा। इस धारा में माँ ने ही मिला दिया है ज्ञान-साधना का प्रवाह। अब महामाया की सर्वव्यापिनी माया ने वेदान्त के उस संन्यासी के जीवन को भी प्रभावित कर दिया है। रामकृष्ण और उनकी माँ के निकट आकर तोतापुरीजी भी बहुत कुछ बदल गये हैं। लोग कहते हैं कि बाद आकर तो वे श्रीरामकृष्ण के सुमधुर मातृ-संगीत को, चाव से, कान लगाकर सुनने लगते और उनकी दोनों आँखों में आनन्दाश्रु भर आते।

ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति की बात लेकर अब गुरु और शिष्य के बीच प्रेम-कलह के अवसर और प्रसंग नहीं आते। एक दिन तोतापुरी अपनी धूनी के सामने बैठे हैं। मन्दिर के इस परिचालक ने, हठात् पास आकर, धूनी से कुछ अंगारे और काष्ठखण्ड निकाल लिये। पवित्र होमाग्नि के प्रति ऐसी अमर्यादा का भाव देखकर, तोतापुरीजी गुस्से से फट पड़े।

ऐसे महाज्ञानी और यह रोष ! चित्त की ऐसी चञ्चलता ! कौतुकोच्छल रामकृष्ण उच्च हास्य-स्वर के साथ ताली बजाते बोले : "अब लीजिये, महामाया की दुर्वार माया-शक्ति के सामने आप भी हार जाते हैं न ?"

वेदान्त ब्रह्मज्ञानी तोतापुरी का स्वस्थ, प्रलंब, आयत शरीर वज्रवत् अचंचल और अजर था। पर बंगाल के हवा-पानी ने अपने प्रभाव से उसे घुला दिया। क्रमशः वह रोगाक्रान्त हो गये। व्याधि जैसी कठिन थी, यन्त्रणा भी वैसी ही दुःसह। एक दिन उन्होंने तय किया -इस भंगुर देह की इतनी परिचर्या और देखभाल से क्या लाभ? इसे बचाकर रखने का प्रयोजन भी क्या है? आज ही नदी-जल में इसे डुबाकर छोड़ दूँगा।

गंगा की मध्य-धारा को लक्ष्यकर तोतापुरी आगे की ओर चल पड़े। किन्तु यह क्या हो गया? शरीर को डुबाने लायक गहरा जल तो गंगा में कहीं नहीं मिल रहा है! इस पार से लेकर उस पार तक वे गहराई की खोज में चक्कर लगाते फिरे। पर सारी चेष्टा व्यर्थ! महामाया की माया ने उनका वह संकल्प तोड़ दिया। तोतापुरी को फिर हार माननी पड़ी। रामकृष्ण के पास जाकर स्वीकार किया—ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति में भेद करना कठिन है। रामकृष्ण की माँ की, महामाया की महिमा स्वीकार करनी ही पड़ी।

रामकृष्ण की साधना को पूर्णाङ्ग बनाकर, तोतापुरी महाशय चले गये। इसके बाद धीरे-धीरे, दक्षिणेश्वर के इस अज्ञात अख्यात पुरोहित ने युगाचार्य की भूमिका में प्रवेश किया। जड़वादी सभ्यता की उत्ताल तरंग उस समय समकालीन भारत को आंदोलित करने लगी थी। रामकृष्ण को, जड़ता की उस लहर के आमने-सामने आकर खड़ा होना पड़ा। उनके चैतन्यमय जीवन की कथा सुनकर, ब्रह्म-साक्षात्कार का वृत्तान्त जानकर, उस युगके उद्भ्रान्त मानव-प्राणी के कान खड़े हो गये।

कामार पुकुर के इस नगण्य, निरक्षर ब्राह्मण-पुत्र के विवर्त्तन की कहानी सचमुच ही विस्मयकर है।

रामकृष्ण के पिता खुदीराम चट्टोपाध्याय हुगली जिले के 'देरे' नामक ग्राम के निवासी थे। वे थे निष्ठावान् और सदाचारी ब्राह्मण। कुलदेवता श्री रघुवीर की पूजा किये बिना वे जल भी ग्रहण नहीं करते। सत्यवक्ता के रूप में उनकी ख्याति पूरे इलाके में थी। एक बार किसी मुकद्दमे में झूठी गवाही देने से इन्कार करने के कारण, स्थानीय जमींदार उनपर रुष्ट हो गये। किन्तु अत्याचार और लांछना का हर प्रयत्न उस धर्मप्राण खुदीराम को सत्य-धर्म से डिगाने में अन्ततः विफल सिद्ध हुआ। बाद में विरक्त होकर उन्होंने उस गाँव को ही छोड़ दिया। कामार पुकुर के शान्त परिवेश में उनकी नई झोपड़ी उसी क्रम में खड़ी हुई।

बहुत दिनों बाद की कहानी है। तब खुदीराम किसी दूसरे गाँव से लौटे थे। शरीर थकावट से दुख रहा था, सो मैदान के कोने के एक पेड़ तले सुस्ताने लगे। धीरे-धीरे नींद आ गई।

नींद की बेखबरी सपने में बदल गई। देखा—इष्टदेव श्री रघुनाथजी पास में आकर खड़े हो गये हैं। एक स्थान की ओर संकेत कर श्री रघुनाथजी ने कहा—"अजी, मुझे वहाँ से उठाकर ले चलो। अपने घर में स्थापित कर मेरी सेवा-पूजा करना।"

नींद टूट गई। खुदीराम सपने से चौंक कर उठ बैठे। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर तो उनकी बोलती बन्द हो गई। मिट्टी में आधी ढँकी एक शाल-ग्राम-शिला वहाँ दिखाई पड़ी थी, और उसके पास फन फैलाये बैठा था एक अति विषधर सर्प।

उस शालग्राम-शिला को अपने घर ले आकर उन्होंने प्रतिष्ठापित कर दिया। बाद में पता चला कि वह शालग्राम निरा शालग्राम नहीं, वह तो है रघुवीर-चक्र। अपने पति की तरह, भक्तिमती चन्द्रादेवी भी उस विग्रह की सेवा-पूजा में प्राणपण से जुट गई।

इष्ट-सेवा के फल के फलित होने में देर नहीं लगी। खुदीराम उन दिनों तीर्थाटन करने, गया की ओर गये हुए थे। गया में ही रात को उन्होंने एक अद्भुत स्वप्न देखा। ज्योतिर्मय मूर्त्ति से प्रकट होकर भगवान गदाधर रत्नमय सिंहासन पर आ विराजे हैं। खुदीराम की ओर देखकर उन्होंने स्मितहास्य के साथ कहा : "तेरा पुत्र होकर, मैं तेरे घर में जन्म लूँगा।" बाद में पता चला कि ठीक इसी क्षण में चन्द्रादेवी कामार पुकुर के अपने घर में एक अद्भुत दिव्य आवेश में मग्न पाई गई थीं।

१८४६ ईस्वी सन् की १७वीं फरवरी। दरिद्र ब्राह्मण खुदीराम के घर को शुभ मुहूर्त्त में आलोकित करता उत्पन्न हुआ एक सुदर्शन शिशु। भगवान् गदाधर के वरदान-स्वरूप उत्पन्न पुत्र का नाम रक्खा गया—गदाधर।

स्वेच्छा-विहारी गदाधर का बचपन कामार पुकुर की शान्त सुरम्य भूमि में आनन्दपूर्वक बीता। भजन और गान सुनते ही बालक के उत्साह की सीमा नहीं रहती। बंगाल की धर्मयात्रा-गीतावली हो, या शिव-गान, अथवा मनसा-मंगल, हरि-वासर-गीत या कीर्त्तन, किसी को छूट नहीं मिलती। प्रत्येक गान, प्रत्येक अभिनय बालक गदाधर अनायास ही कण्ठस्थ कर लेता। गाँव के प्रत्येक नर-नारी को यह बालक प्रिय हो गया था।

बड़ा अद्भुत था यह बालक। बीच-बीच में उसे भावावेश हो आता। उस दिन मैदान से निकलते-निकलते उसकी निगाह पड़ गई, आकाश में उड़ती वक-पंक्ति पर। नील आकाश में उड़ती सफेद वक-पंक्ति। भगवान् विष्णु के श्याम वक्षःस्थल पर श्वेत कौस्तुभ की रत्नमयी एकावली, ऐसी ही लगती होगी न? यह प्रश्न मन में उठते ही बालक गदाधर आत्म-विस्मृत होकर गिर पड़ा। असीम का स्पर्श उसके मग्न चैतन्य को उत्कंपित कर, किस गहराई में कब रख गया, यह कौन जाने!

गदाधर के अचेत शरीर को मैदान से उठाकर ले आया गया। माँ चन्द्र-मणि डर के मारे रोने लगीं। शान्ति स्वस्त्ययन कराने के बाद जाकर, वे कुछ-कुछ स्थिर हुईं।

एक दूसरे दिन की कहानी है। गाँव की सभी स्त्रियाँ विशालाक्षी के मन्दिर को जा रही हैं। गदाधर भी उनके साथ लग गया है। पथ में ही उसकी देह में देखा गया दिव्य भावावेश। संज्ञाहीन गदाधर को देखकर नारी-मण्डली भयभीत हो उठी। कानों-कान बात होने लगी—"कहीं विशालाक्षी का ही भाव तो नहीं है?" फिर तो अचेत गदाधर की स्तुति शुरू हो गई!

उस बार गाँव में यात्रा-गान का समारोह था। गदाधर को शिव की भूमिका दी गई। जटा, व्याघ्रचर्म और अस्थिमाल्य धारण करते-करते गदाधर अपना पार्ट अदा करना भूल गया। शिव का साज सजाते ही उसमें जग गया शिव का दैवी भावावेश। अन्ततः वह अचेत हो गया

पिता की मृत्यु के पश्चात् गदाधर के जीवन में अद्भुत परिवर्त्तन हुआ। अकेले निर्जन स्थानों में, श्मशानों में, सूने खण्डहरों में और वीरान बागीचों में उसका अधिकांश समय व्यतीत होने लगा। कामार पुकुर के पास से ही जगन्नाथपुरी जानेवाले यात्रियों की राह गुजरती थी। उस पर यात्रियों का आना-जाना लगा ही रहता था। लाहा बाबू की पान्थशाला में पारिव्राजक साधुओं-वैरागिओं का जमाव अक्सर हुआ करता। गदाधर उनके अड्डे में आकर बैठ जाया करता। कुतूहल के साथ उनके तौर-तरीकों को देखना उसे प्रिय था। साधु-संन्यासियों के बीच रहना उसे पसन्द था। इस प्रियदर्शन बालक का उस समाज में बड़ा आदर था। उसे गान-भजन सीखने के अवसर साधुमण्डली में अक्सर मिलते रहते।

गदाधर स्वेच्छानुसार जहाँ-तहाँ घूमता रहता। लिखने-पढ़ने में उसकी अरुचि स्पष्ट थी। पाठशाला की तरफ जाना भी उसे नापसन्द था। वह उपहासपूर्वक कहता : "छप्पर के तले कैद होकर पढ़ने से लाभ ही क्या?

मैं ऐसी पढ़ाई से बाज आया।" घर के लोग बालक को इस हालत पर चिंतित थे। फिर बीच-बीच में भावावेश भी तो उसे आता ही रहता था। यह भी एक कारण था कि उसे पढ़ाई-लिखाई के लिए मजबूर नहीं किया जाता।

गदाधर के गले की आवाज बड़ी मीठी थी। उसे कीर्त्तन, भजन, गान गाते जिसने भी सुना, वह मुग्ध हुए बिना नहीं रहा। अभिनय-कला में भी उसकी निपुणता कम अद्भुत नहीं थी। सहज-सुन्दर ग्राम्य-जीवन के परिवेश में उसके दिन आनन्द से कटते, प्रकृति के आनन्द-लोक में दिनानुदिन उसका मन रमता जाता।

उम्र बढ़ने के साथ यह चिन्ता भी बढ़ने लगी कि आखिर इस तरह गदाधर को कब तक रहने दिया जाय! संसार ही था उसका अभाव और अकिंचनता का। फिर लड़के का भविष्य भी तो देखना होगा। ज्येष्ठ भ्राता राम कुमार अन्त में उसे कलकत्ता ले गये। गदाधर की उम्र उस समय सत्रह साल की थी।

उन दिनों रामकुमार ने कलकत्ते में संस्कृत टोल की पाठशाला खोल रक्खी थी। पर छात्र के अभाव में वह पाठशाला समाप्त हो गई।

रानी रासमणि द्वारा नव-प्रतिष्ठित काली-मन्दिर में इसी समय एक पुरोहित की आवश्यकता हुई। रामकुमार को इस काम के लिए बुलाया गया।

आखिर, मन्दिर तो है शूद्र के द्वारा प्रतिष्ठित! लेकिन जाने भी दो, इससे क्या होना है। रामकुमार का दृष्टिकोण उदार था। मन्दिर का पौरोहित्य उन्होंने स्वीकार कर लिया।

बड़े भाई के साथ गदाधर दक्षिणेश्वर चले आए। कभी वे भाव-तन्मय होकर माँ के मंदिर में बैठे रहते हैं और कभी घूमने निकल जाते हैं गंगा के किनारे।

भाई अक्सर टोकते—"अरे काम तो कोई-न-कोई करना ही होगा। तो इस भवतारिणी-मन्दिर में ही रहकर कुछ करते क्यों नहीं?

गदाधर ऐसी बातों पर कान देना जानते ही नहीं। भगवान् को छोड़कर और किसका स्वामित्व?"

हाँ, पर उनका मन बार-बार देवी भवतारिणी के मन्दिर में चला ही जाता है। समझना कठिन है कि उस विग्रह में कैसा अमोघ आकर्षण है! इस गंगा के किनारे भी उन्हें बहुत अच्छा लगता है। मन क्रमशः स्थिर हुआ। देवी के विग्रह का साज-सिंगार करना उन्होंने कबूल किया। इसके बाद

मन्दिर के पुजारी का पद-ग्रहण भी उन्हें करना पड़ा। इसके साथ ही उनके जीवन का नया अध्याय आरम्भ हुआ।

पुरोहित गदाधर के साथ भवतारिणी के विग्रह का सम्बन्ध घनिष्ठतर होने लगा। भक्त साधक और जगन्माता के आत्मिक योगायोग के बीच से एक अच्छेद्य सम्बन्ध जुड़ गया।

शाक्ती दीक्षा ग्रहण किये विना देवी-पूजा ठीक तरह से नहीं की जा सकती। गदाधर चिन्ता में पड़ गये। तन्त्राचार्य केनाराम भट्टाचार्य उन्हें पसन्द आए। उन्हींसे उन्होंने दीक्षा ली। इस दीक्षा के बाद ही एक अद्भुत काण्ड घटित हुआ। गदाधर भावावेश में मूर्छित हो गये।

मन के माफिक कोई काम है तो भवतारिणी की यही पूजा। इस काम में गदाधर अपने तन-मन-प्राण को एकसाथ उड़ेल देते हैं। जीवन के दोनों किनारों को डुबाकर भक्ति का ज्वार उमड़ उठता है और प्राणों के पोर-पोर में मुमुक्षा की आर्त्ति व्याप्त हो जाती है। सूक्ष्मलोक का द्वार धीरे-धीरे खुल जाता है।

शुद्ध-सत्व अपाप-विद्ध साधक के अन्तर में पूर्वजन्म का सात्त्विक संस्कार जग पड़ा है। नाना लोकोत्तर विभूतियों के रूप में वह अब प्रकाशित हो रहा है।

देवी की अर्चना में बैठे ही हैं कि अंग-न्यास, कर-न्यास करते-करते अपूर्व दृश्य दिखाई पड़ने लगे! उनके अपने अंगों के नाना स्थानों में ज्योति की छटा झलक उठी। पूजा के पहले भूत-शुद्धि करने बैठते हैं, क्रिया सम्पन्न होने के बाद स्वयं चौंक जाते हैं। देखते हैं कि पूजा-पीठ के चारों ओर किसी अलौकिक शक्ति-बल से प्रज्ज्वलित हो उठी है एक अलौकिक अग्नि-शिखा, जो पूजा के अनुष्ठान की रक्षा कर रही है।

माँ के आह्वान-मंत्र की ही यह प्रतिक्रिया तो नहीं है! इस मन्त्र के उच्चारण के साथ-साथ समूची देह दिव्य सत्ता से परिपूर्ण हो उठती है। मन्दिर के भीतर की हवा सहम जाती है। किसी अपार्थिव भाव-महिमा के सहारे सम्पूर्ण वातावरण गनगनाने लगता है। तरुण पुजारी की तेजः पुंजमय भावाविष्ट मूर्त्ति को जो कोई देखता है, वही अवाक् हो जाता है। मानो स्वयं ब्रह्मण्यदेव आविर्भूत हुए हैं और ब्रह्ममयी की पूजा कर रहे हैं।

पूजा पूरी हो जाती। अब मन्दिर के गर्भ-गृह के कोने में बैठकर ब्राह्मण-देवता माँ को गान सुनाने लगते हैं। ये गान रामप्रसाद और कमलाकान्त के रचे हुए हैं। पर गदाधर ने जैसे उनमें अपने प्राण घोल दिये हैं। वे विभोर होकर गा रहे हैं और उनका भाव-विह्वल हृदय आँसुओं से गीला होता जा रहा है।

रात में जब मन्दिर का द्वार बन्द हो जाता है, तब पंचवटी के निकटवाले जंगल में वे ध्यान में निमग्न होकर बैठ जाते हैं। इसके साथ-साथ अपने को अपने वहिरंग जीवन से वे एकबारगी अलग कर लेते हैं। इष्टदेवी जगन्माता के पाद-पद्मों पर उन्होंने अपने को पूरी तरह से उलीच दिया है। संसार का आह्वान उनके लिए हो गया है अवान्तर—सर्वथा निरर्थक। इसी से तो मातृ-ध्यान में अब सदा-सर्वदा डूबे रहते हैं।

कोई कष्ट, कोई त्याग अब उनके लिए कठिन नहीं रह गया है, यदि वह ईश्वर की प्राप्ति में सहायक हो। कृच्छ्र से कृच्छ्र साधन के लिए वे सब प्रकार से प्रस्तुत हैं। 'समलोष्ट्राश्म-काञ्चनः' होना होगा? मिट्टी के ढेले और सोने के टुकड़े को सम-भाव से देखना होगा? ठीक है। एक विलक्षण कौतुक आरम्भ कर दिया है ठाकुर ने। हाथ पर वे मिट्टी के ढेले और पासके रुपये एक साथ रखकर कहते हैं "मिट्टी-रुपया, रुपया-मिट्टी" और फिर दोनों को एक-साथ, गंगा की धारा में, उठाकर फेंक देते हैं। ऐसा ही होता रहता है वारंवार!

साधनामय जीवन का मूल रहस्य ही तो है अहंकार का नाश! हाँ, अहंभाव का त्याग करना होगा। सभी जीवों के प्रति शिव-भाव दृढ़ करना होगा। फिर तो काली-मंदिर के इर्द-गिर्द मँडरानेवाले कंगालों का उच्छिष्टान्न श्रद्धा और रुचि के साथ खाने के लिए वे अक्सर आकर बैठ जाते। ये कंगाल भी तो उनकी इष्टदेवी की ही प्रतिमूर्त्तियाँ हैं। उनके जूठे पत्तल भी तो माँ के ही प्रसाद हैं। श्रद्धा-विह्वल होकर उस प्रसाद को वे सिर-आँखों से लगाते हैं। भिखारियों के द्वारा उच्छिष्ट किये गये पत्तों और स्थानों को वे अपने हाथों धोते हैं। उनके जूठे पत्तों को अपने हाथों उठा-उठाकर जलाशय में फेंकते हैं। अहंकार के नाश का यह उपाय उन्हें प्रिय हो गया है।

साधना की सिद्धि के लिए कुछ भी अकरणीय नहीं। कोई क्रिया, कोई कर्त्तव्य वे बाकी नहीं रहने देंगे। जगन्माता का दर्शन, चाहे जिस उपाय से हो, उन्हें प्राप्त करना ही है। अपने इस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए जरूरी है कि कोई कसर बाकी न रहे। परम प्रस्तुति के पथ पर ठाकुर बढ़ते चले जा रहे हैं, दिनानुदिन निरलस होकर।

माँ-बाप की स्वभाव-जात शुद्धता और पवित्रता का संस्कार उन्हें जन्म लेने के साथ ही मिल गया था। अब प्रेम और भक्ति का अपरिमेय ऐश्वर्य भी उन्होंने अपने भीतर, अपनी साधना के द्वारा, उपजा लिया है। अध्यात्म-जीवन की परम-प्राप्ति के निमित्त उन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया है और

इस प्रकार हल्के होकर, दुर्वार गति से, वे उड़ चले हैं अपने गन्तव्य की ओर ।

ईश्वर-प्रेम की तीव्र व्याकुलता ने उनमें जैसे उन्माद का रूप धारण कर लिया है । जगन्माता का दर्शन नहीं मिला तो जीकर क्या करना है ? उनकी व्याकुल उत्कण्ठा का चीत्कार सुनकर पत्थर भी पसीज जाता । वियोग की दुःसह ज्वाला से छटपटाते हुए वे बार-बार कहने लगते : "माँ, इतनी पुकार तो मचा रहा हूँ, क्या तुम तब भी नहीं सुन रही हो ? भक्त रामप्रसाद को तो तुमने आकर दर्शन दिया था, क्या उसी तरह, मुझे दर्शन नहीं दोगी, माँ ?"

उस दिन हृदय की यन्त्रणा से अधीर होकर गदाधर हठात् मंदिर के भीतर जा पैठे । अब वे खड्ग के आघात से जीवन-नाश करने के लिए तैयार हैं । ऐसे जीवन से लाभ क्या जिसके रहते माँ के दर्शन प्राप्त नहीं हों ? खड्ग को अपने गले पर रखकर उन्होंने माँ को चेतावनी दी : 'यदि दर्शन न दोगी, माँ, तो मैं इसी तलवार से अपना कण्ठच्छेद कर लूँगा ।'

चैतन्यघन महासत्ता के मूल में उस आर्त्त पुकार का आकर्षण हुआ । ज्योतिर्मयी देवी-रूप का धारण कर, आद्याशक्ति अपने भक्त की आँखों के सामने, देखते-देखते, सहसा आविर्भूत हुई । यही तो हैं गदाधर की चिन्मयी इष्ट देवी—यही तो हैं उनकी 'माँ' ! रामकृष्ण संज्ञाहीन होकर भूमि पर गिर पड़े ।

इस दिव्य दर्शन के बाद, दो दिनों तक उन्हें निरन्तर भावाविष्ट अवस्था में लीन देखा गया ।

कालान्तर में उसकाल की दिव्य अनुभूति की कहानी कहते-कहते ठाकुर बता गये हैं : "उस समय ऐसा लगा जैसे घर-द्वार, मन्दिर सब मिलकर एकाकार हो गये । कहीं कुछ नहीं, केवल एक, अखंड, अनन्त, ज्योति का पारावार ! जिधर जितनी दूर तक देखता हूँ, उधर से ही आ रही है प्रकाश की तरंग, मुझे अपने में समा लेने की खातिर ! अन्ततः, मैं उसमें एकबारगी डूबकर, जैसे निःशेष हो गया । बाद में, संज्ञाहीन अवस्था में मैं पड़ा पाया गया ।"

ज्योतिःसमुद्र में ठाकुर के पूर्णतः मग्न हो जाने के बाद, अनंत आलोक-पारावार के बीच, ब्रह्ममयी मातृमूर्त्ति का चिन्मय रूप आविर्भूत हुआ !

माँ के दर्शन से उल्लास-विह्वल होकर उस दिन, उच्च-स्वर में "माँ, माँ" पुकार कर, ठाकुर रो उठे थे । उनकी अन्तर-सत्ता को ओतप्रोत कर, एक व्यापक अपार्थिव आनन्द का ज्वार प्रवाहित हो गया । जगज्जननी के दिव्य प्रकाश और अलौकिक अनुभूति मे वे पूर्णतः अभिभूत हो गये ।

इष्टदेवी के अन्तर्धान होने के साथ-साथ शुरू हुई वियोग की पीड़ा । रामकृष्ण के लिए जीवन का भार ढोना अब कठिन हो गया ।

माँ के दर्शन की आकांक्षा को दबाकर रखना अब उनके वश की बात नहीं। उनका हृदय-भेदी क्रन्दन शुरू हो गया। वे अधीर होकर धरती पर लोटने लगते; अनुनयपूर्वक निवेदन करते—"कृपा करो माँ, मुझे दर्शन तो देती रहो!"

मन्दिर प्रांगण में वापस आने पर फिर यही आर्त-ध्वनि। कभी-कभी भगवद्-विरह से ठाकुर की उन्माद की अवस्था हो जाती। पत्थर पर सिर पटक कर चिल्ला पड़ते, "पाषाण-हृदया, क्या तू दर्शन नहीं देगी ?" ऐसी दशा में रक्त बहने लगता तथा चारों ओर लोगों की भीड़ जमा हो जाती।

उत्तर-काल में ठाकुर ने स्वयं ही कहा था कि उन दिनों असह्य यंत्रणा से संज्ञा-लोप होते ही माँ की वराभयहस्त एवं ज्योतिर्मयी मूर्त्ति का दर्शन उन्हें मिलने लगता। यह मूर्त्ति व्याकुल साधक को सांत्वना देती तथा साथ ही, अध्यात्म-पथ का निर्देश प्रदान करती। कभी कभी माँ तथा पुत्र के बीच अंतरंग विनोद भी चलता।

उन दिनों ठाकुर के साधन-जीवन में नाना दर्शन तथा अनुभूतियों की धारा प्रवाहित होती रहती। प्रबल वेग से किस तरफ दौड़ पड़े हैं, कौन समझने में सक्षम था ?

बीच-बीच में माँ को पुकार कर कह उठते, "माँ री, मुझे क्या हो रहा है, कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ! तुम्हारे आवाहन का मन्त्र-तंत्र भी तो मैं कुछ भी नहीं जानता। जो कुछ करने से तुझे सर्वदा के लिए पा जाऊँ, वह क्रिया, तू स्वयं ही सिखा दे। तेरे सिवा, मेरी सहायता करने वाला, तथा मेरी गति और कुछ भी नहीं है।"

ठाकुर, भक्ति एवं शरणागति के मूर्त्त विग्रह थे। अब उन्होंने माँ के चरणों में अपने को पूर्णतया समर्पित कर दिया है। वे स्वयं यंत्रमात्र हैं तथा जगज्जननी ही उनकी यंत्री हैं। माँ जिधर इंगित करती हैं, उसी ओर साधक-पुत्र की जीवन-धारा प्रवाहित होती रहती है।

पहले पूजा अथवा ध्यान के समय, ठाकुर, माँ की दिव्य मूर्त्ति देख पाते थे, परन्तु अब उनका निरंतर सान्निध्य-लाभ हो रहा है। प्रातः पुष्प-चयन करने जाते हैं, माला गूंथते हैं, उस समय माँ अपने दिव्य रूप में उनके सान्निध्य में रहती हैं। अविराम वार्त्तालाप चलता रहता है। दोनों का हास्य-आनन्द एवं रस-रंग सतत चलता रहता। पूजा-घर, मन्दिर-मंडप, वाटिका अथवा शुभ्र ज्योत्स्ना में, जहाँ भी वे जाते, आनन्दमयी भवतारिणी उनके साथ-साथ ही रहतीं।

'अरे, तू यह कर, वह न कर'—कहती माँ अपने प्रिय सन्तान को एक के बाद एक निर्देश देती रहतीं।

भवतारिणी को भोग निवेदित करने हेतु, ठाकुर बैठते। यह कैसा आश्चर्य! देवी के नेत्रों से दिव्य-ज्योति की रश्मि निर्गत होकर भोगान्न के ऊपर पड़ रही है। फिर देवी उन्हें स्वतः समेट लेतीं। पाषाणी प्रतिमा मानो जीवन्त एवं सचला है। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि ठाकुर ने भोग निवेदित करना समाप्त नहीं किया, परन्तु माँ भवतारिणी के लिए रुक पाना सह्य नहीं हो पा रहा है, और मन्दिर-गर्भ को ज्योति से आलोकित करती हुई वे जल्दी से भोजन पर बैठ गयी हैं।

ठाकुर महा विपत्ति में फँस गये हैं। व्याकुल होकर माँ से कहते हैं, "ठहर, ठहर, पहले मंत्र तो बोल लूँ, उसके बाद खाना।"

मृण्मयी देवी, मात्र चिन्मयी ही नहीं वरन् लीलामयी भी हो उठी हैं। मन्दिर-कक्ष में वे अपने हास्योल्लासमयी रूप में सदैव विराजमान हैं।

इन दिनों के कथा-प्रसंग के विषय में श्री रामकृष्ण कहते, "नाक पर हाथ रखकर मैंने देखा था, माँ सचमुच सांस ले रही हैं। मन्दिर की दीवारों पर चिन्मयी की कोई छाया भी नहीं पड़ती! अपने घर में बैठे हुए मैंने स्वयं सुना है कि माँ, पायल पहने हुए, आनन्दमयी एक छोटी लड़की जैसे, छमछम करती हुई, मन्दिर की ऊपरी मंजिल पर चढ़ती जा रही हैं।"

कभी-कभी वे देखते कि माँ, जगन्माता के जीवन्त रूप में, मन्दिर के दुमंजिले पर खड़ी, गंगा की शोभा देख रही हैं।

इष्टदेवी के साथ एकात्मता क्रमशः बढ़ती ही जा रही है। साथ-साथ, ठाकुर के वैधी भक्ति का बन्धन भी दिनों दिन शिथिल होता जा रहा है। इसी कारण, आजकल, पूजा एवं भोग-राग का नियम-कानून मान कर चल पाना संभव नहीं हो पा रहा है। पगले बाभन की यह अद्भुत एवं विपरीत चाल-ढ़ाल देखकर, मन्दिर के अन्य कर्मचारीगण घबरा गये।

कभी, जवा-बिल्वपत्र का अर्घ्य उठाकर, ठाकुर अपने माथे पर ही रख लेते। फिर भावावेश में कभी सीने पर डाल देते तथा पाँवों पर भी डाल देते! मात्र इतना ही नहीं, इन्हीं पुष्प-दलों को फिर उठाकर भवतारिणी के पाद-पद्मों में अंजलि देते।

कभी-कभी, भावावेश में दोनों नेत्र तथा वक्षस्थल भी रक्तवर्ण हो उठते। इस प्रेमोन्मत्त अवस्था में अनायास पूजा का आसन छोड़ कर उठ जाते। उसके बाद, अनायास, देवी के सिंहासन के ऊपर सहज रुप से अपने पैर रख देते, तथा स्नेह-पूर्वक, देवी के चिबुक तथा कपोलों का स्पर्श करके उन्हें दुलार करते। कभी, यह भी दृष्टिगोचर होता कि वे विग्रह का हाथ पकड़ कर उल्लास से नृत्य कर रहे हैं।

निवेदित अन्य व्यंजनों की थाल अपने हाथों में उठाकर, ठाकुर भवतारिणी को अपने हाथों से खिलाने लगते। यह एक अपरुप दृश्य होता। गद्गद् स्वर में, कभी-कभी, ठाकुर को यह भी कहते सुना जाता, "माँ, मुझसे क्या कहती हो! मैं खाऊँ? अच्छा, अच्छा, लो मैं खा रहा हूँ।"

भोगान्न स्वयं खाकर कभी-कभी उच्छिष्ट अन्न का अंश माँ के मुँह में पोत दे रहे हैं, कुछ भी होश नहीं है।

संचालकों के पास शिकायत गयी कि देवी का भोग-राग, कुछ भी, ठीक से नहीं दिया जा रहा है। उन्मादी पुरोहित, सभी काम उल्टा-पल्टा कर रहे हैं।

इस पर एस्टेट के कर्त्ता, रानी के जामाता, मथुर बाबू स्वयं ही आये। छिपकर, अपनी आँखों से उन्होंने सब कुछ देखा। भावावेग में उनके आँखों से अश्रुपात हो गया। सोचने लगे, इस तरुण पुरोहित की यह कैसी अद्भुत प्रेम-भक्ति? अगर ऐसी व्याकुलता, ऐसी भक्ति से भी मंदिर का देवी विग्रह जाग्रत नहीं होगा तो और कैसे होगा?

रानी रासमणि एवं मथुर बाबू दोनों को ही यह स्पष्ट हो गया कि अजस्र पुण्य के फलस्वरूप ही उन्हें ऐसा पुजारी मिल सका है।

आदेश मिला कि गदाधर भट्टाचार्य अपनी इच्छानुसार, माँ भवतारिणी की पूजा करेंगे। उनके कार्य, आचरण एवं चाल-ढाल में कोई भी कभी, बाधा नहीं डाले।

संचालकों ने यह भी समझ लिया कि ठाकुर के लिए इन दिनों, विधान-पूर्वक आराधना कर पाना संभव नहीं है। आनुष्ठानिक कार्यों का भार अब उनके ऊपर रखना संभव नहीं होगा। आज से, इसका दायित्व किसी अन्य व्यक्ति के ऊपर डालना होगा।

मथुरानाथ, रानी के जामाता हैं तथा उनके समस्त कार्यों का संपादन करने वाले हैं। शुरू से ही मथुर बाबू का, ठाकुर के प्रति, एक अद्भुत आकर्षण था।

बहुत पहले की बात है मंदिर के पुरोहित की असावधानी से गोविन्दजी के विग्रह का एक पैर टूट गया। सभी भयभीत हो गये, और उन्हें क्या करना उचित है, यह समझ नहीं पा रहे थे। रानी रासमणि तथा मथुर बाबू ने पंडितों के साथ बहुत विचार-विमर्श किया। सभी का यही मत रहा—इस विग्रह को विसर्जित करके नये विग्रह की प्रतिष्ठा की जाय। कारण, भग्न मूर्त्ति की पूजा शुद्ध नहीं हो सकेगी।

मथुरानाथ को शुद्ध-सात्विक साधक, छोटे भट्टाचार्य का स्मरण हो आया। परामर्श के लिए उन्होंने, उनको भी बुलवा भेजा।

ठाकुर की सहजात प्रज्ञा ने उस दिन अनायास ही समस्या का समाधान ढूढ़ निकाला। वे कह उठे, "इस विग्रह को फेंक दोगे! यह कैसी बात है! अच्छा, अगर रानी के जामाताओं में से अनायास किसी का पैर टूट जाय तो क्या करोगे, कहो तो? उसे गंगा-प्रवाह कर देने पर, क्या एक और जामाता लाना संभव हो सकेगा? उसकी तो चिकित्सा आरम्भ करोगे। गोविन्दजी के टूटे पैर में जोड़ लगवा दो, सब ठीक हो जायगा।"

जितनी ही सरल बात थी, उतनी ही थी अकाट्य युक्ति। प्रसिद्ध पंडितों के विधान को अग्राह्य करके, रानी तथा मथुर बाबू ने यही परामर्श मान लिया।

श्रीरामकृष्ण प्रायः ही माँ के ध्यान में विभोर एवं भावतन्मय रहा करते। एक बार, इसके लिए वे बड़ी विपत्ति में पड़ गये थे। रानी रासमणि, दर्शन के लिए आयी हुई थीं। ठाकुर के भावपूर्ण गान उन्हें बहुत प्रिय थे, अतएव उन्होंने उनसे गाने के लिए कहा।

ठाकुर ने उसी समय, परमानन्दपूर्वक मातृसंगीत गाना आरम्भ किया। परन्तु रानी इसे देर तक ध्यान देकर नहीं सुन पायीं। एस्टेट का एक जटिल मुकदमा उन दिनों चल रहा था, उसी के सम्बन्ध में वे कोई बात सोचने लगीं। अन्तर्यामी ठाकुर विरक्त हो गये। रोषपूर्ण स्वर मे उन्होंने कहा, "यहाँ भी वह सब चिन्ता!" और साथ ही साथ रानी रासमणि के गाल पर एक तमाचा मार दिया।

सर्वनाश! गदाधर भट्टाचार्य क्या पागल हो गया है! मंदिर के कर्मचारी-गण मारने के लिए दौड़ पड़े।

रानी की अंगुलियों के संकेत से सभी अपने अपने स्थान को लौट पड़े। रानी को ज्ञात हो गया, कि शुद्धाचारी साधक ने उनके विषयी मन के चितातरंग को पकड़ लिया है। ठीक ही तो है! काली के घर में बैठकर काली का गान

सुन रही हैं, यहाँ विषय की बात सोचना, उनके लिए सर्वथा अनुचित था। यह उनके लिए ही लज्जा की बात है।

मथुरानाथ, आधुनिक शिक्षा में शिक्षित, विचारशील एवं संशयी मनुष्य थे। परन्तु ठाकुर के सान्निध्य में आने के पश्चात् से ही उनके जीवन में एक अपूर्व परिवर्त्तन का समारंभ हुआ। मात्र ठाकुर को रसद भिजवाने का कार्य ही नहीं, वरन् दीर्घ काल तक उन्होंने एकान्त निष्ठा से ठाकुर की सेवा की थी। भक्तवत्सल ठाकुर के प्रथम भक्त मथुरानाथ ही थे। वे तथा उनकी पत्नी, ठाकुर को 'बाबा' कहकर ही संबोधित करते, और इस खामखयाली बाबा के समस्त हठ एवं अत्याचार हँसते हुए सहन करते। बाबा की किसी इच्छा-पूर्त्ति का अवसर मिलते ही उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती। विषयानुरागी, मथुरानाथ इन विषय-वैरागी के साथ एक अहैतुकी ममत्व के बन्धन से आबद्ध थे।

मथुर की सेवा तथा भक्ति का उल्लेख करते हुए, उत्तर काल में रामकृष्ण कहा करते, "मथुर ने जो चौदह वर्षों तक सेवा की थी, वह क्या यूँ ही की थी ?' माँ ने उसे, इस शरीर के माध्यम से, अनेक अद्भुत बातें दिखला दी थीं। इसी कारण, वह इतनी सेवा कर पाया था।"

बहुत दिन पहले की बात, भावाविष्ट अवस्था में ठाकुर बरामदे में टहल रहे हैं। सहसा उनके ऊपर दृष्टि पड़ते ही मथुरानाथ चौंक पड़े। बाबा के अन्दर वे आज यह क्या देख रहे हैं ? उनके मध्य तो भवतारिणी एवं महादेव की मूर्त्ति का आविर्भाव हो गया है ! यह कैसा विस्मय है ! मथुर, बार बार आँखें मल कर देखते हैं, परन्तु वही अलौकिक दृश्य उन्हें हर बार दृष्टिगोचर होता है। उनका वक्षस्थल अश्रुजल से भींगता जा रहा है। दौड़ते हुए, जाकर वे ठाकुर के चरणों मे लोट पड़े।

मात्र ठाकुर और उनके भक्तमण्डली की सेवा ही नहीं, वरन् ठाकुर के चारों ओर के समस्त परिवेश को, मथुरानाथ ने, उनकी साधना के अनुकूल बना डाला था। परमहंस देव कहा करते, माँ से मैंने कहा था, कि इस देह की किस तरह रक्षा होगी तथा साधु-भक्तों के लिए क्या-कुछ कर पाऊँगा ? इसीलिए तो संझले बाबू ने चौदह वर्षों तक सेवा की।"

मथुर के साथ, ठाकुर, तीर्थभ्रमण के लिए निकले हैं और वैद्यनाथ धाम में आकर उपस्थित हैं। यहाँ के कंगालों का दुःख दारिद्र्य देख कर ठाकुर का हृदय विगलित हो उठा। मथुर को पकड़ा, "इन सभी दीन-दुखियों को खिलाना होगा, तथा सभी को वस्त्र प्रदान करने होंगे।"

मथुर महाविपत्ति में फँस गये। दूर तीर्थ में आये हुए हैं। जहाँ-तहाँ, इस तरह पैसा लुटाने से काम कैसे चलेगा? परन्तु जितना भी वे समझाने का प्रयास करते, ठाकुर रूठते जाते। उत्तेजित स्वर मे उन्होंने कहा, "तुम तो हो माँ के दीवान, फिर इन्हें दोगे क्यों नहीं!"

अंततः क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा, "जाओ! तुम्हारे साथ मैं काशी नहीं जाऊँगा, मैं इन्हीं के पास रुकूँगा! इन्हें देखने वाला कौन है?"

मथुर को हार माननी ही पड़ी।

एक बार मथुर के साथ ठाकुर का तर्क हो रहा था। मथुर कह रहे थे, "ईश्वर ने कानून अवश्य बनाया है, परन्तु उन्हें भी अपना स्वनिर्मित विधान मानकर ही चलना पड़ता है।"

ठाकुर ने उत्तर दिया, "यह कैसी बात! यह उनका ही कानून है, जिसे वे जब कभी चाहें रद कर सकते हैं।"

युक्तिवादी मथुर, यह बात मानने को तैयार नहीं थे। कहा, "यह किस तरह हो सकता है, बाबा? लाल फूल वाले पेड़ पर तो लाल फूल ही लगते हैं। वहाँ सफेद फूल, होंगे किस तरह?"

दूसरे ही दिन उनके इस तर्क का समाधान हो गया। प्रातः ही ठाकुर ने बगीचे में जाकर देखा—महान आश्चर्य! एक लाल उड़हुल के पेड़ पर श्वेत फूल भी खिला हुआ है—एक ही डाल पर दो रंगों के फूल! वे तुरत दौड़ कर मथुर को पकड़ लाये, और यह विस्मयजनक व्यतिक्रम उन्हें दिखला दिया। मथुर को हार माननी ही पड़ी।

उन दिनों केवल मथुरानाथ ही ठाकुर के घनिष्टतम सहचर थे। बाल-स्वभाव वाले ठाकुर बीच-बीच में उन्हें पुकार कर कहते, "देखो, माँ ने मुझे दिखला दिया है, यहाँ पर ढेर सारे अंतरंग भक्त हैं। वे सभी आवेंगे और यहीं से ईश्वर का लाभ करेंगे। माँ इस काया के माध्यम से अनेक खेल खेलेगी। अनेक लोगों का कल्याण करेगी। इसीलिए, इसे अब तक रख छोड़ा है, तोड़ नहीं डाला। तुम क्या कहते हो, क्या यह सब गलत है?"

मथुर आश्वासन देते, 'नहीं बाबा, अब तक माँ ने तुम्हें कोई गलत बात नहीं दिखलाई, फिर यह कैसे गलत हो सकती है? निश्चित रूप में वे सब आवेंगे। परन्तु बाबा, वे सब देरी क्यों कर रहे हैं? जल्दी ही आवें न, जिससे मैं भी उनके साथ आनन्द कर सकूँ!

फिर जब भक्तों के न जुटने पर ठाकुर कभी-कभी निराश हो उठते, तो मथुर उन्हें उत्साहित करते हुए कहा करते, "इससे क्या हुआ, बाबा ? मैं अकेला ही तुम्हारे एक सौ भक्तों के बराबर हूँ ।"

बालस्वभाव ठाकुर, खिन्न मन से उत्तर देते, "क्या बताऊँ बाबू, वे अवश्य आवेंगे, माँ ने जो मुझे दिखला दिया था !"

इन दिनों, ठाकुर के साधना-पथ में सूक्ष्म लोक से भी कम सहायता नहीं मिल रही थी । उत्तर काल में, उन्होने स्वयं ही वर्णन किया है,—"देखने में मेरे जैसी ही एक युवक-संन्यासी-मूर्त्ति यदा-कदा मेरे शरीर से ही बाहर आती, तथा सभी विषयों में मुझे उपदेश देती । उसके इस तरह बाहर आने पर कभी मेरा सामान्य वाह्यज्ञान रहता, और कभी मैं जड़वत् पड़ा हुआ उसकी सारी चेष्टाएँ देख पाता तथा उसकी बातें सुन पाता ।"

इन दिनों की उन्मत्तावस्था के अनेक तथ्य, ठाकुर की बातों से कुछ अंश में प्रकट होते हैं—"इसके एक चौथाई विकार उपस्थित होने पर साधारण साधक का शरीरपात हो जाता है । परन्तु मैं दिन-रात में अधिकांश समय माँ का किसी-न-किसी रूप में दर्शन पाकर भूला रहता, इसी से रक्षा हुई ! नहीं तो इस काया की रक्षा कर पाना असंभव होता । छः वर्षों की दीर्घ अवधि तक निद्रा नहीं आयी । चेष्टा करने पर भी पलक बन्द नहीं होते थे ।"

एक समय ठाकुर का यह दिव्योन्माद भाव काफी बढ़ गया था । वायु की गति उर्ध्व, सीना रक्तवर्ण, माथे के केश रूखे तथा जटा-सी हो गयी थी । पहनने के कपड़ों का भी होश नहीं । दिन-रात वे मातृ-भावना के ही उन्माद में रहते । समस्त देह-मन में एक तूफान जैसा मतवालापन ।

वैष्णव-पंडित कृष्णकिशोर ने एक दिन ठाकुर से प्रश्न किया कि उन्होंने अपना यज्ञोपवीत क्यों छोड़ दिया है ?

ठाकुर ने जवाब दिया, "मेरी जब ऐसी अवस्था हुई, तब आश्विन की झंझा सदृश्य, पता नहीं क्या आया, और सब उड़ा ले गया । कोई पुराने चिह्न नहीं रह गये । कोई होश नहीं, कपड़ों की भी चिन्ता नहीं, फिर जनेऊ किस तरह रह पायगा ? तुम्हें दिव्योन्माद होगा, तभी तुम समझ सकोगे ।"

हलधारी, ठाकुर के आत्मीय हैं तथा मंदिर के विशिष्ट पुरोहित । एक ज्ञानमार्गीय ग्रन्थ पढ़कर, एक दिन उन्होंने ठाकुर को समझाया--ईश्वर वास्तविक रूप में भावातीत हैं, उनके नाम-रूपादि उपाधि वर्जित हैं ।

भाव-भक्ति इत्यादि की सहायता से उनके सम्बन्ध में जो कुछ अनुभूतियाँ होती हैं, सभी मिथ्या हैं।

ये बातें सुनकर ठाकुर, बालकों-जैसे अत्यन्त व्याकुल हो उठे। सोचने लगे 'फिर भावावेश में जो कुछ ईश्वरीय रूप देखा है या सुना है, क्या सभी मिथ्या हैं।'

माँ भवतारिणी के पास रोते हुए उन्होंने कहा, "माँ री, निरक्षर मूर्ख समझ कर क्या इस तरह छलना उचित था ?"

अनवरत रोते ही जा रहे हैं। अकस्मात् सामने से कुहासे के धुएँ जैसा पर्दा-सा उठने लगा। इसके भीतर से एक दिव्य पुरुष का आविर्भाव हुआ। ठाकुर को सांत्वना देते हुए उन्होंने कहा, 'अरे, तू भाव-मुखी रह, भाव-मुखी रह।'

जिस तरह आकस्मिक रूप से यह अलौकिक मूर्त्ति आविर्भूत हुई थी, उसी तरह अंतर्हित हो गयी।

ठाकुर दिव्योन्मादग्रस्त हैं। उनके सम्बन्ध में अनेक तरह की बातें फैलती हुई, जननी चन्द्रमणि के पास पहुँचती रहतीं। क्या गदाधर सचमुच पागल हो गया है ? उनके उत्कंठा की कोई सीमा नहीं है।

जननी को शान्त करना आवश्यक है। इसीलिए, ठाकुर कामारपुकुर चले आये। इस अवधि में वे स्वयं भी थोड़ा संयत हो चुके हैं। पहले-जैसा उन्माद, भावावेश और वैसी चंचलता अब नहीं है। गाँव में आकर, मन की मौज में घूम-फिर रहे हैं। कभी-कभी भूति का खाल और बुधई मोड़ल के श्मशान में जाकर ध्यानस्थ हो जाते हैं।

माता आश्वस्त हो गयीं। पुत्र के वायु-रोग में कुछ कमी अवश्य हुई है। अब उनके विवाह के लिए व्यग्र हो उठीं। अंतर में यही आशा थी कि विवाह के फलस्वरूप, संभव है, गृहस्थी के प्रति थोड़ा मोह हो जाय।

काफी चेष्टा होती रही, किन्तु पात्री कहाँ है ? शीघ्र ही यह दृष्टिगोचर हुआ कि भावी जीवन-संगिनी का पता ठाकुर के लिए अज्ञात नहीं है।

माता को बुला कर, मुस्कुराते हुए, पात्री का संधान उन्होंने स्वयं ही दिया। कहा, "यहाँ-वहाँ दौड़ने से क्या होगा ? जयरामवाटी के राममुखुज्जे के घर खोज कर देखो। वहीं व्याह योग्य कन्या मिलेगी।"

सचमुच कन्या का पता वहीं मिला। बालिका वधू सारदामणि को माँ सानन्द वरण कर घर ले आयीं। वधू की अवस्था उस समय पाँच वर्ष तथा ठाकुर की अवस्था तेईस वर्ष की थी।

कलकत्ता वापस आने के बाद ही फिर उनके दिव्योन्माद की अवस्था दृष्टि-गोचर होने लगी। रात-दिन जगन्माता के भाव में विभोर रहते। बहिरंग जीवन से जैसे उनका कोई प्रयोजन ही न हो। भावाविष्ट शरीर में महावायु की केवल उर्ध्व-गति ही रहती। वक्ष-सदा रक्तवर्ण तथा नेत्र निष्पलक एवं निद्रा का लेशमात्र भी चिह्न नहीं। तीव्र गात्र-दाह के कारण प्रायः सर्वदा अस्थिर रहते हैं। कोई भी सांसारिक प्रसंग उनके लिए विषतुल्य हो चुके हैं। शहर के विख्यात कविराजों का दल, इस व्याधि के स्वरूप को नहीं समझ पाया। सबने हार मान ली। कोई कहता—यह तो साधारण व्याधि नहीं है, योगज व्याधि है। इसे ठीक कर पाना अत्यन्त कठिन है।

१८६१ ई० का अन्त। गंगातीर के छोटे बगीचे में ठाकुर पुष्प चयन कर रहे हैं। सहसा देखा, वकुल के नीचे वाले घाट पर एक नौका आकर लगी। भीतर से एक भैरवी निकलीं। उनकी अवस्था चालीस से अधिक नहीं होगी। गैरिक वस्त्रों का ही परिधान है तथा लम्बी केश-राशि। सुन्दर गठे हुए शरीर की आभा छलक पड़ती है।

ठाकुर, जल्दी-जल्दी, अपने कमरे में लौट आये। भांजे हृदय को पुकार कर कहा, "हाँ रे हृदे, जल्दी जा तो, इस भैरवी को यहाँ बुला लाओ।"

हृदय तो अवाक् है। साधिका स्त्री, बिलकुल ही अपरिचित हैं। उसके बलाने पर वह आना ही क्यों चाहेगी ?

ठाकुर ने मुस्कुराते हुए कह डाला, "अरे जा न। मेरा नाम लेकर कहना वह जरूर आयेगी।"

ठाकुर को देखते ही, भैरवी के विस्मय और आनन्द की सीमा नहीं रही। दोनों नेत्र, पुलकाश्रुओं से भर उठे। कह उठीं, "बाबा, तुम यहाँ हो ? तुम गंगा-तट पर हो, इतना जानकर मैं तुम्हारे खोज में भटक रही हूँ। इतने दिनों बाद तुमसे साक्षात्कार हुआ।"

भैरवी तथा ठाकुर, एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित थे। एक दूसरे का नाम भी नहीं सुना था। किन्तु किस सूक्ष्म योग-सूत्र से दोनों ने एक दूसरे को खोज लिया, कौन जाने ?

भैरवी मानो ठाकुर की एक नई अभिभाविका ही हो गयीं ! ठाकुर भी एक बालक-विशेष हो गये हैं। अपने नाना अभिज्ञताओं की बातें कहते रहते। उन दिनों दिव्योन्माद की दशा चल रही थी। कब इस दशा से मुक्ति मिलेगी,

कौन जाने ? व्याकुल-स्वर में उन्होंने प्रश्न किया, "हाँ री, क्या मैं पागल हो गया हूँ ! मुझे यह सब क्या होता है ?"

भैरवी उत्तर देतीं, "तुम्हें पागल कौन कहता है, बाबा ? तुम्हें तो महाभाव हो गया है ! राधारानी, चैतन्यदेव– इन लोगों को जो हुआ था । मैं शास्त्रों से, सभी के सामने, इसका प्रमाण दूँगी ।"

भक्ति-शास्त्र एवं तंत्र-ग्रन्थों से, भैरवी ठाकुर को नाना तथ्य एवं प्रमाण पढ़कर सुनाती और उन्हें आश्वस्त करतीं ।

बातचीत के दौरान, उस दिन काफी समय व्यतीत हो गया था । भैरवी के इष्ट, रघुवीर चक्र को अभी तक भोग नहीं लग पाया था । मंदिर से भिक्षा लेकर वे पंचवटी में पकाने के लिए बैठीं ।

भोग निवेदन करते समय वे ध्यान में बैठी हैं, दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह रही है तथा बाह्यज्ञान शून्य हैं ।

इसी समय सहसा, ठाकुर एक अद्भुत काण्ड कर बैठे । पता नहीं, किस अलौकिक आकर्षण से, वे उस समय पञ्चवटी में आकर उपस्थित हो गये । भावावेश से वे उद्वेलित हैं । भैरवी द्वारा, इष्ट को निवेदित किया अन्न, कब वे स्वयं ग्रहण करने बैठ गये, इसका उन्हें होश नहीं ।

स्वाभाविक ज्ञान होने पर ठाकुर के लज्जा की कोई सीमा नहीं थी । कहने लगे, "यही तो ! पता नहीं क्यों, इतना अज्ञान होकर यह काम कर डाला ।"

भैरवी ने उनको सांत्वना देते हुए कहा, "बाबा, यह कार्य तुमने तो किया नहीं ! जो तुम्हारे अंतर में विराजमान हैं, उन्होंने ही यह किया है । ध्यान में जिन्हें देखा था, उन्हीं का यह कार्य है । ऐसा क्यों हुआ, वह भी मैं समझ पा रही हूँ । अब मुझे पूजा की आवश्यकता नहीं है, अबकी बार पूजा सार्थक हो चुकी है ।"

उस दिन का भोग-प्रसाद ग्रहण करने के पश्चात् भैरवी ने अपने दीर्घ दिनों से पूजित रघुवीर-चक्र को गंगा में विसर्जित कर दिया ।

ठाकुर का दिव्य भाव देखकर एवं उनकी अलौकिक अनुभूतियों की बात सुनकर, भैरवी के विस्मय की सीमा नहीं थी । नाना देह-लक्षणों को मिलाकर वे चमत्कृत हो जातीं । भैरवी का शास्त्रों पर असामान्य अधिकार था तथा साध्य-साधन के तत्त्व से भी वे सुपरिचित थीं । हर दृष्टि से विचार करने के उपरान्त वे इस तरुण-साधक की चरम साधनावस्था का ही समर्थन पा रही हैं ।

उनका दृढ़ विश्वास हो चला है, कि ठाकुर का यह आविर्भाव जीवों के उद्धार के हेतु ही है। इसके अलावा, उनकी यह उन्मत्तता, दिव्योन्मत्तता के सिवा और कुछ नहीं है। उनके शरीर में महाभाव का प्रकाश घटित हो गया है। इन तथ्यों में व्यक्तिगत विश्वास करके वे चुप नहीं बैठीं, वरन् आसपास सभी से उन्होंने इसका प्रचार करना भी नहीं छोड़ा।

एक दिन उत्साहपूर्वक घोषणा करते हुए उन्होंने कहा, "रामकृष्ण अवतार हैं—इस बार निताई की काया में, चैतन्य का अवतरण हुआ है!"

भैरवी, यह सब क्या कह रही हैं? काली-बाड़ी में एक सनसनी की लहर दौड़ गयी। इस उद्घाटन से सभी की श्रद्धापूर्ण दृष्टि, दक्षिणेश्वर के, इस उन्माद-ग्रस्त ब्राह्मण की ओर उन्मुख हुई।

भैरवी अपने पक्ष की पूर्ण स्थापना करना चाहती थीं, इसलिए उन्होंने शास्त्रज्ञ पंडितों का आह्वान करने को कहा। ठाकुर का कौतूहल तो बालक सदृश था। वे मथुर को सरल मन से अनुरोध करने लगे, "बामनी, इतनी सारी बातें जोर देकर कह रही है, इसलिए, इस पर विचार-विमर्श करने के लिए, सभी को बुलाओ न, बाबू।"

वीरभूम में विख्यात तांत्रिक साधक गौरीपंडित का निवास था। मथुरानाथ ने सर्वप्रथम उन्हीं को बुलवा भेजा। इन पंडित महोदय के सिद्धाई की बहुत प्रसिद्धि थी। दक्षिणेश्वर निवास काल में ठाकुर रामकृष्ण ने, इसे स्वय अपनी आँखों से देखा था।

गौरी पंडित, एक विचित्र तरह का होम करते। बाएँ हाथ को ऊपर उठा कर, हथेली के ऊपर लगभग एक मन यज्ञ-काष्ठ सजा देते। उसके बाद, उसी में, अग्नि प्रज्वलित करते। इस अद्भुत भंगी में दीर्घ अवधि तक उनका क्रियानुष्ठान चलता। विस्मय की बात यह थी कि उनके हथेली को कोई क्षति नहीं पहुँचती।

गौरीपडित के अंदर एक और भी सिद्धाई थी। वह थी, प्रतिपक्ष को परास्त करने की एक विशेष प्रक्रिया। इस सिद्धई को लेकर ठाकुर के साथ गौरीपडित का संघर्ष हुआ तथा पंडित परास्त हुए।

दक्षिणेश्वर के प्रांगण में पहुँचते ही, गौरीपंडित, उच्च स्वर में एक तांत्रिक स्वर ध्वनित करने लगे। हा-रे-रे-रे निरालम्बो लम्बोदर जननी ताम् यामि शरणं—इत्यादि मंत्र, वे गम्भीर-स्वर में बोलने लगे।

उनके मुँह से ये सब उच्चरित होने के साथ-साथ किसी भी शक्तिमान साधक की शक्ति विनष्ट हो जाती, और पंडित अनायास ही प्रतिपक्ष को परास्त कर देते।

उस दिन गौरीपंडित के चीत्कार के साथ ही साथ ठाकुर भी एक अद्‌भुत काण्ड कर बैठे। पता नहीं क्यों, अनायास ही उनके मुख से और भी ऊँचे स्वर में ध्वनि होने लगा—'हा-रे-रे··· ।'

चारों ओर एक भयानक कोलाहल-सा उपस्थित हो गया। लगातार, इस तरह रे-रे शब्द क्यों? क्या मंदिर में डकैत घुस आये हैं? भवतारिणी के गहनों की लालच में क्या उन्होंने दल-बल सहित आक्रमण किया है? सभी दरवान, लाठी-डन्डा हाथ में लेकर दौड़ते हुए आये। क्षण भर में ही असल मामला समझ में आया और साथ-ही-साथ मंदिर में हँसी का फव्वारा फूट पड़ा।

गौरीपंडित की सारी शक्ति तथा सारी सिद्धाई को पता नहीं किसने एकबारगी निकाल फेंका है! हतवीर्य एवं विषन्न मन लिए, वे धीरे-धीरे काली-मंदिर की ओर चले गये।

उत्तर काल में, ठाकुर, भक्तों से इस संदर्भ में कहा करते, "इसके बाद, माँ ने मुझे बतला दिया कि गौरी जिस शक्ति या सिद्धाई के माध्यम से लोगों का बल हरण करके, अजेय रहता था, वही शक्ति यहाँ, इस तरह से पराजित हो गयी। इसके उपरान्त उसकी सिद्धाई निःशेष हो गयी। माँ ने, उसके कल्याण हेतु ही, उसकी सारी शक्ति मेरी इस काया के भीतर खींच डाला।"

इसके बाद कई दिनों तक गौरीपंडित ने दक्षिणेश्वर में ही निवास किया। ठाकुर के दिव्य-भाव का प्रत्यक्ष करके वे मोहित भी हुए तथा भक्तिपूर्वक ठाकुर के समक्ष उन्होंने आत्मसमर्पण भी किया।

मथुर की ठाकुर के प्रति श्रद्धा, यों ही असीम थी, इसके अलावा, भैरवी द्वारा उनकी दिव्यता का प्रमाण उपस्थित करने के उपक्रम ने उनका उत्साह और भी बढ़ा दिया। उन्होंने शास्त्रज्ञ पंडितों की एक सभा का आह्वान किया।

वैष्णवचरण उन दिनों कलकत्ते के चैतन्य-सभा के सभापति थे, तथा तत्कालीन वैष्णव आचार्यों के मध्य उनकी ख्याति यथेष्ट थी। वे भी, सदल-बल, दक्षिणेश्वर में उपस्थित हुए।

सभा आरम्भ होने में विलम्ब नहीं है। ठाकुर भवतारिणी को प्रणाम करने गये हुए हैं। प्रणाम के साथ-ही-साथ उनके शरीर में दिव्य आनन्द-रस का ज्वार उफन पड़ा। महाभाव से वे मत्त हो उठे।

मंदिर-द्वार पर आते ही, ठाकुर, सहसा ठिठक गये। अपूर्व भावनिष्ठ मूर्त्ति! चेहरे पर स्वर्गीय ज्योति की छटा है। इस मूर्त्ति का दर्शन करते ही वैष्णवचरण अभिभूत हो उठे। वे ठाकुर के चरणों में गिर कर बार-बार आर्त्तनाद करने लगे।

प्रेमोन्मत्त होकर, ठाकुर, वैष्णवचरण के कंधों पर बैठ गये। पंडित तो आनंद से मतवाले तथा कृत-कृत्य हो उठे। अत्यन्त उत्साह से वे ठाकुर की स्तव-गाथा गाने लगे। गौरीपंडित, मथुरानाथ इत्यादि नीरव इस नाटकीय दृश्य का अवलोकन कर रहे हैं।

सभा में तर्क वितर्क एवं मीमांसा, पहले जैसी ही, समाप्त हुई। समवेत पंडित एवं दर्शकों के समक्ष, उस दिन, भैरवी ने अपने असामान्य शास्त्र ज्ञान का प्रदर्शन किया।

ठाकुर के नाना लक्षण एवं शास्त्रों के प्रमाण देकर उस समय आलोचना चल रही है। गौरी पंडित, वैष्णवचरण एवं अन्यान्य आचार्यगण अत्यन्त उत्साह से तर्क-वितर्क में मत्त हैं। परन्तु जिनके संदर्भ में चर्चा चल रही है, वे सर्वथा निर्लिप्त बैठे हैं। सभी के बीच, ठाकुर, अर्धनग्न अवस्था में बैठे हुए हैं। बीच-बीच में बाल-सुलभ भंगी से इधर-उधर देख रहे हैं, कभी कौतुकपूर्वक अपने आप ही हँस पड़ते हैं। कभी सामने रख बटुये से सौंफ निकाल कर मुँह में भर लेते हैं।

पंडितों का वाक्युद्ध एवं उत्तेजना उन्हें स्पर्श नहीं कर रही है, मानो वे किसी दूसरे का प्रसंग सुनते जा रहे हैं।

कभी-कभी ठाकुर, तर्क-वितर्क में योगदान भी कर रहे हैं। उत्तेजित पंडितों का हाथ खींच कर, छोटे बालकों-जैसे हँसते हैं, कभी बोल उठते हैं, "नहीं भाई, नहीं भाई, ऐसा नहीं है—मेरे लक्षण इस तरह के नहीं हैं।"

भैरवी की बात वैष्णवचरण ने मान ली। स्थिर किया कि ठाकुर में वैष्णव-शास्त्रोक्त महाभाव संचारित हो गया है। ये महाभाव उन्नीस प्रकार के होते हैं। इनमें दो-चार के उपस्थित होने पर ही, जीव का शरीर विनष्ट हो जाता है। सभा की समाप्ति पर, उस दिन घोषणा हुई,— ठाकुर ईश्वरावतार हैं।

गौरी पंडित, पहले ही ठाकुर की महत्ता स्वीकार कर चुके थे, उन्होंने कोई तर्क-वितर्क नहीं किया।

वैष्णवचरण की घोषणा सुनकर मथुर एवं अन्यान्य सभी लोग तो विस्मय से हतवाक् हो गये। बालक-स्वभाव ठाकुर भी विस्मित एवं उत्फुल्ल हो उठे। मथुर को पुकार कर धीमे स्वर में कहा, "अरे ये सब क्या बोलते हैं ? जो भी हो बाबू, यह सुनकर मन प्रसन्न हो जाता है।"

अबतक मथुर, चुपचाप खड़े, सोच रहे थे कि उनका परम सौभाग्य है, जिससे इन देवकल्प महापुरुष की सेवा का भार उन्हें प्राप्त हुआ है तथा उनकी कृपा प्राप्त हुई है।

भैरवी ने स्थिर किया कि अबसे, शास्त्रोक्त विधि से, ठाकुर की साधना अग्रसर हो। प्रतिभामयी साधिका ने स्वयं ही उस भार को ग्रहण किया। इस तरह उन्हें ठाकुर की प्रथम लौकिक शिक्षा-गुरु होने का सौभाग्य मिला।

भैरवी की जीवन-धारा, नाना विचित्र साधन धाराओं का संगम है। उनके गले में सदैव, इष्टदेव रघुवीर का चक्र लटकता रहता है। तंत्र-शास्त्र पर उनका अद्भुत अधिकार है। इसके अलावा वैष्णवीय शास्त्र एवं साधना का उनका ज्ञान प्रचुर है।

ठाकुर रामकृष्ण ने शुद्धाभक्ति के माध्यम से सिद्धि-लाभ की है। अब भैरवी ने शक्ति-साधना की नवीनतम प्राणधारा का संचार उनके अंतर में कर डाला। चौंसठ तंत्रों की नाना प्रकार के दुरूह अनुष्ठान, उन्होंने ठाकुर के साथ एक-एक करके सम्पन्न करा डाले। उसके उपरान्त तंत्र-शास्त्र के अनुसार ठाकुर के पूर्णाभिषेक की क्रिया उद्यापित हुई। बेल तले एवं पंचवटी पर दो पंचमुण्डी आसन प्रस्तुत करा कर भैरवी ने गहन भाव से एक-एक दिन तंत्र-साधना के समस्त अनुष्ठान सम्पन्न करा डाले।

पूर्णाभिषेक अथवा तांत्रिक संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् ठाकुर से उन्होंने बहुत-सी तांत्रिक साधन-क्रियायें कराईं। इस कार्य हेतु, ठाकुर को माँ भव-तारिणी का आदेश भी मिल चुका है। इसलिए उनके उत्साह की सीमा नहीं है। इस साधन-काल में उन्हें बहुत-से दर्शन एवं अभिज्ञताएँ, एक के बाद एक होती रहीं।

तांत्रिक क्रिया में बहुत-से दुष्प्राप्य द्रव्यों की आवश्यकता पड़ती है। भैरवी नित्य ही दूर-दूर से इन सब वस्तुओं का संग्रह कर लातीं।

एक दिन शव के खप्पर में मछली पकाकर, ठाकुर ने, माँ जगदम्बा को भोग लगाया। स्वयं भी, उन्होंने, उस प्रसाद को ग्रहण किया। किन्तु, भैरवी ने जिस दिन उन्हें निवेदित नर-मांस ग्रहण करने को कहा, उस दिन ठाकुर

अपनी घृणा तथा संकोच व्यक्त करना रोक नहीं पाये। भैरवी ने सहज भाव से इस मांस का भोजन में प्रयोग किया। उसके बाद ठाकुर से दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा, "बाबा, अब तुम इस महा-मांस का प्रसाद मुँह में डालो।"

ठाकुर 'माँ-माँ' उच्चारण करते हुए बीच-बीच में हुँकार कर रहे हैं, और उनके अंतर में चंडिका का भाव उद्दीप्त हो उठा है। इस भावावेश के उपरान्त, उन्हें इस मांस को ग्रहण करने में कुण्ठा का बोध नहीं रहा।

एक अन्य दिन की बात। महानिशा की गंभीर रात्रि में एक विशेष तांत्रिक अनुष्ठान सम्पन्न होगा। पता नहीं कहाँ से, भैरवी एक पूर्णयौवना, रूपसी रमणी को दक्षिणेश्वर बुला लायी हैं। ठाकुर से कहा, "बाबा, इसकी देवी-भावना से आज तुम पूजा करो।"

पूजा समाप्त हो गयी। भैरवी ने इस नारी को निर्वसन कर डाला। ठाकुर को उन्होंने निर्देश दिया, "बाबा, अब तुम्हें इस स्त्री की गोद में बैठ कर जप-साधन करना होगा।"

जिस महासाधक के अंतर में नारीमात्र के लिए आजीवन मातृभाव रहा था, वे भी पहले आतंक से काँप उठे। परन्तु जो कृपामय के कृपा-सिद्ध हैं, उन्हें भय कैसा? जगज्जननी के स्मरण मात्र से ही ठाकुर मातृ-शक्ति से उद्बुद्ध हो उठे। दिव्य आवेश से पूर्ण, ये वीर साधक इस नग्न नारी के अंक में विराजमान हुए। बैठते ही ध्यान की धारा में वे इस तरह डूब गये कि कोई बाह्य ज्ञान अवशिष्ट नहीं रहा।

संज्ञा लौटने पर ठाकुर ने अपने नेत्र खोले। उस समय भैरवी उनसे कह रही थीं, "बाबा तुम्हारी क्रिया समाप्त हो गई है। बहुत कम साधक ही इस क्रिया में आत्म-संयम रख पाते हैं। सामान्यतः कुछ काल तक जप करके ही वे संयत हो पाते हैं। परन्तु तुम एकदम समस्त बोध का अतिक्रमण कर गये थे।"

तंत्र-साधन काल में रामकृष्ण के शरीर ने एक अपूर्व दिव्य श्रीधारण कर लिया था। उनके शरीर में एक दिव्य साधक की नयनाभिराम छवि प्रस्फुटित होने लगी थी। जिधर भी निकलते, लोग निर्निमेष दृष्टि से उन्हें देखते ही रह जाते। इसीलिए माँ के सामने बार-बार विनती करते, 'माँ, मेरे इस बाह्य रूप की कोई आवश्यकता नहीं, इसको वापस ले ले और मेरे अंतर को परिष्कृत कर दे।"

इस समय के तंत्रोक्त क्रिया-कलापों का फल प्रस्फुटित हो उठा। ठाकुर के साधन-जीवन में विभूतियों का ऐश्वर्य आ गया। बहुत-से अलौकिक दर्शन एवं अनुभूतियों का भी उन्होंने लाभ किया।

वे बराबर ही शुद्धा-भक्ति के एकनिष्ठ साधक थे, इसलिए इन विभूतियों के लिए उन्होंने कभी उत्सुकता नहीं दिखाई। इस सम्बन्ध में वे अधिक सजग भी नहीं हुए।

ठाकुर के सेवक, उनके भान्जे हृदयनाथ को काफी दुःख था— लोगों को साधना के फलस्वरूप कितना फल मिलता है, परन्तु यह क्या ! उनके मामा के जीवन में तो कोई चामत्कारिक सिद्धाई दिखलाई ही नहीं पड़ रही है ! इस सिद्धाई को वैषयिक उन्नति में भी तो लगाया जा सकता था !

एक दिन सीधे-सीधे वे पूछ ही उठे, "मामा, पंचवटी में कितने शक्तिमान साधु-संन्यासी आते हैं, तथा उनकी कैसी सिद्धाई है। वे धूल से भी सोना बना देते हैं, और भी बहुत कुछ करते हैं। तुमने तो इतने दिनों तक कितनी कठोर साधना की; परन्तु, मामा, तुम्हें तो कुछ हुआ ही नहीं !"

ठाकुर का स्वभाव बालकवत् है। भवतारिणी के पास दौड़ पड़े। पूछा, "माँ री हृदय क्या कहता है, क्या मुझे कुछ भी नहीं हुआ !"

जगज्जननी ने अंगुली के इशारे से दिखा दिया—विष्ठा का स्तूप। अर्थात् सिद्धाई, साधक के लिए, विष्ठा के जैसे घृण्य है।

मंदिर से वापस आकर, ठाकुर ने, हृदय से क्रुद्ध स्वर में कहा, "साले, तूने मुझे गलत समझाया था।"

इसके उपरान्त अष्टसिद्धियों एवं विभूतियों के ऊपर ठाकुर का घृणा का भाव स्थायी हो गया।

तंत्र सिद्ध होते समय ही, ठाकुर को दिव्य शक्तियों के माध्यम से भविष्यत् जीवन का इंगित मिल गया था। उन्होंने स्पष्ट रूप से समझ लिया था, कि दक्षिणेश्वर मंदिर में रहकर उन्हें युगाचार्य की भूमिका निभानी पड़ेगी, तथा शुद्ध-सत्व साधकगण, आश्रय हेतु उनके पास आवेंगे। उस उपलब्धि के साथ ही साथ, ठाकुर के जीवन में गुरुभाव की नवीनतर चेतना का उदय हुआ।

नैपथ्य से महानाट्यकार, रामकृष्ण के जीवन के नये-नये दृश्यों का उन्मोचन करते जा रहे हैं। तांत्रिक क्रियाओं के पूर्ण हो जाने के पश्चात्, एक पट-परिवर्त्तन घटित हो गया।

साधक, जटाधारी, दक्षिणेश्वर के बगीचे में अनायास ही पहुँच गये। वे वात्सल्य रस के एक सिद्ध-साधक हैं। नव-दुर्वादल श्याम बालक श्रीराम उनके उपास्य हैं। धातु से बने विग्रह 'रामलला', जटाधारी के समक्ष, मात्र अपने चिन्मय रूप का परिग्रह करके ही नहीं रहते, वरन् एक सहचर के रूप में

अपने प्रिय भक्त के साथ लीला-विहार करते। जटाधारी के पीछे-पीछे वे दौड़ते, रूठते, उपद्रव करते तथा वात्सल्य भाव में विभोर साधक सारी झंझटों का आनन्द-पूर्वक निपटारा करते।

पता नहीं क्यों, जटाधारी तथा उनके इष्ट विग्रह ठाकुर को आकर्षित करने लगे। प्रायः वे उनके पास आकर बैठने लगे। रामलला की नई-नई लीलाएँ तथा नटखटपना देखकर उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती।

शीघ्र ही रामलला-विग्रह, अनायास ठाकुर के प्रेम में पड़ गया। इतनी गंभीर भक्ति, निष्ठा से साधक जटाधारी, दिन-रात इतनी सेवा-सत्कार कर रहे हैं, परन्तु उस ओर उसका ध्यान ही नहीं है। अब वे एक नये लीलाभिनय से मत्त हो उठे हैं। अब उनका ठाकुर के लिए ही विशेष आग्रह है। ठाकुर के, जटाधारी के कमरे से निकलते ही, रामलला चिन्मयरूप में अनायास उनके घर में आकर उपस्थित हो जाते। हठीला, रोकने पर भी नहीं रुकता। ठाकुर की गोद में चढ़कर नाचता, दौड़ता तथा सारे उत्पात करता रहता।

इन दिनों की रामलला की लीला अत्यन्त मधुर थी। इन लीलाओं को ठाकुर ने जिस तरह व्यक्त किया है, उसके तात्पर्य एवं माधुर्य को पूर्णतया समझ पाना, साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। ठाकुर कहते, "एक दिन रामलला ने जि़द पकड़ ली। उसे वहलाने के लिए उसे चार शुद्ध खोई के लड्डू देने पड़े। उसके बाद देखा कि इस खोइ के खाने से उसकी नरम जीभ छिल गई है। उस समय वड़ा दुख हुआ। उसे गोद में बिठाकर जोर-जोर से रोने लगा। सोचने लगा कि जिस मुख में माँ कौशल्या जोर देकर खीर, माखन वगैरह डाला करतीं, मैं इतना अभागा हूँ कि उसी कोमल मुख में ये साधारण वस्तुएँ डालने में जरा भी संकोच नहीं हुआ।"

इस अद्भुत घटना का वर्णन करते हुए, ठाकुर, शोकातुर हो उठते। उस समय भक्त एवं दर्शनार्थीगण भी संयत नहीं रह पाते।

वहुत दिन पहले, कुल-देवता रघुवीर की सेवा एवं पूजा हेतु, ठाकुर राम-मंत्र से दीक्षित हो चुके थे। अब उन्हीं रघुवीर के प्रति उनका गंभीर वात्सल्य-भाव जाग्रत हो गया। नवीन मंत्र, उन्होंने जटाधारी से ग्रहण किया, तथा बालक श्रीराम के ध्यान में सदा विभोर रहने लगे। सदा अनुभव करते –

जो राम दशरथ का बेटा,
वही राम घट-घट में लेटा।
वही राम जगत पसारा,
वही राम सबसे न्यारा

भक्त, जटाधारी के मन में क्षोभ हुआ। उनके रामलला का यह कैसा आचरण ? इतने दिनों की सेवा-पूजा, सभी भूल गया ?

एक दिन, रामलला ने उनका क्षोभ मिटा दिया, और साधक-जीवन की चरम उपलब्धि प्रस्तुत कर दी। जटाधारी ने देखा-- उनके इष्टदेव परम चैतन्यमय हैं, तथा सारा संसार उन्हीं से ओत-प्रोत है।

अब उनके अंतर में कोई क्षोभ नहीं रहा। रामकृष्ण के पास रहकर ही जब रामलला को वास्तविक आनन्द मिलता है, तब जटाधारी उसमें बाधक क्यों होंगे ? इन जाग्रत विग्रह को ठाकुर के पास रखकर उन्होंने विदा ली।

वात्सल्य-भाव की सिद्धि के उपरान्त, रामकृष्ण, मधुर-भाव की साधना के व्रती हुए। सखी-भाव से शरीर की साज-सज्जा करके वे प्रेम में विभोर रहने लगे। उनके मधुर-रस के रागानुगा-साधन का समारंभ हुआ।

ठाकुर को, भावना एवं साधना के अनुसार सिद्धि लाभ में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। इस अवधि में उन्होंने, नारी-वेश में जान बाज़ार के राजवाड़ी के अन्तःपुर में कुछ समय तक तक निवास किया। अनेक महिलाएँ भूल-सी गयीं कि वे पुरुष हैं। ठाकुर के मध्य कान्ता-भाव का प्रस्फुटन हो गया —प्रेम-भक्ति का यह साधन, अन्ततः, महाभाव में परिणत हो गया। श्री भगवान् के चिन्मय रूप एवं माधुर्य का आस्वादन कर ठाकुर, मधुर-साधना के चरम-बिन्दु पर अधीष्ठित हो गये।

विभिन्न साधनाओं का अंतर्निहित सूत्र एक एवं अभिन्न है, इस सत्य का ज्ञान होने में, ठाकुर को, विलम्ब नहीं हुआ। द्वैत तथा अद्वैत भाववाद के तत्व, एक अखण्ड अध्यात्म-चेतना के रूप में उनके मध्य समन्वित हो उठे।

ठाकुर, प्रेम के देवता श्री चैतन्य के साधन-तत्वों की जो अपूर्व व्याख्या देते, उससे इस अखण्ड-बोध का स्पष्ट परिचय मिलता है। वे कहते, "हाथी के बाहर के दांत, शत्रु पर आक्रमण करने के लिए होते हैं, तथा भीतर के दाँतों से वह खाद्य सामग्री, शरीर-पोषण हेतु, चबाकर खाता है। गौरांग के अंतर में तथा बाह्य रूप से, इसी तरह, दो भावों का प्रकाश था। बाह्य मधुर-भाव की सहायता से वे लोक-कल्याण करते, तथा अंतर में अद्वैत-भाव रहता—प्रेम की चरम परिपुष्टि से वे बिल्कुल ब्रमानन्द में निमग्न हो जाते। उस समय वे ब्रह्मभाव में अधीष्ठित रहते।"

मधुर साधना का पटाक्षेप होने के बाद ही, ठाकुर के जीवन में तोतापुरी का आविर्भाव हुआ। यहीं वेदान्त की चरम उपलब्धि का अवसर आया।

ठाकुर के अध्यात्म-जीवन में अद्वैत-बोध का प्रवाह महीनों चलता रहा। इन दिनों की अवस्था का वर्णन, उन्हीं के श्रीमुख से—

"जिस अवस्था में पहुँच कर साधारण जीव दुबारा वापस नहीं आ सकता, मात्र इक्कीस दिनों तक शरीर टिक पाता है. उसके बाद जिस तरह सूखा पत्ता, वृक्ष से, झड़ जाता है, उसी तरह गिर पड़ता है - इसी अवस्था में मैं छः मास तक था। किस तरह दिन आता है, रात बीतती है, उसका ज्ञान ही नहीं रहता था। मुर्दे के मुँह में जैसे मक्खी घुसती है, उसी तरह घुस जाती, परन्तु कोई होश नहीं रहता। केश के लट पड़ गये थे। शौचादि हो जाने पर भी कोई होश नहीं रहता।

"क्या, शरीर का रह पाना सम्भव था? जानेवाला ही था। इन्हीं दिनों एक साधु आया था। उसके हाथ में रुल-जैसी एक लाठी थी। मेरी अवस्था देखते ही वह पहचान गया। उसने समझ लिया कि इस शरीर के द्वारा, माँ के अनेक कार्य सम्पादित होने हैं। इसकी रक्षा करने से अनेक लोगों का कल्याण होगा। इसीलिए भोजन के समय खाद्य-सामग्री लाकर, मार कर होश में लाने की चेष्टा करता थोड़ा होश होते ही खाद्य-सामग्री, मुँह में ठूँस देता। इसी तरह किसी दिन एकाध ग्रास मुँह में जाता, कभी वह भी नहीं। इसी तरह छः महीने बीते।

"इस अवस्था के बहुत दिनों बाद, माँ की सुन पाया—भावमुख रह, लोक-दीक्षा हेतु भावमुख रह।

"उसके बाद अस्वस्थ हो गया— खूनी पेचिश; पेट में खूब मरोड़ तथा बड़ी यंत्रणा। उसी यंत्रणा को प्रायः छः मास तक भोगते-भोगते, धीरे-धीरे मन शरीर भाव में आया। तब साधारण मनुष्यों-जैसे होश आया। ऐसा न होने से मन अपने आप बिलकुल उसी निर्विकल्प अवस्था में ही चला जाता!"

ठाकुर की स्त्री, शारदामणि ने क्रमशः यौवन में पदार्पण किया। स्वामी के संबन्ध में, बहुत-से लोग, तरह-तरह की बातें कहते हैं। विराट् साधक हैं वे, तथा दक्षिणेश्वर के मंदिर में उनकी प्रतिष्ठा की सीमा नहीं है।

अंतर में उमड़-घुमड़ कर एक व्यथा-सी उठती—क्या ऐसे स्वामी की सेवा के अधिकार से वंचित रहेंगी? पिता को साथ ले, वे दक्षिणेश्वर के मंदिर में आकर उपस्थित हुईं। साधन-भजन में सदा डूबे रहने से क्या होता है! उस दिन पत्नी के प्रति ठाकुर का व्यवहार अत्यन्त स्वाभाविक एवं अंतरंग था। अत्यन्त आदरपूर्वक ठाकुर ने उन्हें ग्रहण किया। अपने ही कक्ष में तथा अपनी

ही शय्या पर उन्हें स्थान दिया। विवाहिता तरुणी पत्नी को पास रखकर उन्होंने इन्द्रिय-संयम की पराकाष्ठा को ही प्रदर्शित किया।

दोनों के दाम्पत्य-जीवन का एक शुद्ध-सत्व, स्वर्गीय रूप, प्रस्फुटित हो उठा। यह रूप अत्यन्त ही दुर्लभ था। दाम्पत्य-जीवन के इस दिव्य रूपान्तर में, ठाकुर की तुलना में शारदामणि का योगदान कम नहीं था। अपने संयम तथा त्याग-वैराग्य के माध्यम से उन्होंने स्वामी के व्रत को अक्षुण्ण ही रखा।

उत्तरकाल में पत्नी के संदर्भ में ठाकुर ने स्वयं कहा था, "वह यदि इतनी अच्छी नहीं होती, और आत्महारा होकर मुझपर आक्रमण करती, तो मेरे संयम का बाँध क्या बच पाता? देह-ज्ञान आता या नहीं, कौन कह सकता है? विवाह के बाद, व्याकुल होकर माँ जगदम्बा से हठ कर बैठा। कहा था—माँ, मेरी स्त्री के अंतर से काम-भाव एकदम लुप्त कर दे। जब उसके साथ एक साथ निवास करता था, तब स्पष्ट हो गया, कि माँ ने मेरी प्रार्थना सुन ली थी।"

स्वामी शारदानन्द ने अपने द्वारा रचित लीला-प्रसंग ग्रन्थ में लिखा है, "पूर्ण-युवा ठाकुर एवं नवयौवना श्री श्री माता ठकुरानी के इस काल के दिव्य लीला-विलास के संबन्ध में जो सारी बातें हम लोगों ने ठाकुर से सुनी थीं, वे संसार के आध्यात्मिक इतिहास में अन्य किसी महापुरुष के संदर्भ में नहीं सुनी जातीं। इससे मुग्ध होकर मानव-हृदय स्वतः ही उनके देवत्व के प्रति विश्वास करने लगता है, एवं अपने अंतर की भक्ति एवं श्रद्धा उनके पाद-पद्मों पर अर्पित करने को बाध्य हो जाता है। देह-बोध रहित ठाकुर की प्रायः सारी रात, इन दिनों समाधि में ही बीत जाती तथा समाधि के भंग होने पर बाह्य धरातल पर अवरोहण करने पर भी उनका मन इतनी उच्च अवस्था में रहता कि साधारण मनुष्य की तरह क्षण भर के लिए भी उनमें देह-ज्ञान का उदय नहीं होता।"

दक्षिणेश्वर पहुँचने के एक-दो दिन बाद ही, पत्नी शारदामणि से ठाकुर ने एकान्त पाकर कहा था, "क्यों री, क्या तुम मुझे माया के बन्धन में बांधने आयी हो?"

किशोरी वधू ने तत्क्षण, दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "नहीं, ऐसा क्यों? मैं तुम्हारी सहधर्मिणी हूँ। तुम्हारे धर्ममार्ग में सहायता करने हेतु ही मैं आयी हूँ।"

रात्रि में प्रायः शय्या पर बैठे-बैठे, ठाकुर भाव-समाधि में चले जाते। शारदामणि बहुत घबरा गयीं। प्रायः ही वे घबराहट में ठाकुर के भान्जे हृदय को पुकार कर बुला लेतीं। वैसी दशा में कानों में बार-बार नाम का उच्चारण रकने के उपरान्त ही ठाकुर की बाह्य संज्ञा लौटती।

इसके उपरान्त ठाकुर स्वयं ही सारदामणि को कह देते कि किस तरह की भावसमाधि होगी ! फिर भी रात्रि के घनीभूत होते ही सारदामणि की दुश्चिताओं का पारावार नहीं रहता । कब, ठाकुर को, कौन-सा भावावेश होगा, तथा कब वे मूर्छित हो जायँगे, यह उन्हें ज्ञात नहीं था । प्रायः उनकी सारी रात जगते ही बीत जाती । एक दिन जब ठाकुर को सारी बातें ज्ञात हुई, तो वे बहुत दुःखी हुए । इसी कारण, उसी समय से, नौबतखाना वाले कमरे में सारदामणि के सोने की व्यवस्था कर दी गयी ।

एक दिन सारदामणि, ठाकुर के पैर दबा रही थीं । अकस्मात्, वे ठाकुर से प्रश्न कर बैठीं, "क्यों, स्पष्ट बताओ, मेरे विषय में तुम्हारी क्या धारणा होती है ?"

ठाकुर ने तुरत उत्तर दिया, "मंदिर में जिन माँ की पूजा होती है, उन्हीं माँ ने इस शरीर को जन्म दिया है, और आजकल नौबतखाने में निवास कर रही हैं । और यहाँ भी वे मेरी पदसेवा कर रही हैं । मैं तुम्हें सर्वदा, आनंदमयी माँ की प्रत्यक्ष मूर्त्ति के रूप में ही देखता हूँ ।"

उन दिनों, अपनी पत्नी एवं समस्त नारी-जाति के प्रति ही ठाकुर का यही मातृभाव था । नारीमात्र के मध्य वे ब्रह्ममयी के स्वरूप का ही सतत् दर्शन करते । अब वे अपनी इस उपलब्धि को सर्वाङ्गीण बनाने के प्रयास में सन्नद्ध हुए ।

अमावस्या की रात्रि । फलहारिणी काली-पूजा थी । ठाकुर अपने शयन-कक्ष में षोड़शी-पूजा का आयोजन कर बैठे । पत्नी, सारदामणि का, वे महामाया के रूप में पूजन करेंगे । जप-तप, तथा ध्यान-धारण के सारे फल, उनके चरणों में समर्पित करेंगे ।

गंगा-जल से अभिषेक के उपरान्त सारदामणि को नवीन वस्त्र धारण कराए गये । पुष्प-चंदन से सज्जित होकर वे पूजन-वेदी पर बैठीं । इस भाव-गंभीर परिवेश में, वे भी भावाविष्ट-सी हो चलीं । पूजा की समाप्ति पर, 'माँ-माँ' की ध्वनि से चारों दिशाओं को ध्वनित करते हुए रामकृष्ण समाधिस्थ हो गये । उस समय वेदी पर उपविष्ठा सारदामणि का भी बाह्य ज्ञान शेष नहीं रहा ।

१८७५ ई० का काल । उस समय से ठाकुर के जीवन-लीला-नाट्य में एक नवीनतर दृश्यपट उन्मोचित हुआ । आत्मसमाहित साधक ने अनायास, लोक-गुरु के रूप में आत्म-प्रकाश किया ।

उन दिनों कलकत्ते में, मनीषी, वाग्मी एवं धर्म-नेता के रूप में केशवसेन की अपूर्व प्रतिष्ठा थी। उनके साथ ठाकुर का प्रेम-पूर्ण संपर्क हो गया, तथा क्रमशः यह संपर्क घनिष्ठ होता गया। केशवसेन की देखा देखी, विजय कृष्ण, प्रताप मजुमदार, शिवनाथ शास्त्री इत्यादि का भी आना-जाना आरम्भ हो गया।

उसके बाद, दक्षिणेश्वर के पगले बामन की भगवद्-कथा सुनने वालों की भीड़ बढ़ने लगी, तथा अनेक व्यक्ति उनके मध्य भागवत-जीवन के प्रकाश को प्रत्यक्ष करने हेतु अत्यन्त कौतूहली हो उठे। इन ईश्वरप्राप्त महापुरुष की ओर, कलकत्ते के शिक्षित-समाज की दृष्टि निबद्ध हुई। उसके बाद, उनके चरणों के आश्रय में एक के बाद एक भक्त-दल एवं ईश्वराकांक्षी शिष्यों का दल जुटता चला गया।

उन दिनों सारे देश का सामाजिक-जीवन एक संकट की अवस्था से गुज़र रहा था। एक ओर था, प्राच्य और प्रतीच्य के आदर्शों का संघर्ष, और दूसरी ओर जाग्रत हो रही थी देश के आत्म-परिचय साधन एवं आत्मप्रतिष्ठा की तीव्र आकांक्षा। प्रकाश कहाँ, और मार्ग कौन-सा, यह एक जीवंत प्रश्न-चिह्न था। विभ्रान्त मानव को कौन सत्य का संधान दे सकेगा? इसी समय श्रीरामकृष्ण का अभ्युदय हुआ।

संशयाच्छन्न, जड़वादी मानव का आवाहन कर उन्होंने कहा,—ईश्वर कोई दूर की वस्तु नहीं, तथा वे पराये भी नहीं हैं। वे हमारे अत्यन्त आत्मीय हैं। उनके लिए व्याकुल होने पर, तथा सर्वत्यागी होने पर, उन्हें अवश्य पाया जा सकता है। ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें प्रत्यक्ष किया है, तथा उनके संधान-पथ से भी वे अवगत हैं।

सैकड़ों ईश्वरविमुख व्यक्ति, उनके दर्शन हेतु आते, तथा उनके शरीर में भगवत्-शक्ति का प्रकाश देख कर, विश्वासवान होकर, नवीनतर चैतन्य का लाभ करते। दल के दल, त्याग-वैराग्यवान साधकों के जमाव में भी कसर नहीं थी। उन सभी का यह दृढ़ विश्वास हो चला कि महापुरुष के परमाश्रय से चिपके रहना ही श्रेयस्कर है।

एक दिन केशव सेन ने खेदपूर्ण स्वर में रामकृष्ण से कहा, "महाशय, मुझे ईश्वर-दर्शन क्यों नहीं होता है!"

ठाकुर का सारा जीवन ही ईश्वरधृत है। वे ईश्वरमय ही हो गये हैं। इसीलिए, इस मसले पर उनसे इच्छानुकूल बातें सुनने को नहीं मिलती। उन्होंने स्पष्टरूप से कह डाला, "तुम लोक-मान्यता, विद्या, इन सब से भरपूर हो,

इसीलिए नहीं हो पाता। बालक, जब तक चुसनी चूसता रहता है, तब तक माँ उसके पास नहीं आती। थोड़ी देर बाद, जब वह चूसनी फेंक कर चीखने लगता है, माँ, भात की हाँड़ी उतार कर दौड़ी आती है। तुम अहंकार में लिप्त हो, तो माँ सोचती है— मेरा बच्चा अहं से ही तुष्ट होकर आनंद में है, तो ऐसा ही रहे।"

शिवनाथ शास्त्री, प्रायः रामकृष्ण के पास जाया करते। परन्तु उनकी भावसमाधि कैसी वस्तु है, यह समझ पाना उनके लिए संभव नहीं था। कोई इस संदर्भ में उनसे प्रश्न करता तो अपना मत देते—यह भावसमाधि स्नायुविकारजनित है।

आचार्य शिवनाथ, दक्षिणेश्वर आये हुए हैं। ठाकुर ने उलाहने के स्वर में उनसे कहा—"हाँ रे, शिवनाथ, तुम इन सब बातों को रोग कहते हो? और यह भी कहते हो कि उस समय मैं चेतनाशून्य हो जाता हूँ? तुम लोग ईंट, लकड़ी, मिट्टी, रुपये-पैसे, इन सब जड़ वस्तुओं से दिन-रात लिप्त रहकर ठीक रहोगे, और जिसके चैतन्य से जगत्-संसार चैतन्यमय हो रहा है, उसे दिनरात सोचोगे कि वह अज्ञान तथा अचैतन्य हो गया! यह तुम्हारी कैसी बुद्धि हो गयी?"

शिवनाथ निर्वाक्, नतशिर होकर बैठे रहे।

विषयी एवं अर्धविषयी लोगों की भीड़ से रामकृष्ण त्रस्त हो रहे हैं। परन्तु जिन शुद्ध सत्व, त्याग-वैराग्यवान साधकों की प्रतीक्षा में वे बैठे हैं उनका तो अभी तक कोई पता नहीं है! जगज्जननी तो उनके आगमन की बात स्वयं ही कह चुकी हैं। उस बात के मिथ्या होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। परन्तु, ठाकुर अब अधिक धैर्य धारण नहीं कर सके।

एक-एक दिन बीतता जाता, और उनकी विरहयंत्रणा तीव्रतर होती जाती। हताश होकर फिर सोचने लगते—एक और दिन निरर्थक क्यों बीत गया? जिनके आने की बात थी, वे तो आज भी नहीं आये।

सांध्य-गगन पर अन्धकार की कालिमा फैल चुकी है। मंदिर की आरती का रव दूर, बहुत दूर ध्वनित हो रहा है। रामकृष्ण, कोठी-बाड़ी की छत पर चुपचाप चढ़ गये। वहाँ पहुँच कर पुकार-पुकार कर रोने लगे, "ओ रे, तुम सब कौन-कहाँ हो, आओ। तुम लोगों को देखे बिना, मैं एक दिन भी रुक नहीं पा रहा हूँ।"

मिलन का लग्न आ पहुँचा। अब एक के बाद एक, शुद्धात्मा, मुमुक्षु भक्तों का दल जुटने लगा। ये रामकृष्ण के आदर्शों के धारक-वाहक तथा उनके नव-धर्मान्दोलन के एक-एक स्तम्भ थे।

चिह्नित शिष्यों में से किसका क्या परिचय है, तथा कौन कहाँ से आने वाले हैं, ठाकुर को कुछ भी अज्ञात नहीं है। कभी-कभी मन की मौज में दो-एक बातें उद्घाटित भी कर डालते है। मिलते ही, परम आत्मीय—जैसे उन्हें ग्रहण करते हैं। उसके बाद आरम्भ होता है, उन भक्त-साधकों के शिक्षण एवं उत्तोलन का पर्व।

ठाकुर श्रीरामकृष्ण भी अद्भुत अध्यात्मशिल्पी हैं! उनकी सृजन-प्रतिभा भी अत्यन्त विस्मयकर है तथा अमोघ है उनकी अलौकिक साधन-शक्ति का स्पर्श। दूर-संधानी दृष्टि से वे प्रत्येक शिष्य के अन्तस्तल को प्रतिदिन देखते हैं, तथा अपने निपुण हाथों से उसे रूपान्तरित करते हैं। सर्वज्ञ एवं शक्तिधर सद्गुरु के रूप में उनकी सूक्ष्मतम चितातरंग पर सदा नियंत्रण में तत्पर है।

साधक एवं भक्तों के ऊपर ठाकुर के कृपा-वर्णन के प्रसंग में, 'लीला-प्रसंग' के लेखक सारदानन्दजी, लिखते हैं—

"प्रत्येक को आग्रहपूर्वक, अलग, ध्यान करने के लिए बिठा कर, उसके वक्ष, जिह्वा इत्यादि शरीर के किसी-किसी स्थान का दिव्य भाव से स्पर्श करते। इस शक्तिपूर्ण स्पर्श से उनका मन वाह्य विषय-समूह से आंशिक किंवा संपूर्ण रूप से संहृत एवं अन्तर्मुखी हो पड़ता; एवं संचित धर्म–संस्कार सम्पूर्ण अंतर में सहसा सजीव होकर सत्य-स्वरूप ईश्वर के दर्शन-लाभ हेतु उन्हें शिवभाव में नियुक्त कर डालता। इसके फलस्वरूप किसी-किसी को दिव्य ज्योति मात्र ही अथवा देव-देवियों के ज्योतिर्मय मूर्त्तिसमूह का दर्शन, किसी को गंभीर ध्यान एवं अभूतपूर्व आनन्द, किसी की सारी हृदय ग्रन्थियों के उन्मोचन के उपरान्त ईश्वर-लाभ हेतु प्रवल व्याकुलता, किसी को भावावेश एवं सविकल्प समाधि एवं किसी विरले को निर्विकल्प समाधि का पूर्वाभास दृष्टिगोचर होने लगता।"

"उनके निकट आगमन मात्र से इस प्रकार कितने लोगों को ज्योतिर्मय मूर्त्ति इत्यादि दर्शन उपलब्ध हुए थे इसकी गणना नहीं।

"तारक के मन में इस प्रकार की विषम व्याकुलता एवं क्रन्दन का प्रस्फुटन होकर एक दिन अन्तर की सारी ग्रन्थियाँ उन्मोचित हो गयी थीं, तथा छोटा नरेन्द्र इस प्रभाव के कारण वहुत अल्प अवधि में निराकार के ध्यान में समाधिस्थ हो गया था, ये सारी बातें मैंने ठाकुर के श्रीमुख से ही सुनी थीं। परन्तु इस प्रकार के स्पर्श से एक समय निर्विकल्प अवस्था का अभ्यास प्राप्त करना एकमात्र नरेन्द्रनाथ के जीवन में ही दृष्टिगोचर हुआ था।

"भक्तों मे किसी-किसी व्यक्ति को ठाकुर इस प्रकार के स्पर्श से भिन्न कभी-कभी मंत्र-दीक्षा भी प्रदान करते। इस मंत्र-दीक्षा प्रदान काल के समय

वे गुरुओं की तरह जन्म-कुन्डली-विचार तथा नाना प्रकार की गणनाओं एवं पूजादि में प्रवृत्त नहीं होते, परन्तु योग-दृष्टि की सहायता से उसके जन्म-जन्मातर के मानसिक संस्कारों का अवलोकन करते हुए, 'तुम्हारा यह मंत्र है', कहते हुए मंत्र का निर्देश कर देते ।

नवागत, तरुण साधकगण ठाकुर के समीप आते तथा अपनी निजी समस्याएँ और अपनी अभिज्ञता बता कर निर्देश हेतु प्रार्थना करते । इस समय, ठाकुर मानो उनके अन्तरंग सखा एवं सुहृद हों । साध्य एवं साधन के संदर्भ में उनकी आवाज थोथी नहीं थी । मात्र उच्च आसन पर विराजमान रह कर एवं यथार्थ से दूर रहकर मात्र उपदेश वर्षण कर उन्हें संतोष नहीं होता था । आश्रित के घनिष्ठ सानिध्य में रहकर तथा अत्यन्त अन्तरंग के रूप में वे आश्रित की बांह पकड़ते । उसके बाद, धीरे-धीरे वे उसे परम प्राप्ति की दिशा उन्मुख करते ।

एक बार एक तरुण भक्त ने खेद पूर्वक कहा, "ठकुर, मेरी कामवासना निःशेष नहीं हो रही है, इतना साधन-भजन कर रहा हूँ, परन्तु बीच-बीच में इन्द्रिय-चांचल्य पीछा नहीं छोड़ रहा है । मैं क्या करूँ, इसका निर्देश दें ।"

ठाकुर मानो प्रश्नकर्त्ता के एक आत्मीय बंधु हैं । उसे पास बिठाकर, आश्वासन एवं उत्साह देते हुए कहने लगे—

"भगवत्‌दर्शन न होने से काम एकदम लुप्त नहीं होता । भगवान का दर्शन होने पर भी जबतक शरीर रहता है तबतक थोड़ा बहुत रहता ही है, फिर भी वह सिर नहीं उठा पाता । तुम क्या यह समझते हो कि मेरा ही एकदम चला गया है ? एक समय ऐसा लगा कि काम पर मैंने विजय प्राप्त कर ली । उसके बाद पंचवटी में बैठा हुआ था, इसतरह काम का विकार आया कि संभाल ही नहीं पाया । उसके बाद धूल में लोटते हुए रोने लगा और माँ से कहने लगा, 'माँ बहुत अन्याय किया है, फिर कभी यह भावना मन में नहीं लाऊँगा कि मैंने काम पर विजय प्राप्त कर ली है,—तब वह भाव मिटा ।

"क्या समझते हो--तुम्हारे जीवन में इस समय यौवन की बाढ़ आयी है, इसीलिए उसे रोक नहीं पाते हो । बाढ़ जब आती है, तो क्या कोई बाँध उसे रोकने में सक्षम होता है ? बाँध तोड़ कर जल निकल ही पड़ता है । लोगों के धान के खेतों के ऊपर एक बाँस जल आ जाता है ।

"इसीलिए कहते हैं—कलि में मन का पाप, पाप नहीं है और मन में एक-आध बार कभी अगर कुभाव आ भी जाँय तो-- 'क्यों आया', यह सोच-सोच

कर व्यर्थ चिंता क्यों ? यह सब कभी-कभी शरीर के धर्म के रूप में तो आता ही है। इसे शौच, पेशाव की चेष्टा के जैसा ही समझना। शौच पेशाब की इच्छा हुई थी, ऐसा सोच-सोच कर क्या लोग माथे पर हाथ देकर चिंता करने बैठ जाते हैं ? उसी तरह इन भावों को अति सामान्य, तुच्छ एवं हेय समझ कर मन में नहीं लाना।

"और उनके निकट खूव प्रार्थना करना, हरि-नाम लेना और उनकी वात ही सोचना। ऐसे भाव आये या गये, इस पर ध्यान ही न देना। इसके बाद वे क्रमशः वश में आ जायेंगे।"

रामकृष्ण गंभीर एवं वैराग्यवान महापुरुष हैं। परन्तु मुमुक्षु बालक भक्तों के साथ कभी-कभी हास-परिहास के तरंगों की सृष्टि कर डालते हैं। जिस कक्ष में प्रतिदिन ज्ञान, वैराग्य एवं ईश्वरतत्त्व की गंभीर आलोचना होती है, वहीं अनायास हास्य-रस की तरंग भी उफन पड़ती है। अनेक बार, ठाकुर हँसते-हँसते कह उठते हैं, "देखो, मैं इन छोकरों को केवल निरामिश भोजन ही नहीं देता। कभी-कभी थोड़ा व्यतिक्रम भी कर देता हूँ, नहीं तो आवेंगे कैसे ?"

ठाकुर के भक्त, कथामृतकार श्री म, एक दिन के इस तरह के एक दृश्य का वर्णन देते हैं, "ठाकुर श्रीरामकृष्ण शुद्धात्मा भक्तगण को पाकर आनन्द-मग्न हो रहे हैं। अपनी छोटी चारपाई पर बैठे बैठे उन्हें कीर्त्तनियों की नकल दिखा कर हँस रहे हैं। कीर्त्तनी सज-धज कर मंडली के साथ गान गा रहा है। फिर खड़ा हो जाता है, हाथ में रंगीन रुमाल है। बीच-बीच में स्वांग में ही खाँस रहा है और नथ उठा कर थूक भी रहा है। अगर कोई विशिष्ट व्यक्ति, इस अवधि में आ जाता है, तो गाना गाते-गाते ही उसकी अभ्यर्थना करता है, और कहता है—'आइये'! फिर बीच-बीच में हाथ के विभिन्न अलंकारों का भी प्रदर्शन करता है।"

ब्रह्मज्ञ पुरुष का यह एक खेल एवं अपूर्व रसपूर्ण भाव था। हाथ उठाकर, मुँह चमकाकर वे अकेले ही रूपवाली का अभिनय कर रहे हैं तथा अंतरंग बालक भक्तों में हँसी का फव्वारा छूट पड़ा है। एक भक्त की अवस्था बहुत ही कम है, वह तो ठाकुर के इस काण्ड को देखकर हँसी से लोट-पोट हो रहा है।

ठाकुर तृप्तिपूर्वक हँसते हुए कह रहे हैं, "बच्चा ही तो है। इसीलिए हँसी से लोट-पोट हो रहा है।"

अगले ही क्षण, फिर इस वालक भक्त को सतर्क कर दे रहे हैं, "अरे पल्टू, देखो, अपने पिता से ये सब बातें नहीं कहना। उसका मेरे प्रति थोड़ा आकर्षण था, वह भी इससे चला जायगा। वह अंग्रेजियत वाला आदमी है।"

भक्त नरेन्द्रनाथ, उन दिनों जीवन-संग्राम में जर्जर होकर चरम दरिद्रता के आघात से पीड़ित हैं। पिता की मृत्यु के उपरान्त, परिवार के भरण-पोषण का दायित्व उनके कंधों पर आ पड़ा है। वहुत चेष्टा करके भी नौकरी पाने में सफल नहीं हो रहे हैं। उनकी इच्छा है कि घर की थोड़ी अच्छी व्यवस्था करके, निश्चिन्त होकर अध्यात्म-जीवन की धारा में कूद पड़ेंगे। परन्तु, ठाकुर का विचार विलकुल भिन्न था। उनके मतानुसार, जव ईश्वर-प्रेम की प्रवल ज्वार उठ पड़े, विरह की तीव्रता से जव प्राण कण्ठगत हो जाय, तब प्रकृत मुक्तिकामी भक्त के मन में सांसारिक प्रपंचों की वात तथा सतर्कता की बात, उठेगी ही क्यों ?

नरेन्द्र दक्षिणेश्वर आये हुए हैं। उनके शरीर तथा मन पर विषाद की छाया है। ऐसे समय में ठाकुर उनको लक्ष्य करके व्यंग-वाण छोड़ने लगे। भक्त मास्टर महाशय पास ही बैठे हुए थे। ठाकुर ने उनसे कहा, "देखो, बड़े घर के लड़कों को भोजन की चिन्ता नहीं होती- वह प्रत्येक मास बँधा हुआ खर्च पाता है। अच्छा, नरेन का भी तो इतना ऊँचा घर है. फिर भी ऐसा क्यों नहीं होता है ? सारा मन भगवान को समर्पित कर देने पर तभी, तो वे सभी जोगाड़ कर देंगे।"

थोड़ी देर वाद ही फिर उठाकर ठाकुर ने तीव्र व्यंग्योक्तियों की वर्षा शुरू की। कहा, "एक स्त्री को शोक हो गया था। उसने पहले नथ उतार कर आँचल में बाँध लिया। उसके बाद, 'अरे दीदी, मुझे क्या हो गया रे', कहती हुई, सवके सामने पछाड़ खाने लगी। परन्तु इसमें भी वह खूब सावधान थी, कि उसका नथ न टूट जाय।"

सभी हँस रहे हैं। परन्तु ठाकुर का यह मर्मवेधी विद्रूप उस दिन नरेन को आहत कर गया। उसका मन तथा शरीर वैसे ही बोझिल था। कक्ष के भीतर ही श्रान्त देह लिए धीरे-धीरे वे लेट कर सो गये।

भक्तप्रवर मास्टर महाशय, ठाकुर की वार्त्ता की भंगी से वैसे ही कौतूहल-पूर्ण हो चुके हैं। मुस्कराते हुए उन्होंने नरेन की ओर देखकर फब्ती कसा, "बिल्कुल सो ही गया।"

मास्टर महाशय नरेन की अपेक्षा अधिक सांसारिक मनुष्य हैं। क्षण भर में ठाकुर ने अपनी दृष्टि घुमाकर तीक्ष्णतर श्लेष एवं व्यंग भरी उक्ति से आक्षेप

किया, "यह तो वैसी ही बात हुई,-- मैं तो अपने ससुर के साथ हूँ, इतने में ही लज्जा से मरी जाती हूँ, अन्य तो परपुरुष के साथ किस प्रकार रह पाती हैं ?"

तरुण भक्तगण के तुमुल हास्य से सारा घर मुखर हो उठा। परन्तु हँसी और व्यंग्योक्ति के माध्यम से ठाकुर ने जिस तीक्ष्ण शायक का उस दिन निक्षेप किया, वह साधन-प्रयासी सभी भक्तों के मर्म को वेध गया। भूत तथा भविष्य की चिन्ता करते हुए, ईश्वर-प्रेम की सरिता में गोता लगाना सम्भव नहीं है। इस सार तत्व के उपदेश का उन लोगों को कभी विस्मरण नहीं हुआ।

कभी-कभी इन रसपूर्ण, आत्मभोला महापुरुष का एक कठोर रूप भी दृष्टि-गोचर होता। कठिन शासन तथा नियन्त्रण के माध्यम से वे दिन-पर-दिन शिष्यगण को सँवारते रहते। त्याग-तितीक्षा एवं ध्यान-जप के माध्यम से वे उनकी अध्यात्मसाधना को केन्द्रीभूत करते रहते। उनके तीक्ष्ण-सजग नयनद्वय, निरन्तर भक्त-शिष्यों पर पहरा देते रहते। कोई क्षुद्रतम त्रुटि-विच्युति, कोई बहाना इस गृद्ध दृष्टि से ओझल नहीं रह पाता।

राखाल महाराज थे ठाकुर के मानसपुत्र। स्नेह एवं आदर के साथ, ठाकुर उन्हें घेर कर रखते। अकस्मात् एक दिन किसी रहस्य के कारण राखाल किसी साथी से असत्य भाषण कर बैठे। अन्तर्यामी ठाकुर के समक्ष यह तथ्य अन-जाना नहीं रह सका। दोष नगण्य ही क्यों न हो, भक्त के कल्याण हेतु उसका परिमार्जन करना ही होगा। राखाल को उन्होंने पकड़ा। कठोर स्वर में कहा, "क्यों रे, आज तुम्हारा मुख ऐसा क्यों देख रहा हूँ ? निश्चितरूप से तूने आज मिथ्या बात कही है।"

दोष स्वीकार करने पर ही राखाल छुट्टी पा सके।

निरंजन, सत् एवं श्रद्धावान साधक हैं। इसलिए इस मन्तव्य से विशेश रूप से मर्माहत हुए। परन्तु ठाकुर के तिरस्कार से मिताचार एवं कृच्छ्रसाधन का आदर्श सर्वदा के लिए उनके मन में अंकित हो गया।

शिष्यों के अध्यात्म-रूपान्तर के क्षेत्र में ठाकुर का लोकोत्तर रूप प्रस्फुटित हो उठता। वहाँ वे महाशक्तिधर आचार्य बन जाते तथा सद्गुरु सत्ता के महिमामय प्रकाश से मंडित होते। शिष्यों की जीवन-तरी वे खेवनहार बन जाते तथा अनायास ही इस तरी को उस पार पहुँचा दे रहे हैं।

अतीन्द्रिय राज्य के सारे कल-पुर्जे उन्हें हस्तगत है। मात्र वार्ता एवं स्पर्श से शिष्यों के जीवन में शक्ति संचारित हो रही है, और नयी-नयी अध्यात्म-

अनुभूतियाँ आती जा रही हैं। दृष्टिसंपात एवं पदाअंगुष्ठ छुआने मात्र से मनुष्य में नवजीवन स्फुरित हो रहा है।

राखाल उन दिनों अत्यन्त कठोर साधना कर रहे थे। परन्तु कोई अलौकिक दर्शन न होने के कारण, उनका मन ग्लानि से भरा था। इसके लिए बीच-बीच में ठाकुर से भी शिकायत करते रहते। अंततः उनकी कृपा हो गयी, कहा—"अच्छा जाओ, माँ तुमको कुछ दिखायेंगी।"

उसी दिन एक काण्ड घटित हो गया। राखाल महाराज मंदिर में बैठे ध्यान कर रहे हैं। सामने ही एक दिव्य ज्योति की स्रोत-धारा दीख पड़ी। मात्र इतना ही नहीं, यह स्रोत उनकी ही ओर लपकता आ रहा है। नवीन साधक, बहुत घबरा गये। भागकर मंदिर से बाहर निकले और ठाकुर के समीप आकर बैठ गये।

अंतर्यामी गुरु, तो सभी जानते हैं। हँस-हँस कर कहने लगे, "क्यों रे, झट-पट दर्शन-वर्शन की कामना करेगा और फिर भाग भी आवेगा! इस तरह कैसे काम चलेगा?

कुछ दिन और बाद की बात। एकनिष्ठ, कठोर साधन-भजन के फलस्वरूप राखाल महाराज में कुछ-कुछ अलौकिक विभूतियों का स्फुरण हो चला है। मनुष्य के अंतर की बातें वे अनायास ही जान लेते हैं। नवीन साधक हैं, इसलिए यह सब देखने की इच्छा, कभी-कभी, मन में जग पड़ती है। शीघ्र ही ठाकुर ने इस इच्छा को समूल उखाड़ फेंका।

राखाल को उन्होंने बुलाया। फिर तीव्र भाषा में उन्हें तिरस्कृत करते हुए कहा, "क्यों रे तुम्हारी इतनी हीन बुद्धि क्यों? कहाँ शुद्धा भक्ति के माध्यम से साधन-भजन में मस्त रहना चाहिए, उसे छोड़ कर अष्ट-सिद्धियों का प्रयासी हो रहा है।"

प्रथम साक्षात्कार के प्रायः एक मास बाद, नरेन श्री रामकृष्ण से मिलने, दक्षिणेश्वर आये हुएहैं। अस्फुटस्वर में, पता नहीं क्या, बोलते-बोलते, ठाकुर ने अपने दाहिने पैर से उनका स्पर्श किया। इसके साथ ही साथ, नरेन के सम्मुख एक अपूर्व अलौकिक अभिज्ञता का द्वार खुल गया।

उन्होंने देखा, कमरे के अंदर का सभी कुछ, वेग से चक्कर लगाते-लगाते निःसीम आकास में विलीन हो गया। उनका अपना अस्तित्व-बोध भी लोप होता जा रहा था। मानो महाशून्य के साथ उनका समस्त अस्तित्व एकाकार

होने को उन्मुख है । आत्मत्व के विलुप्ति के साथ-साथ सभी कुछ विलुप्त होता जा रहा है । सर्वग्रासी मृत्यु, उनकी ओर अग्रसर होती जा रही है ।

नरेन चीख पड़े, "अरे तुमने मेरे साथ यह क्या कर डाला ? मेरे तो माँ-भाई सभी जीवित हैं । उनका दायित्व भी है ।"

ठाकुर ने मुस्कराते हुए कहा, "अच्छा, फिर अभी इतना ही । तुरत आवश्य-कता नहीं है, समय आने पर होगा ।"

इसके उपरान्त नरेन के नव-रूपान्तर साधन में बिलम्ब नहीं हुआ । ठाकुर ने अपने लीला के प्रधान परिकर को, अपने वाणी-वाहक को पूर्णांग कर डाला । भक्त एवं शिष्यों के मध्य, नरेन उनके 'सहस्रदल कमल' के रूप में प्रस्फुटित हो उठे, और स्वामी विवेकानन्द के रूप में उन्होंने आधुनिक भारत की प्राण-शक्ति उद्बुद्ध कर डाला । इस महासाधक ने प्रतीची के द्वार पर भारत की शाश्वतवाणी का संदेश दिया, तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य के मध्य महामिलन के सेतु का सृजन कर डाला ।

ठाकुर रामकृष्ण, पैरों में एक जोड़ा चट्टी तथा शरीर पर साधारण खुटिया बन्डी पहने, साधारण पुजारी बामन-जैसे ही रहा करते । बाहरी लोगों के समक्ष, वे निरीह भक्त-जैसे ही थे । मात्र अंतरंग शिष्यों को ही उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान था । उन्हें ज्ञात था कि उनकी कृपा क्षणभर में उच्चतर अध्यात्म उपलब्धि करा सकती है तथा साधकजीवन के क्षेत्र में अनायास नाना रंगों के फूल खिला सकती है ।

साधन-रत तारक के वक्ष का एक दिन, रामकृष्ण ने पैर से स्पर्श किया । साथ ही साथ एक विस्मयजनक घटना हो गयी । बाह्य-ज्ञान वापस आने पर उन्होंने देखा, ठाकुर उनके माथे को हाथ से सहला रहे हैं और अस्फुट स्वर में कहते जा रहे हैं, 'माँ, उतर आओ, उतर आओ ।"

ठाकुर तथा उनकी माँ की यह कृपालीला देख कर भक्त शिष्य-गण, विस्मय-मुग्ध नेत्रों से देखते रहे ।

भक्त काली उन दिनों एकाग्र चित्त से साधनारत हैं । ध्यान में वे इष्ट एवं देव-देवियों की कितनी चिन्मय मूर्त्तियों के दर्शन करते हैं । प्रायः ही ठाकुर को इन सभी अनुभवों की जानकारी देते रहते हैं । परम आनन्द पूर्वक समय कट रहा है । अकस्मात्, ठाकुर ने एक दिन कह डाला, "तुम्हारा यह दर्शन-वर्शन अब नहीं होगा ।"

उस दिन से अक्षरशः यही हुआ। नवीन साधक ने इसके पश्चात् किसी चिन्मय मूर्ति के दर्शन नहीं किए। शक्तिधर ठाकुर के निर्देश से ये सारी अनुभूतियाँ पता नहीं, कहाँ विलीन हो गयीं।

ठाकुर ने उस दिन, ज्ञान-मार्गी तरुण शिष्य के साधन एवं सिद्धि के मार्ग में इसी व्यवस्था को कल्याणकर समझा।

रामकृष्ण रूपी सद्गुरुसत्ता का यह महासमुद्र विशाल एवं विचित्र था। भक्त एवं शिष्यों के लिए इसका कूल-किनारा पाना संभव नहीं था।

एक गृहस्थ भक्त ने दक्षिणेश्वर आकर लाटू महाराज को एक जोड़ा नयी चट्टी दिया। दुर्भाग्यवश, उसी दिन उसमें का एक कहीं खो गया। वात्सल्य-रस से भरपूर, ठाकुर, इस बात को सुनकर बहुत दुखी हुए। दूसरे ही दिन, प्रातः यह देखा गया कि वे इस चट्टी को बगीचे में यत्र-तत्र खोजते फिर रहे हैं।

लाटू महान विपत्ति में पड़ गये। कातर स्वर में वे विनय करने लगे, "दोहाई, आपुना को हमार चट्टी लिए इस तरह ढूढ़ना नाही होगा। हमार इससे पाप लागेगा।"

परन्तु ठाकुर श्री रामकृष्ण तो रुकना जानते ही नहीं थे। झारियों में देख रहे हैं, और खेदपूर्ण स्वर में कहते जा रहे हैं, "देख तो रे, नये जूतों को जोड़ा, और तेरे भोग में भी नहीं आया।"

लाटू महाराज ने हतप्रभ होकर कहा, "राम-राम, हमार जूता का लिए इतना कष्टो क्यों करते हैं। हमार दिन आज एकदम खराब जायगा।"

ठाकुर ने प्रत्युत्तर में मात्र यही कहा, "क्यों रे, दिन क्या इतना खराब जाता है? वही दिन खराब जायगा, जिस दिन भगवान का नाम नहीं लोगे।"

प्रातः तो था यह जूता—उद्धारपर्व। पुत्र-सदृश लाटू के लिए कोमल हृदय ठाकुर के दुखों का अंत नहीं है। फिर सन्ध्या को दृष्टिगोचर होता है मुमुक्षु साधक शिष्यों के उद्धार का पर्व। वहाँ प्रस्फुटित हो रहा है, ब्रह्मविद् सद्गुरु का एक शक्तिधर, महिमोज्वल रूप!

एक दिन लाटू महाराज, संध्या समय, ध्यान में बैठने पर चैतन्यता खो बैठे। दोनों नेत्र उर्ध्वमुखी, तथा मुँह से केवल 'गों-गों' शब्द निकल रहा है। सूचना मिलते ही ठाकुर भागे हुए आये, तथा अपने हाथ से लाटू के शरीर पर मालिश करने लगे। क्रमशः उनका वाह्य ज्ञान वापस आ गया। लाटू, इधर-उधर देख रहे हैं। ठाकुर कहने लगे, "तूने आज माँ काली को देखा है, ठीक है न? चुप रह साले, चुप रह, नहीं तो अभी चारों ओर शोर हो जायगा।"

आश्रित भक्तगण के ऊपर ठाकुर की अपार करुणा है। इस देवमानव के मुख से, सदा ही, कितनी आशा और आश्वासन भरी वाणी फूटती रहती है !

भक्त योगिन ने विवाह कर लिया है। मन ही मन वे भयभीत हैं कि ठाकुर इस दोष के कारण उनका त्याग ही कर डालेंगे। जो कामिनी कांचन के त्याग के आदर्श का सर्वदा प्रचार करते हैं, वे शिष्य की इस त्रुटि को क्या सहज रूप से क्षमा करेंगे ?

योगिन डरते-डरते दक्षिणेश्वर के काली वाड़ी में घुसते जा रहे हैं। दूर से ही विस्मयपूर्वक देखा कि ठाकुर शरीर के कपड़े बगल में दबाए खड़े हैं। उन्हीं के लिए वे प्रतीक्षारत हैं। उत्सुकतापूर्वक उन्होंने कहा, "अरे आ-आ, भय कैसा ? यहाँ का आशीर्वाद रहने से, उस तरह के एक लाख विवाह करने पर भी कोई हानि नहीं होगी।"

योगिन के अंतर से दुश्चिताओं का गुरु-भार अनायास हट गया।

गिरीश घोष, ठाकुर के विशिष्ट श्रेष्ठ भक्तों में से थे। नाटककार एवं असामान्य नाट्य प्रतिभा लेकर उनका जन्म हुआ था। मनीषा, व्यक्तित्व एवं तीक्ष्ण बुद्धि की दृष्टि से वे अतुलनीय थे। कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाया। केवल मद्यपान और भयानक गुस्सा उनका सबसे बड़ा दोष है।

यही गिरीश घोष, दक्षिणेश्वर बगीचे में आकर ठाकुर के समक्ष उल-जलूल बक रहे हैं, और कभी-कभी आपे से बाहर होकर अपने पूर्वजों को भी गाली देने से बाज़ नहीं आ रहे हैं। परन्तु ठाकुर करुणा के मूर्त्त-विग्रह हैं। असीम धैर्य के साथ वे इस परम भक्त के परिवर्तन हेतु, प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनकी नट-वृत्ति, मद्यपान, किसी में भी वे बाधा नहीं दे रहे हैं। उनके नेत्रों से अपार करुणाराशि, सतत् झड़ती जा रही है। अगर कोई कभी भी गिरीश के मद्य-पान बन्द कराने की बात ठाकुर के समक्ष उठाता है, तो वे मात्र इतना ही कह उठते हैं, "ठहरो तो, साला कितने दिन पीयेगा !"

इस करुणा, इस सहृदयता की तुलना कहाँ ? गिरीश के समक्ष, यही ठाकुर के देवत्व का प्रमाण रहा। ठाकुर का उन्होंने, भगवान के रूप में विश्वास किया। उसके बाद, एक दिन ठाकुर की ही प्रेरणा से उन्होंने ठाकुर के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण कर डाला।

परन्तु गिरीश का यह भक्ति-विश्वास, बराबर तो स्थिर था नहीं ! तर्कवादी मन में बीच-बीच में सन्देह उठा करता और ठाकुर की परीक्षा लेने को उत्सुक रहते।

एक अभिनेत्री के घर पर गिरीश का निमंत्रण था। पीने-खाने में बहुत रात हो गयी। अभिनेत्री ने उन्हें उस रात वहीं ठहर जाने को कहा। गिरीश साधारणतः, रात में, अन्यत्र नहीं रुका करते थे। उस दिन एक दुष्ट-बुद्धि का उनके मन में उदय हुआ। सोचा, देखा जाय, इस प्रलोभन के स्थान पर ठाकुर उनकी रक्षा करते हैं या नहीं। गृहिणी के अनुरोध पर वे राजी हो गये।

रात ज्यों-ज्यों गंभीर होती गयी, त्यों-त्यों गिरीश के शरीर में एक तीव्र ज्वाला का बोध होने लगा। यह ज्वाला क्रमशः असह्य होती गयी। उस घर में क्षण भर भी उनका रुकना संभव नहीं हो पा रहा है। अभिनेत्री से उन्होंने कहा, "अरे, घर पर चाबी का गुच्छा छोड़ आया हूँ। गायब हो जाने से महान् विपत्ति में पड़ जाऊँगा। अब तुम्हारे यहाँ रुक पाना असंभव है।"

घर आकर, नींद ही जैसे भाग गयी। प्रातः हो उठ कर दक्षिणेश्वर में जाकर उपस्थित हुए। कातर कंठ से रामकृष्ण से प्रश्न किया, "ठाकुर मैं कल ऐसे संकट में क्यों पड़ गया? बताइये, क्या आपने मुझे पूर्णरूपेण ग्रहण नहीं किया है? क्या मुझे फिर उसी अधःपतन के मार्ग पर उतर जाना पड़ेगा?"

ठाकुर, अबतक गिरीश की बात सुन रहे हैं और धीरे-धीरे मुस्करा रहे हैं। अब दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा, "ऐसा कभी नहीं हो पायगा। साला, तूने क्या सोच रखा है कि तुझे किसी साधारण साँप ने धर रखा है, जो भाग जायगा? ऐसा नहीं है, रे। यह तो भयानक साँप की पकड़ है। तीन बार माफी मिल सकती है। उसके बाद, किसी तरह भाग जाने पर भी, घर जाकर भी जान नहीं बचने की।"

सचमुच ऐसा ही हुआ। ठाकुर की व्यापक कृपा से गिरीश आजीवन उससे मुक्ति पा सके। उनका जीवन ही रामकृष्णमय हो उठा। उनके मन में नशे की कामना तथा अहंकार सर्वथा विलुप्त ही हो गये।

बाहर के लोगों के समक्ष ठाकुर बिलकुल प्रच्छन्न रहते, मानो एक साधारण भक्त साधक मात्र हों। परन्तु स्थान, काल एवं पात्र के अनुसार, उनके शक्ति का प्रकाश दृष्टिगोचर होता रहता।

एक बार पंडित शशधर तर्कचूड़ामणि, ठाकुर के दर्शन हेतु आये हुए थे। उनके पांडित्य एवं वक्तृता-शक्ति की बात सुन कर, बालक-स्वभाव ठाकुर भयभीत हैं। उस दिन का दृश्य बड़ा ही कौतूहल-पूर्ण था। ठाकुर, स्वयं इसका वर्णन करते हुए कहते हैं, "देखते ही हो, यहाँ लिखना-पढ़ना नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, सीधा-सादा मनुष्य हूँ। पंडित मिलने आये है, यह सुनते ही भय का

संचार होने लगा। देखते ही हो, शरीर के कपड़ों तक का होश नहीं रहता। कुछ पूछने पर क्या उत्तर दूँगा, यह सोच कर हतबुद्धि-सा हो रहा था।

"माँ से कहा, देखना माँ, मैं तो तुम्हारे अलावा शास्त्र-वास्त्र कुछ नहीं जानता, तुम्हीं ख्याल रखना।"

"उसके बाद किसी से कहता हूँ—'तुम उस समय रहना।' दूसरे को कहता हूँ—'तू आ जाना तुम सभी को देख कर फिर भी भरोसा रहेगा।'

"पंडित जब आकर बैठा, उस समय भी भयाक्रान्त था। उसी की तरफ देख रहा हूँ, तथा उसी की बातें सुन रहा हूँ। इसी समय देख रहा हूँ मानो माँ ने उसका अंतर मुझे दिखला दिया—शास्त्र-वास्त्र पढ़ने से क्या होगा, विवेक-वैराग्य न होने पर, वह सब बेकार बातें हैं। उसके बाद अनायास ही दृष्टि, शरीर बोध से ऊपर उठ गयी। भय-डर एकाएक विलुप्त हो गये। मन मे ऐसा लगने लगा कि चित्त की उर्ध्वमुखी अवस्था होते ही बातों का फव्वारा सा छूटने लगा। लगने लगा कि जितनी बात निकल रही है, भीतर से कोई ठेल-कर उसकी रिक्तता की पूर्ति करता जा रहा है। उसी तरह, जैसे कामारपुकुर में धान तोलने वाला राम-दो करके धान मापता जाता है, और दूसरा उस राशि को पीछे ठेलता जाता है उसी तरह। क्या-कुछ बोलता जा रहा हूँ, इससे अनभिज्ञ हूँ। जब थोड़ा होश हुआ, तब देखता हूँ कि पंडित रो रहा है, बिलकुल कातर हो गया है। इस तरह की अवस्था बीच-बीच में हो जाती है।

इसी तरह की एक और घटना का विवरण उनके श्रीमुख से कभी-कभी सुनने में आता—

"केशव ने खबर भेजी कि जहाज पर गंगा-बिहार को ले जायेंगे, एक साहेब (भारत भ्रमण को आये पादरी कुक साहेब) को भी साथ ला रहे हैं। उस दिन भी भय के कारण झाझतला की ओर बार-बार शौच जा रहा हूँ। उसके बाद, जब वे आये और मैं जहाज पर सवार हुआ, उस समय भी वैसा ही हो गया था। क्या और कैसे बोल रहा हूँ, इसका ज्ञान नहीं था। बाद में सभी कहने लगे, मैंने क्या सुन्दर उपदेश दे डाला। परन्तु बाबू, मैं इस रहस्य के विषय में कुछ नहीं जानता।"

नरेन ठाकुर रामकृष्ण के शुद्ध-सत्व, वैराग्यवान शिष्यों में मुकुटमणि हैं। शुरू से ही ठाकुर ने उन्हें अपने प्रधान परिकर के रूप में चिह्नित कर रखा है। नरेन के त्याग-वैराग्य एवं सहजात ज्ञान की प्रशंसा करते वे नहीं अघाते हैं। एक दिन उत्साहपूर्वक उन्होंने कह डाला, "मैंने देखा, कि केशव के भीतर एक

शक्ति है, जिसके फलस्वरूप वह जगद् विख्यात हो गया है, परन्तु हमारे नरेन के भीतर उस तरह की अठारह शक्तियाँ विद्यमान हैं ।"

फिर कभी, सभी के विस्मय का उद्रेक करते हुए, ठाकुर नरेन के संबन्ध में कहते, "वह ज्ञान-खड्ग की सहायता से सारे मायामय बंधनों को खण्ड-विखण्ड कर डालेगा । इसीलिए तो महामाया उसे सहज रूप से अपने अधिकार में नहीं ला पा रही है ।"

एक दिन ठाकुर कह उठे, "नरेन तो नंगी तलवार है । उसमें अखण्ड का निवास है, वह ध्यान-सिद्ध ऋषि है ।"

शक्तिमान साधक नरेन को, ठाकुर ने अपने प्रेम के बंधन में बाँध ही डाला । और नरेन को भी, ठाकुर के मध्य जो ईश्वरीय भाव, भागवत् शक्ति का प्रकाश घटित हुआ था, उसे समझने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ ।

दिन पर दिन, उन्हें दक्षिणेश्वर के इस पगले बाभन के अलौकिकत्व का अनुभव होता गया, तथा उनके माहात्म्य की उपलब्धि होती गयी । अध्यात्म-शक्ति का पारस तो उन्हीं के करतलगत है, इसका भी भान होता गया । सामान्यतम कृपासंपात के माध्यम से यह महामानव मनुष्य की परम-प्राप्ति का साधन जुटा सकता है ।

ठाकुर के घनिष्ट सान्निध्य में रहकर, नरेन उनसे साधन-निर्देश ग्रहण कर रहे हैं, तथा उच्चतर अनुभूति एवं उपलब्धियों का द्वार दिन पर दिन उन्मोचित होता जा रहा है । उनका अध्यात्म-जीवन सर्वांगीण होता जा रहा है ।

कठोर-तपी नरेन को, एक दिन ठाकुर ने बुलाकर कहा, "अच्छा, ठीक से कहो, तुम्हारी क्या कामना है !"

उत्तर मिला, "मेरी इच्छा होती है कि शुकदेव की तरह, बिलकुल पाँच-छः दिन की समाधि में निमग्न हो जाऊँ । उसके बाद शरीर-रक्षा हेतु, थोड़ा नीचे स्तर पर आकर फिर समाधि में चला जाऊँ ।"

"छीः ! छीः ! तेरा इतना बड़ा आधार है, और तुम्हारे मुँह से ऐसी बात ? मैंने सोचा था, तू वट-वृक्ष की तरह होगा । तुम्हारी छाया में हजारों व्यक्ति आश्रय पायेंगे । ऐसा नहीं होकर क्या तू व्यक्तिगत मुक्ति चाहता है ? यह तो बहुत तुच्छ बात है, बहुत छोटी बात है, रे ! नहीं-नहीं, इतनी क्षुद्र दृष्टि मत रखो ।"

एक दिन नरेन की समाधि एवं उच्चतम आध्यात्मिक उपलब्धि के अन्त में ठाकुर ने उन्हें पुकार कर बुलाया । कहा, "कैसा लगा । माँ ने तो आज तुझे

सब कुछ दिखला दिया। परन्तु चाबी मेरे हाथ में ही रही। अभी तुझे कार्य करने होंगे। जब भी मेरा यह कार्य समाप्त हो जायगा, तभी मैं चाबी खोल दूंगा।"

रामकृष्ण-मंडली के नेतृत्व एवं ईश्वरीय कर्म के दायित्वभार लेने योग्य बना कर ठाकुर ने उन्हें खड़ा किया, तथा कर्ममय महाजीवन के शेष अंक उन्होंने उस दिन की निर्देशित चाबी को भी खोल डाला।

१८८५ ई०, रामकृष्ण का लीलामय जीवन-दीप अब निर्वाण की ओर अग्रसर है। असाध्य कैंसर रोग से वे आक्रान्त हैं। भक्तों के जीवन में विषाद की छाया घनीभूत होती जा रही है।

कुछ दिन तक ठाकुर की चिकित्सा, कलकत्ते में करायी गयी। उसके बाद उन्हें काशीपुर ले जाया गया। आसन्न गुरुविच्छेद की शोकच्छाया से अंतरंग भक्तों के बीच एक अच्छेद्य आंतरिक बंधन का उदय हुआ। उत्तर काल में उन दिनों के इसी स्नेह बंधन के कारण रामकृष्ण-मंडली का संचालन संभव हुआ।

इन दिनों, ठाकुर साक्षात पारसमणि सदृश हो उठे हैं। जिसे भी कृपा करके आकर्षित करते हैं, उसी का नव-रूपान्तर हो उठता है।

अंतिम रोग शय्या पर रहते समय उनके शरीर में एक अपूर्व, अलौकिक शक्ति का स्फुरण होता रहता। इस संदर्भ में, वे स्वयं ही भक्तों से कहते, "माँ ने दिखला दिया है—इस शरीर के भीतर इन दिनों एक ऐसी शक्ति आ गई है।"

दक्षिणेश्वर एवं काशीपुर में दिखाई पड़ता, ठाकुर दिन पर दिन कितनी बातें तथा तत्वोपदेश करते। ब्रह्मविद् पुरुष की अमृतमय वाणी सुन कर भक्त दर्शनार्थीगण का मन अपार तृप्ति एवं आनन्द से भर उठता। जटिल दुरुह दार्शनिक प्रश्नों की व्याख्या वे अनायास ही कर डालते, तथा साधारण मनुष्य के दैनिक जीवन से कितने दृष्टान्त दे डालते। सत्य की सहज, सरल व्याख्या से लोग अनुप्राणित हो जाते, एवं कल्याण तथा आनन्द की भावना लेकर दर्शनार्थीगण घर वापस जाते।

ठाकुर के एक भक्त ने एक बार जिज्ञासा की, ठाकुर, "भगवान साकार हैं या निराकार ?"

उत्तर मिला, "वे साकार भी हैं और साथ ही साथ निराकार भी; इसके अलावा वे और भी क्या हैं, यह कौन जानता है ? साकार कैसे समझते हो ?

जैसे जल और बरफ। जल जमने पर ही बरफ़ हो जाता है, परन्तु इस बरफ़ के भीतर-बाहर जल रहता है। बरफ़ जल के अलावा और कुछ भी तो नहीं ! किन्तु देखो उसमें, जल का रूप नहीं—अर्थात्, उसका कोई एक विशेष आकार नहीं है। परन्तु बरफ़ का आकार है। उसी तरह भक्ति-हिम से अखण्ड सच्चिदानन्द सागर का जल जमकर बरफ़ जैसे नाना आकार धारण करता है।"

साकार एवं निराकार के विवादास्पद प्रश्न की कितनी सहज मीमांसा एवं अपरूप व्याख्या।

भक्तों के समक्ष परमतत्त्व का आभास देते हुए एक दिन ठाकुर ने कहा, "क्यों रे, सच्चिदानन्द ब्रह्म क्या सहज ही बोधगम्य है ? राम, कृष्ण ये सभी अवतार तो उसीसे निःसृत होते हैं !"

ठाकुर भक्तों से घिरे हुए बैठे हैं। प्रसंगवश 'सब जीवों पर दया' की बात उनके कानों में पड़ी, तथा वे अनायास समाधिस्थ हो गये। क्रमशः अर्धबाह्य अवस्था वापस आयी। उस समय स्वगत ही कहने लगे, "जीव पर दया—जीव पर दया ? दुत साला ! तू तो कीट से बदतर है। जीव पर दया क्या करेगा ? दया करने वाला तू कौन है ? नहीं, नहीं, जीव पर दया नहीं—वरन् शिव ज्ञान से जीव की सेवा।"

उस दिन नरेन्द्रनाथ, श्रीरामकृष्ण की ये बातें सुनते-सुनते अभिभूत हो गये। यह तो वेदान्त का प्रज्ञानमय भाष्य है !

आह्लादित स्वरमे उन्होंने कहा, "ठाकुर की इस वार्ता से नूतन, अद्भुत प्रकाश के दर्शन हुए हैं। हमलोगों को अबतक यही ज्ञात था कि वेदान्त ज्ञान शुष्क एवं कठोर होता है। भक्ति का मिश्रण करके ठाकुर ने इस वेदान्त को कितना सरस एवं मधुर बना डाला है। ठाकुर ने जो कुछ कहा, उससे स्पष्ट हो गया कि वन के वेदान्त को घर में सार्थक किया जा सकता है, तथा संसार के सारे कार्यों में उसका अवलंबन किया जा सकता है।"

सत्योपलब्धि के मार्ग में महासाधक रामकृष्ण, आश्रित भक्तगण के हृदय में, भक्ति, शक्ति एवं ज्ञान का एक अपरूप मिश्रण तथा उनके परम तत्त्व अंकित कर देते। हिन्दू, मुसलमान एवं ईसाइयों की भिन्न-भिन्न साधनाएँ, एक ही परम प्राप्ति के सागर में जाकर विलीन होती हैं, यह सत्य उनके व्यक्तिगत जीवन में पूर्णतया प्रतिफलित होता है। युगाचार्य की भूमिका ग्रहण करते हुए ठाकुर, आधुनिक युग की महासमन्वय-वाणी को ध्वनित करते हैं, 'जितने मत उतने ही पथ'।

शिष्यों की साधना एवं सिद्धि के स्तरों में अहंबोध, जैसे भी हो, सिर न उठा सके, इस पर ठाकुर की तीक्ष्ण दृष्टि सर्वदा रहती। इस संदर्भ में, एक दिन, उन्हें सावधान करते हुए ठाकुर ने कहा—

"अनेक की इच्छा होती है कि गुरुगिरी होती दो-चार गण-मान्य शिष्य-सेवक होते, लोग कहते कि गुरुकृपा से अच्छा समय जा रहा है, कितने लोगों का आना-जाना है, अनेक शिष्य-सेवक हैं तथा घर में द्रव्य का भी अभाव नहीं है। परन्तु यह गुरुगिरी भी वेश्या-वृत्ति के ही समान है। रुपये-पैसे, लोक-मान्यता, शरीर की सेवा, इन सभी के लिए अपने को बेंच देना! जिस शरीर, मन एवं आत्मा द्वारा ईश्वर का लाभ किया जा सकता है, उसी शरीर को सामान्य वस्तुओं के लिए, इस तरह रखना अच्छा नहीं। एक ने कहा था, साधो का बड़ा अच्छा समय जा रहा है, एक किराए का घर ले लिया है, बर्तन-भाड़े, बिछावन-तकिया, दरी, कितने लोग वशीभूत हैं, तथा आते-जाते रहते हैं, अर्थात् साधो इन दिनों वेश्या बन गया है, इसी कारण वह सुखी नहीं है। सामान्य वस्तुओं के लिए अपना सर्वनाश!"

इस तरह की श्लेषात्मक कटुक्तियाँ सुनने के बाद भक्त-श्रोताओं के अंतर से गुरुगिरी की क्षीणतम इच्छाएँ भी विनष्ट हो जातीं।

ठाकुर के श्रीमुख से भक्तगण, मात्र नाना उपदेश एवं तत्त्व की मीमांसा ही नहीं सुनते, वरन् उनके अंदर उनका स्फुरण भी दृष्टिगोचर होता रहता। तत्त्व के वर्णन के साथ-साथ उनके दिव्य शरीर पर भगवत् सत्ता की स्पष्ट छाप देखकर सभी धन्य हो उठते।

इन दिनों की अपनी आध्यात्मिक अवस्था की चर्चा करते हुए, ठाकुर प्रायः अपने शिष्यों से कहते, "देखो, इन दिनों मन की स्वाभाविक गति ही उर्ध्वमुखी है। समाधि हो जाने पर, मन उतरना ही नहीं चाहता है। तुम लोगों के लिए, चेष्टा करके उसे नीचे उतारता हूँ। उतारते-उतारते भी कभी-कभी ऊपर भागने की चेष्टा करता है।"

गले के रोग की चिकित्सा हेतु, ठाकुर को लाकर श्यामपुकुर में रखा गया है। इन दिनों एक बार विजयकृष्ण गोस्वामी, ठाकुर से मिलने आये। कुछ ही दिन पूर्व, ढाका रहते हुए, गोसाईंजी के साथ, ठाकुर के सम्बन्ध में एक अलौकिक घटना घटी थी। गोसाईंजी ठाकुर भक्तों के साथ बैठे हुए, उसी कहानी की चर्चा करने लगे। —कमरे का दरवाजा बन्द करके, गोसाईंजी भगवत्-ध्यान कर रहे थे। अकस्मात्, देखा कि ठाकुर श्री रामकृष्ण, सशरीर, उनके सम्मुख बैठे हुए हैं। यह कैसी अविश्वसनीय घटना! कलकत्ता से ढाका

के गेन्डरिया आश्रय में वे किस तरह आकर उपस्थित हो गये ? यह दृष्टि-भ्रम तो नहीं है ?

ठाकुर क्या सूक्ष्म शरीर से आये हैं या स्थूल रूप से ही आविर्भूत हुए हैं, इसकी परीक्षा करना आवश्यक है ? बहुत देर तक गोसाईं जी ने सामने बैठी मूर्त्ति के हाथ-पैर दबा कर देखे। यह तो सचमुच ही श्री रामकृष्ण का सजीव शरीर है। ठाकुर उनके समक्ष बैठे हुए मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं।

क्षण भर बाद ही यह मूर्त्ति अदृश्य हो गयी।

ठाकुर की ओर इंगित करते हुए, विजयकृष्ण भक्तों से कहने लगे, "देश-विदेश, पर्वत-उपत्यकाओं में घूमते हुए, अनेक साधु-महात्माओं को देखा है, परन्तु ऐसा कहीं भी देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। यहाँ जिस भाव का पूर्ण प्रकाश देखा है, वह अन्यत्र कहीं दो आना, कहीं एक आना, कहीं एक पाई और कहीं आध पाई मात्र देखने को मिला। इसका चार आना भी कहीं देखने को नहीं मिला।"

भक्त-गण की ओर देखते हुए ठाकुर मुस्करा रहे हैं। सहसा बालकसदृश बोल उठे, "विजय, यह सब बोलता क्या है !"

गोसाईं जी भी छोड़ने वाले नहीं हैं। जिस वस्तु को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा है तथा स्पर्श द्वारा अनुभव किया है, उसे रामकृष्ण को इस तरह हँसी में उड़ा देने पर मानने वाले नहीं हैं !

उन्होंने फिर कहा, "देखिये, मैंने उस दिन ढाका में जो कुछ देखा था, उसे आप नकारे भी तो मैं सुनने वाला नहीं। अत्यन्त सहजता से ही तो आपने इतनी जमात इकठ्ठा कर ली है। दक्षिणेश्वर, कलकत्ता के सन्निकट ही है। जब भी इच्छा होगी, आकर आपके दर्शन कर सकता हूँ। यहाँ आने में भी कोई कष्ट नहीं है। नौका तथा गाड़ी, दोनों ही उपलब्ध है। घर के इतने निकट, इस तरह तथा इतने आसानी से आप मिल गये कि हमलोग आपको समझ ही नहीं पाये। यदि आप किसी पहाड़ की चोटी पर निवास करते, और हमलोग भूखे प्यासे, विकट मार्ग से चल कर आपके दर्शन पाते, तब हम आपकी कदर कर पाते। सोचता हूँ कि घर के पास ही अगर यह व्यवस्था है, तब तो पता नहीं, बाहर दुर्गम स्थानों में और कितने अच्छे-अच्छे लोग निवास करते होंगे। इसीलिए हम आपका परित्याग कर अनावश्यक भाग-दौड़ करते रहते हैं।"

ठाकुर रामकृष्ण के जीवन में, अलौकिक भाव एवं अलौकिक शक्ति का प्रकाश बार-बार दृष्टिगोचर होता रहा है। परन्तु साधन-जीवन का यह

वैशिष्ट्य एवं परिचय, इन महामानव के जीवन में सदा गौण ही रहा। उनका सबसे बड़ा परिचय था—वे लोक-गुरु एवं सार्थक साधन-जीवन की प्रस्तुति हेतु एक असामान्य अध्यात्म-शिल्पी थे।

इसीलिए, स्वामी विवेकानन्द कहा करते, "मन के बाहर की जड़-शक्तियों को किसी उपाय से हस्तगत करके, कोई अलौकिक कार्य सभी को दिखा देना, बहुत बड़ी बात नहीं है—परन्तु यह जो पगला ब्राह्मन, लोगों के मानस को कीचड़ जैसे हाथ में लेकर तोड़ता-पीटता तथा गढ़ता, एवं स्पर्शमात्र से नये साँचे में डाल कर नये सिरे से पूर्ण करता, इससे ज्यादा आश्चर्यजनक घटना मैंने और कोई नहीं देखी।"

भक्त बूड़ोगोपाल, नाना तीर्थों के दर्शन करके वापस आये हैं। उनकी तीव्र इच्छा है कि इस उपलक्ष में वे साधु-सन्यासियों को भोजन करायें तथा वस्त्रादि दान करें।

ठाकुर ने उनसे कहा, "क्यों रे, कहाँ साधु खोजने में भटकता रहेगा। यहाँ क सभी लड़के वैराग्यवान हैं। इन्हें ही खिला दे, उससे ही तुम्हारा काम हो जायगा।"

भोजन एवं दान की व्यवस्था, ठाकुर के निर्देशानुसार सम्पन्न हुई। उन्होंने स्वयं भक्तों के हाथ में गैरिक वस्त्र, माला एवं कमण्डलु दे डाला। मानो ठाकुर, उस दिन शिष्यों के जीवन में अंतर-संन्यास के एक धारास्रोत को उन्मुक्त करके दे डालना चाहते हों।

१८८६ ई० की पहली जनवरी का अपराह्न। कई दिनों तक घर में बैठे रहने के पश्चात्, उस दिन ठाकुर बगीचे में टहलने के लिए निकले हैं। थोड़ी देर बाद ही गिरीश घोष के साथ मुलाकात हुई। उन्होंने प्रश्न किया, "अच्छा गिरीश, तुम यहाँ क्या देखते हो कि हर जगह उल-जलूल बातें करते फिरते हो?"

श्री रामकृष्ण की चर्चा चलते ही, गिरीश उच्छ्वासित हो उठते और कहते, —वे अवतार हैं। इसी कारण ठाकुर ने ऐसा प्रश्न किया।

गिरीश अविलम्ब, ठाकुर के चरणों में पालथी मार कर बैठ गये, और हाथ जोड़ कर, उन्होंने, उनकी स्तव-स्तुति आरम्भ किया।

ठाकुर भी भगवत्-भाव में विभोर हो उठे हैं। उनका मुखमण्डल दिव्य-भाव से प्रदीप्त हो उठा है तथा भाव से उन्मत्त, गिरीश, 'जय रामकृष्ण' कहते हुए बार-बार हुंकार कर रहे हैं।

उस दिन अनेक गृहस्थ भक्त काशीपुर आये हुए थे। वे भी ठाकुर को घेर कर बार-बार जय-ध्वनि करने लगे।

ठाकुर श्री रामकृष्ण, उस समय भी, भाव में मतवाले थे। उन्होंने सबसे कहा, "तुम्हें और क्या कहूँ, तुम सभी चैतन्यता का लाभ करो।" उस दिन वे कल्पतरु-सदृश हो उठे थे। एक-एक भक्त के वक्ष का वे स्पर्श कर रहे हैं, और वह दिव्य भावावेश से प्रमत्त होता जा रहा है। लीलामय ठाकुर के स्पर्श से सभी गृहस्थ भक्तों के अंतर में उद्दीपना होती गई, और वे सभी अतीन्द्रिय दर्शन एवं अलौकिक अनुभूति के लाभ से विह्वल हो उठे।

ठाकुर की व्याधि, क्रमशः बढ़ती ही चली गयी। भक्त एवं शिष्यगण का हृदय दुश्चिंताओं से भर उठा। उनकी सेवा में उन सभी ने तन-मन से अपने को न्योछावर कर डाला।

पंडित शशधर तर्कचूड़ामणि ठाकुर को देखने आये हुए हैं। ठाकुर को रोग-यंत्रणा भोगते देख कर उन्होंने कहा, "आपके जैसे लोग तो इच्छा-मात्र से ही इस व्याधि को दूर कर सकते हैं। तो फिर आप एक बार ऐसा क्यों नहीं करते ?"

ठाकुर ने उत्तर दिया, 'ऐसा कैसे होगा। तुम पंडित होकर भी ऐसी बात क्यों कहते हो ? जो मन सच्चिदानन्द को दे डाला है, उसे वहाँ से वापस लाकर, इस हाड़-मांस के ढांचे की रक्षा करने की प्रवृत्ति हो सकेगी ?'

शशधर पंडित, विस्फारित नेत्रों से इस देव-मानव को देखते ही रह गये, मुँह से कोई बात भी नहीं निकल पायी ?

परन्तु भक्तों को टालना कठिन था। नरेश तथा अन्य गुरुभाई लोग, दिन-पर-दिन दबाव डालने लगे कि भक्तों की खातिर ठाकुर को इस रोग का शमन करना ही होगा। अगर वे स्वयं कुछ नही करना चाहते हैं, तो कम-से-कम माँ से तो कह सकते हैं !

अंततः ठाकुर को राजी होना पड़ा। सभी शिष्यगण, इस प्रार्थना के नतीजे को जानने के लिए व्यग्र हो उठे। नरेन्द्र ने उन्हें आ पकड़ा, "माँ से आपने कहा तो ? क्या जवाब मिला, बताइये ?"

"हाँ रे, माँ से कहा—'माँ, गले के घाव के कारण खा नहीं पा रहा हूँ। जिस तरह दो ग्रास खा सकूँ, ऐसा तो कर दे।' इस पर माँ ने तुम सभी को दिखला कर कहा—'क्यों, इन सभी के इतने मुखों से खा तो रहे हो !"

देहात्मबोध से उर्ध्व, अद्वैतज्ञान में जो महासाधक अधीष्ठित रहते हैं, जगन्माता, उनसे इसके अलावा और कह ही क्या सकती हैं ? इसके बाद, भक्तगण ने ठाकुर को, इसके लिए कभी तंग नहीं किया ।

ये तरुण भक्तगण, अध्यात्मशिल्पी श्रीरामकृष्ण की अपरुप सृष्टियाँ ही थीं । इनकी प्राण प्रतिष्ठा तो उन्होनें कर डाली थी, अब आवश्यकता थी उनकी प्राणशक्ति को केन्द्रीभूत कर डालने की । इसके लिए ठाकुर की तत्परता बेहद बढ़ गयी । अवसर मिलते ही वे एकान्त में उन्हें पास बुलाते और उनके जागरण के लिए प्रयत्नशील होते । बीच-बीच में अपने व्यक्तिगत स्वरूप का आभास एवं इंगित भी प्रदान करते ।

एक दिन, रोग-शय्या पर सोये हुए, अपने शरीर की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा, "अरे, जो राम तथा जो कृष्ण के रूप ये प्रकट हुए थे, वे ही अंततः इस काया के भीतर हैं—फिर भी, इस बार गुप्त रूप से ही आना हुआ है ! जिस तरह राजा छद्म वेश में अपने निजी राज्य में निकलता है । जैसे ही जनसाधारण में खबर फैलने लगती है वहाँ से खिसक जाता है—उसी तरह की बात यहाँ भी है ।"

महाप्रस्थान के समय में अब अधिक विलम्ब नहीं है । ठाकुर ने नरेन्द्रनाथ को, अपने कमरे में बुलाया । वहाँ और कोई उपस्थित नहीं था । स्थिर दृष्टि से अपने प्रियतम शिष्य की ओर देखते हुए वे धीरे-धीरे समाधिस्थ हो गये । नरेन्द्रनाथ का भी वाह्य-ज्ञान धीरे-धीरे लुप्त हो गया । वे निस्पन्द होकर बैठे रहे ।

वाह्य-ज्ञान वापस आने पर उन्होंने देखा, ठाकुर उनकी ओर देखते हुए प्रेमाश्रुओं का वर्षण कर रहे हैं । थोड़ी देर बाद, संक्षेप में, मात्र इतना ही कहा, "आज तुम्हें सर्वस्व-दान करके मैं कंगाल हो गया । इस शक्ति से तू अनेक कार्य करेगा । उसके बाद वापस चला आयेगा ।"

निर्दिष्ट प्रतिनिधियों में शक्ति का स्फुरण हो गया ।

१८८६ ई० का १६ अगस्त । ठाकुर की जागतिक लीला का अंतिम दिन उपस्थित हो गया । मध्याह्न से कुछ पूर्व वे योगारूढ़ अवस्था में चिर-निद्रा में लीन हो गये । युगाचार्य की भूमिका के अंत में, उनके महाजीवन की परिसमाप्ति जगन्माता के अमृतमय गोद में घटित हो गयी ।

●

गुरु अंगद

उन दिनों सारे उत्तर-भारत में सिख गुरु नानक की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी तथा भक्ति-सिद्ध महापुरुष के रूप में सर्वत्र उनका जयजयकार था। पंडित-मूर्ख, राजा प्रजा, धनी-निर्धन—सभी आकर उनके कर्त्तारपुर की धर्म-सभा में भीड़ करते।

भोर होते-होते ही भक्तगण आकर चन्द्रातप के नीचे एकत्रित होते, जहाँ पवित्र 'जप-जी' की आवृत्ति होती, तथा 'आशा की वार' गीत होता। भक्त-कण्ठों की मधुर झंकार से प्रांगण गुञ्जरित हो उठता। फिर रात्रि के निस्तब्ध आकाश के नीचे सादार एवं सोहिला की मर्मस्पर्शी वाणी मुखरित हो उठती। जोर-जोर से उच्चारित होती 'वाह गुरुजी की फतह'—जिससे भक्त एवं मुमुक्षु-गण के हृदय में निष्ठा एवं शरणागति की दीपशिखा प्रज्ज्वलित हो उठती।

एक दिन की भजन-सभा में एक प्रसिद्ध योगी आकर उपस्थित हुए। गुरु नानक से उनकी काफी पुरानी घनिष्टता थी। सादर अभ्यर्थना के बाद योगिवर को आसन दिया गया।

कुशल प्रश्नादि के उपरान्त योगिवर ने मुस्कराते हुए कहा, "नानकजी, इतनी बात तो सभी को स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि आपके शिष्यों के विलक्षण भाग्य हैं। सैकड़ों मुमुक्षु मनुष्य आत्मिक प्रेरणा से उद्‌बुद्ध होकर यहाँ भागे चले आ रहे हैं, और आपका परम आश्रय प्राप्त कर रहे हैं। कैसी अद्‌भुत भक्ति-

निष्ठा है इन शिष्यों की तथा आत्मनिवेदन की कैसी गम्भीर आकांक्षा, इनके चेहरों पर प्रस्फुटित हो उठती है ! इस दृश्य को देखकर हृदय भर उठता है।"

"वह तो ठीक है, वह तो ठीक है"—कहते हुए पहले नानक ने स्वीकृति दी, उसके इस प्रसंग पर उन्होंने अपना मत प्रकट किया, "योगिवर, साधारणतः भक्तों के भावरस के उद्गार ही लोगों को अधिक दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु असली वस्तु होती है अन्तर में प्रवाहित रस। सभी आधारों पर यह रस मिल जाना संभव नहीं है और वह सब समय स्वच्छ तथा सुन्दर भी नहीं होता।"

"नहीं-नहीं, ऐसी क्या बात है ? आप-जैसे महात्मा के ये चेले हैं। इनकी श्रद्धा तथा निष्ठा में बनावट क्यों होगी ? ऐसा क्यों होगा ?"

"छोड़िए इन बातों को। योगिवर, परन्तु आप मेरे आश्रम में बहुत दिनों के बाद आये हैं। जब आ ही गये हैं, तो कृपा करके दो-चार दिन अवश्य रुकें तथा हमलोगों की सेवा ग्रहण करें।"

"ठीक है, आपकी जैसी इच्छा, वैसा ही होगा"--माननीय ने आनन्दपूर्वक अपने विचार प्रकट किए।

दूसरे ही दिन भोर होते-होते, नानक एक अद्भुतवेश धारण करके योगी के सम्मुख आकर उपस्थित हुए। भक्त तथा सेवकगण, गुरु की यह अद्भुत वेश-भूषा देखकर अवाक् रह गये। पीले रंग के अलख का त्याग करके उन्होंने छिन्न मलिन वास धारण किया है। हाथों में एक तेज कृपाण है तथा पैरों के पास कई शिकारी कुत्ते कूद-फांद कर रहे हैं। सभी कानाफूसी करने लगे कि पता नहीं गुरु को आज क्या मजाक सूझ पड़ा है—सभी को साथ लेकर शिकार के लिए वे रावी के तट पर किसी गम्भीर वन की ओर जायेंगे।

योगी की प्रश्नवाचक दृष्टि पड़ते ही नानक ने आगे बढ़ कर मृदु स्वर में कहा, "आज एक अभिनय के लिए प्रस्तुत होकर आया हूँ, इसीलिए तो शिकारी का यह वेश धारण किया है। मेरे साथ वन-भ्रमण के लिए चलिये। वहीं आपको दिखाऊँगा कि इन भक्तों में असली शरणागति की भावना कितनों के अन्दर है ? गुरु-गत-प्राण होने की योग्यता किनकी है ?"

योगी के उत्सुकता की सीमा नहीं है। उत्साहपूर्वक वे उसी समय नानक के साथ बाहर निकल पड़े। आश्रम में दर्शनार्थी तथा भक्तों की संख्या बहुत कम नहीं है। उनमें से अनेक गुरु का यह काण्ड देखने के लिए निकल पड़े।

क्षण भर बाद ही यह ज्ञात हो गया कि गुरु नानक आज शिकार के लिए बाहर निकलेंगे तथा काफी लम्बा समय वनों के क्षेत्र में व्यतीत करेंगे। कुछ

भक्त शिष्य तो उत्साहपूर्वक उनके अनुगमन के लिए प्रस्तुत हुए और बाकी लोगों में विपरीत मनोभाव दृष्टिगोचर हुआ। उन्होंने सोचा कि गुरु तो पर-लोक के नाविक हैं। अध्यात्म-साधना की धारा उनके महाजीवन के स्रोत से निकलती रहती है। इस तरह एक शिकारी के वेश में वे जंगल-जंगल क्यों भटकेंगे? इसके अलावा प्रेमिक साधक एवं सिद्ध पुरुष के रूप में नानकजी सर्वत्र विख्यात हैं। ये महासाधक शिकार को जायेंगे? पशु-हत्या करेंगे, यह कैसी बात है?

इस तरह संदिग्ध चेता लोगों का एक दल चुपचाप उसी समय वहाँ से खिसक गया तथा थोड़ी संख्या में कौतूहली भक्त तथा अंतरंग शिष्य नानक के साथ जाने के लिए तैयार हो गये।

यात्रा आरम्भ करने से पूर्व गुरु ने कहा, "तुम सभी एक समूह में मेरे साथ चल रहे हो यह अच्छी बात है। परन्तु एक शर्त का सभी को पालन करना होगा। कोई अपने साथ एक पैसा भी लेकर नहीं चलेगा, जब तक मेरा यह वन-भ्रमण समाप्त न हो जाय।"

इस शर्त को सभी ने सानन्द स्वीकार कर लिया। अभ्यागत योगी तथा अपने भक्त शिष्यों के साथ नानक ने रास्ता चलना शुरू किया।

थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर देखा गया, कि रास्ते के आसपास असंख्य ताम्र-मुद्राएँ पड़ी हैं। जनहीन अरण्य में कहाँ से आ गयी? यह तो आश्चर्यजनक बात थी।

इसका तात्पर्य समझने में योगी को अधिक विलम्ब नहीं हुआ। उन्होंने मृदु स्वर में गुरु नानक से कहा, "समझ रहा हूँ, यह आपके सिद्धाई का ही खेल है। ऐसा न होने से इस दुर्गम जन-मानवहीन स्थल पर इतना पैसा कौन योंही छोड़ जायगा?"

नानक के अधरों पर स्मित हास्य की रेखा फैल गयी। मृदु स्वर में उन्होंने योगी से कहा, "आपकी धारणा ठीक ही है, परन्तु इस समय किसी से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आगे बढ़ते जाइये और चुपचाप घटनाओं को देखते जाइये।" क्षण भर बाद ही दिखलायी पड़ा कि साथ के कई लोग पीछे रुक कर ताम्र-मुद्राओं का संग्रह करते जा रहे हैं। झोली भरने के साथ-ही-साथ सभी छिप कर चुपचाप खिसक गये।

कुछ दूर और आगे बढ़ने के बाद एक और अलौकिक घटना हुई। वन-मार्ग में सड़क पर चांदी के काफी सिक्के बिखरे पड़े थे। अनुगामियों का एक

दल इनको इकट्ठे करने के बाद चुपचाप खिसक गया। नानक तथा योगी ने एक-दूसरे को अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा।

बाकी बचे साथियों को लेकर गुरु जब आगे बढ़े तो वन क्रमशः गहन होता गया। इस बार रास्ते के किनारे ढेर के ढेर सोने के सिक्के दिखलायी पड़े। अनेक शिष्य तथा सेवक इसके लोभ में पड़ गये। गुरु के आगे बढ़ते ही वे जल्दी-जल्दी उन्हें अपनी झोली में भरने लगे। उसके बाद अवसर पाकर वे वापस घर की ओर भाग चले।

अब नानक के साथियों में, मात्र कुछेक अंतरंग शिष्य ही शेष रह गये थे। इनको संबोधित करते हुए गुरु गंभीर स्वर में उन्होंने कहा, "प्रभु अलख पुरुष का महान् अनुग्रह है कि तुमलोगों में से किसी का अर्थ के मोह में पतन नहीं हुआ। परन्तु अब मैं तुम्हें एक बात विशेषरूप से स्मरण रखने को कहता हूँ। तुम्हारे सम्मुख आज एक अग्नि-परीक्षा है। इस समय मैं जो भी आदेश दूंगा उसका बिना कुछ विचार किए पालन करना होगा।"

वन में और आगे प्रवेश करने पर दिखाई पड़ा, एक मृतक को संस्कार करने के लिए वहाँ लाया गया है। शव, आपादमस्तक, श्वेत, शुभ्र वस्त्र से आवृत था। अनुष्ठान की आवश्यक सामग्री भी सारी वहाँ मौजूद थी, परन्तु आस-पास कहीं भी किसी मनुष्य के दर्शन नहीं हुए।

नजदीक पहुँचते ही मृतक शरीर की तीव्र दुर्गन्ध नाक में पड़ी। स्पष्ट हो गया कि कई दिनों से वह वहाँ परित्यक्त ही पड़ा था। अब सड़ांध आरम्भ हो गयी थी।

सभी विस्मित होकर खुसुर-पुसुर करने लगे, कि शव देह को इस तरह छोड़ कर आत्मीय स्वजन कहाँ लापता हो गये ? यहाँ बाघ तथा भालुओं का उपद्रव भी अधिक है। संभवतः हिंसक पशुओं के डर से सभी भाग गये हैं और फिर लौटकर नहीं आये।

वस्त्राच्छादित मृतक की ओर इशारा करते हुए नानक ने कहा, "तुमलोगों में से कौन ऐसा है, जो मेरे आदेशानुसार इस शव का मांस भक्षण कर सकता है ?"

गुरु का प्रस्ताव सुन कर सेवकगण बिलकुल हतबुद्धि हो गये। सड़ा हुआ शव, जिसके दुर्गन्ध से भूत भी भाग जाय, उसका भक्षण करना होगा ? यह कैसा वीभत्स प्रस्ताव है ? गुरु क्या सहसा पागल हो गये हैं ? नहीं तो ऐसी बात उनके मुख से बाहर निकलती भी कैसे ? दुर्गन्धयुक्त शव के भक्षण में

आध्यात्मिकता की बात तो कुछ भी नहीं। इसके अलावा, गुरु नानक के पास तो शिष्यगण केवल भगवत्-प्रेम तथा जगत्-प्रेम की ही प्रशस्ति सुनते आ रहे हैं। इस तरह की अघोरपंथी प्रक्रिया की बात तो कभी सुनने में भी नहीं आई। फिर ऐसा क्यों ?

नानक के सम्मुख अनेक शिष्य खड़े हैं, जो कठिन परीक्षा में बराबर उत्तीर्ण होते रहे हैं, गुरु के पास साधन लेकर दीर्घ काल से निवास कर रहे हैं तथा उनके चरणों में पूर्ण रूप से आत्म निवेदन कर चुके हैं। गुरु के इस अमानवीय प्रस्ताव को सुन कर सभी नत-मस्तक विचार कर रहे हैं।

योगिवर ने देर तक चुप्पी के बाद अब मुँह खोला। कहा, "नानकजी, आपका यह आदेश तो अब बहुत कठोर होता जा रहा है। ये सभी एकनिष्ठ भक्त प्राणों की बाजी लगाने में भी पीछे हटने वाले नहीं हैं, वे भी इस घिनौने कार्य में आगे-पीछे करने के अलावे और क्या करेंगे।"

"योगिवर ! गुरु के लिए तथा धर्म के लिए जिन्होंने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, वही असली सिख हैं। उन्हींका आधार परम प्राप्ति योग्य है। उन्हीं की पहचान करने के लिए आज की यह परीक्षा है। अपना यह आदेश मैं वापस लेने का नहीं।" नानक ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया।

एकनिष्ठ शिष्य लहना निकट ही खड़े होकर अबतक सारी बातें सुन रहे थे। अब चुपचाप आगे बढ़कर उन्होंने नानक के चरणों में प्रणाम निवेदित किया, तथा हाथ जोड़कर कहा, "यह दीन भृत्य आपके आदेशों का सर्वदा पालन करने के लिए प्रस्तुत है। इतना बता दें कि शव के किस ओर का मांस मैं पहले अपने मुख में डालूँ। दोनों पैर या मस्तक ?"

उनके साथी बिजली लगने-जैसे चौंक पड़े। भक्त लहना क्या पागल हो गया है ?

नानक ने शांत स्वर में आदेश दिया, "वत्स लहना, मृत शरीर के मध्य भाग अर्थात् कमर के पास से ही तुम भोजन शुरू करो।"

लहना निर्विकार चित्त से आगे बढ़े। सिर नीचे किए हुए वस्त्राच्छादित शव देह को खाने के लिए प्रस्तुत हुए। अकस्मात् एक अविश्वसनीय तथा अलौकिक काण्ड घटित हो गया। असहनीय सड़ांध अनायास दूर हो गयी और सड़ता हुआ शव अच्छे भोजनीय वस्तुओं में परिवर्त्तित हो गया।

वस्त्रों का आच्छादन हटाते ही दिखलाई पड़ा—ढेर के ढेर सुस्वाद फल तथा दूध से बनी भोजन सामग्री वहाँ सजा कर रखी हुई है। इस दृश्य को देखकर सभी विस्मय तथा आनन्द से अविभूत हो उठे हैं।

नानक ने अब लहना को अपने निकट बुलाया, तथा सिर पर हाथ रखकर, प्रसन्न, मधुर स्वर में कहा, "वत्स, मेरी आज की परीक्षा में तुम गौरवपूर्वक उत्तीर्ण हुए हो। तुम्हारे साधन जीवन में दुर्लभ भक्ति का उदय हुआ है। पूर्ण एकनिष्ठता से तुमने अपने को गुरु की सत्ता में विलीन कर डाला है। तुम ही वास्तविक 'सिख' हो। गुरु के प्रति तुम्हारी यह निष्ठा तथा ऐक्यबोध तुम्हें परम 'एक', उस अलख निरंजन की कालजयी महासत्ता तक पहुँचा देगी।"

योगिवर भी आनंद से उत्फुल्ल हो उठे हैं। प्रशंसाभरी दृष्टि से गुरु तथा शिष्य की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "नानकजी, लहना जैसा गुरु वा अनुगत शिष्य करोड़ों में एक मिलेगा, इसमें संदेह नहीं। उसका एक वैशिष्ट्य मुझे स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है—गुरु ध्यान तथा गुरु सेवा के माध्यम से ही उसने अपनी साधना की सिद्धि का लाभ कर लिया है। गुरु के देह और मन, स्थूल एवं सूक्ष्म, इन दोनों अंगों के साथ ही उसका सायुज्य हो चुका है। आप अपने सामने ही ऐसे शिष्य तथा साधक को अपनी मण्डली के गुरु के पद पर समासीन कर जाइये,—यह आपका ही स्वरूप विशेष होगा।"

धीर प्रशांत कण्ठ से नानक ने उत्तर दिया, "योगिवर, आपकी अंतर्दृष्टि ने बिलकुल भूल नहीं की। आप ठीक ही कह रहे हैं। लहना मेरे ही अंग का अंश है—अंगद। आज से इसी नाम से वह संबोधित होगा। सिखों के भविष्यत् गुरु रूप में भी वह आज से ही मनोनीत रहा।"

सारे उपस्थित लोगों के उल्लास तथा जयध्वनि के बीच नानक ने अंगद को परम स्नेहपूर्वक आलिंगनबद्ध कर लिया, तथा हृदय से आशीर्वाद दिया।

साथ के भक्तों की ओर देखते हुए प्रसन्न स्वर में गुरु ने फिर कहा, "तुम सभी स्मरण रखना—लहना का जो नवीन नामकरण आज हुआ तथा अपने अंग स्वरूप मानकर जो मैंने उसे अंगीकार किया, उसकी पृष्ठभूमि में गुरु-सेवा एवं आत्मत्याग का एक दीर्घ इतिहास है। उससे बार-बार चरम परीक्षा ली गयी है, तथा उसमें वह पूर्ण मर्यादा के साथ कृतकार्य भी हुआ है। अपने आत्माभिमान को पूर्णतया निर्मूल करके वह गुरुमय हो गया है। इसीलिए तो उसने गुरु के स्वरुप का अर्जन कर लिया है। मेरे सिखगण, मेरे प्रिय अंगद से यह शिक्षा युग-युग तक लाभ करते रहें।"

अंगद की गुरु-प्राप्ति, उनकी शरणागति एवं सिद्धि की कहानी मात्र सिख संप्रदाय की ही नहीं है, वरन् वह समग्र भारत के अध्यात्म-रस-पिपासु मनुष्यों के लिए अविस्मरणीय रहेगी।

पंजाब के फिरोजपुर जिले में एक छोटा-सा गांव है माटेडीसराय। यहाँ के एक अति साधारण वणिक के घर १५०४ ईसवी में द्वितीय सिख गुरु अंगद ने जन्म ग्रहण किया। पिता फेरु, व्यसाय करते हुए सत्यवादी तथा परोपकारी के रूप में सारे ग्राम में प्रसिद्ध थे। माता दया कौर सरलता तथा दया की प्रतिमूर्त्ति थी। धर्म-कर्म तथा व्रतादि में उनका उत्साह अपरिसीम था। शिशु पुत्र, लहना, एक शुभ योग में माता की गोद में आये। वणिक के घर में उस दिन आनंद की सीमा नहीं थी।

ग्राम के विद्यालय की पढ़ाई समाप्त होने पर लहना को उनके पिता ने अपने व्यवसाय में लगा लिया। पुत्र ने क्रमशः यौवन में पदार्पण किया। अब उन्हें गृहस्थ्य धर्म में प्रवेश कराने की आवश्यकता महसूस हुई। फेरु तथा दया कौर पुत्र के विवाह के लिए व्यग्र हो उठे। एक स्थानीय किसान की कन्या खीरी बड़ी सुलक्षणयुक्ता थी, और उसी को वधू रुप में वरण किया गया।

समयानुसार लहना की स्त्री ने एक के बाद एक, दो पुत्रों का प्रसव किया। उन दोनों का नामकरण हुआ—दासू तथा दातू।

भाग्य की विडम्बना, लहना अधिक दिनों तक अपने ग्राम में निवास नहीं कर पाये। दुर्धर्ष मुगल तथा बलूचियों के आक्रमण के फलस्वरूप माटेडीसराय विध्वस्त हो गया तथा पत्नी खीरी तथा दोनों पुत्रों का साथ लेकर लहना ने अमृतसर जिले के खादुर नामक ग्राम में आकर आश्रय लिया। यहाँ नये सिरे से उनके सांसारिक जीवन का श्रीगणेश हुआ।

नये परिवेश में आने के बाद लहना के जीवन में एक बड़ा परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होने लगा। देवद्विज की भक्ति में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। विशेष रूप से देवी ज्वालामुखी के लिए उनकी प्रगाढ़ निष्ठा हो गयी। प्रतिवर्ष देवीपक्ष उपस्थित होने पर, लहना ग्राम के एक दल भक्त नरनारियों को साथ लेकर ज्वालामुखी जाकर उपस्थित होते। माँ की वेदी के पास श्रद्धापूर्वक पुष्पांजलि देते तथा दोनों पैरों में घुंघरू बांधकर, उत्सव प्रांगण में भावपूर्ण नृत्य करते। परोपकारी गृहस्थ तथा भक्त साधक के रूप में मात्र खादुर में ही नहीं, आसपास के कई गाँवों में सुपरिचित तथा जनप्रिय हो गये।

एक सामान्य घटना अथवा एक सामान्य बात से कभी-कभी मनुष्य का जीवन असामान्य हो उठता है, तथा दूर-प्रसारी परिवर्त्तन ला देता है। भक्त लहना के जीवन में भी ऐसी ही एक घटना एक दिन घटित हो गयी, जिसके फलस्वरूप उनका सारा जीवन ही रूपान्तरित हो गया।

रात्रि का शेष प्रहर था। पता नहीं, कैसे लहना की निद्रा भंग हो गयी और वे शय्या पर उठ कर बैठ गये। शुक्ल तिथि का चन्द्रमा आकाश में ढल चुका है, तथा वातायन पथ से प्रवेश कर रहा है मृदु मधुर वायुहिल्लोल।

अकस्मात् लहना के कानों में भजन की अपूर्व स्वर-लहरी पड़ी। कुटीर के निकट ही भक्त योधा का निवास था। प्रायः इसी समय जबकि ग्राम के सभी लोग घोर निद्रा में मग्न रहते, वे अपने सारे कृत्यों को समाप्त करके पवित्र भजन का समारम्भ करते। परन्तु ऐसा मधुर और प्राणों को रसपूर्ण कर देने वाला भजन तो लहना के कानों में किसी दिन पड़ा नहीं! उनके हृदय-तंत्री को यह अपूर्व झंकार से उद्वेलित करने लगा तथा उनकी समग्र सत्ता को अमोघ शक्ति से आकर्षित करने लगा।

द्वार खोल कर लहना आंगन में खड़े हुए, जहाँ उन्हें स्पष्ट रूप से योधा का हृदय विगलित कर देने वाला अपूर्व संगीत सुनाई पड़ने लगा। भक्ति रसाप्लुत यह मूर्छना लहना की चेतना को दिव्य भाव से उद्वेलित करने लगा। साधक योधा आवेशपूर्वक गा रहे थे—

स्मरण कर, भजन कर, सेई परम प्रभुके,
चिरसुख आर चिर आनन्देर
उत्स रुपे जिनि रयेछेन विराजित।
ओगो, तुमि जे प्रमत्त होयोछो लोभे—
डूबछो पापेर पंके,
ताइतो मरछो तिले-तिले एमन करे
चरम दुःखेर एई दहने।
पापेर पथ चिरतरे छेड़े दाओ,
आर झांप देवार आगे देखो ताकिये।
एमनि करे ढालो पाशार दान
जेनो प्रभुर हाते ना हय तोमार पराजय,
वरन्—जिने निते पारो परमधन।

भक्त के हृदय से निकले गायन के सामान्य से कई एक पदों ने लहना के मर्मस्थल में नवीन चेतना का प्रकाश तथा नवीन मार्ग-दर्शन की ज्योति भर दी। भोर होते-होते वे व्याकुल होकर योधा के घर की ओर दौर पड़े। प्रेमपूर्वक उनका आलिंगन करते हुए उन्होंने कहा, "भाई, तुमने देह-मन-प्राण को रसपूर्ण करने वाली यह भजन-सम्पदा कहाँ से पाई है? किसने ऐसी अपूर्व वस्तु की रचना की है? किसने तुम्हें इसे सिखाया है?"

"भाई, यह मेरे गुरु, बाबा नानक की रचना है । हृदय से निकले हुए इस अपूर्व भजन को उन्होंने स्वयं ही मुझे यत्नपूर्वक सिखाया है । और इन्हीं सद्‌गुरु की शरण पाकर मैं बचा हुआ हूँ । मैं परम आनन्द में हूँ—योधा ने कृतज्ञता के स्वर में कहा ।

लहना रो पड़े और उन्होंने कातर स्वर में विनती की, "तुम्हारे आश्रय-दाता यह महापुरुष कहाँ रहते हैं ? कल रात से ही यह भजन सुनने के बाद मैं पागल-जैसा हो गया हूँ । मेरे प्राण छटपटा रहे हैं । भाई, शीघ्र ही उनका एक बार दर्शन कराके मेरा तप्त हृदय शीतल कराओ ।"

योधा, आनन्दपूर्वक राजी हो गये । कहा, "ज्वालामुखी के रास्ते में ही तो पड़ता है, कर्त्तारपुर, जहाँ बाबा नानक का अखाड़ा है । पहले जैसे ही इस बार भी तो तुम देवी-दर्शन के लिए जा रहे हो । ठीक ही तो है, कर्त्तारपुर में दो दिन रुक कर मेरे गुरु के दर्शन कर जाना ।"

लहना प्रस्ताव से सहमत हो गये । कुछ दिन बाद ही उन्होंने दल-बल के सहित ज्वालामुखी के लिए प्रस्थान किया । कर्त्तारपुर रास्ते में ही था । लहना ने सभी को बुलाकर कहा, "रावी नदी के तट पर, अपने आश्रम में प्रभु नानक का निवास है । वे इस क्षेत्र में एक विख्यात सिद्ध पुरुष हैं । सोच रहा हूँ कि सभी मिलकर उनके दर्शन कर आवें । उसके बाद ज्वालामुखी जाकर देवी के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित करेंगे । एक ही यात्रा में हमलोगों को दोनों पुण्यों का लाभ होगा । तुम लोगों की क्या राय है ?"

इस प्रस्ताव में किसी को क्या आपत्ति है ? सभी एक साथ नानक के आश्रम में उपस्थित हुए ।

अर्धनिमीलित नेत्रों से महापुरुष, भावाविष्ठ होकर बैठे हुए हैं । कई अंतरंग शिष्य भक्ति आप्लुत कण्ठ से परम प्रभु की स्तुति गा रहे हैं । मर्दाना के रबाब से झंकृत हो रही है सुमधुर स्वर मूर्छना । भक्त श्रोताओं का प्राण-मन स्वर्गीय आनन्द से विभोर है । उर्ध्व स्थित, भाव लोक में मानो सभी विचरण कर रहे हैं ।

इस अपूर्व परिवेश में निकट ही उपविष्ट इन महासाधक के सम्मुख खड़े लहना बिलकुल आत्म विस्मृत हो गये है । भजन समाप्त हो जाने पर, कातर होकर वे नानकजी के चरणों में गिर पड़े । अश्रु-सजल नयनों से उन्होंने अपने मनस्ताप तथा आर्त की बात निवेदित की । उन्होंने प्रार्थना की, "प्रभु, संसार की दहन ज्वाला से मैं बिलकुल दग्ध हो चुका हूँ, कृपया आप मेरा उद्धार करें। चरणों में आश्रय देकर मेरी जीवन रक्षा करें ।"

बाबा नानक ने, परम स्नेह से उन्हें आलिंगनबद्ध किया, खोद-खोद कर उन्होंने बहुत सारे प्रश्न कर डाले, तथा उनके जीवन के सारे तथ्य ज्ञात कर लिए। उसके बाद उन्होंने शांत स्वर में कहा, "वत्स, ज्वालामुखी जाने का संकल्प लेकर आये हो, इसलिए अभी तुम वहीं जाओ। उसके बाद फिर कभी सुविधानुसार मेरे साथ साक्षात्कार करो।"

"प्रभु, जिस ज्वाला को लेकर प्रति वर्ष मैं ज्वालामुखी जाता हूँ, वह आज आपके दर्शन करके ही शांत हो गयी है। वहाँ जाने की आकांक्षा बिलकुल समाप्त हो गयी है। अब से मैं आपके चरणों में ही पड़े रहना चाहता हूँ तथा आपकी ही सेवा में यह देह-मन-प्राण विसर्जित कर देना चाहता हूँ।"

विस्मित तीर्थयात्रियों को लहना ने अपने विचारों से अवगत करा दिया तथा झोली से नये खरीदे हुए घुंघरुओं के जोड़े निकालते हुए उन्होंने कहा, "देवी ज्वालामुखी के वेदी के सम्मुख ये घुंघरू पहन कर मैं प्रति वर्ष नृत्य-गीत करता हूँ। अब इनका प्रयोजन मुझे नहीं है। इसलिए मैं मात्र ज्वालामुखी ही नहीं, अपने ग्राम खादुर की घर-गृहस्थी में भी वापस नहीं जा रहा हूँ।"

साथ के लोग बहुत समझाने-बुझाने लगे, "ऐसा क्यों भाई, घर पर तुम्हारी स्त्री तथा दो पुत्र हैं, तथा वृद्ध माँ-बाप भी हैं। उन सभी को छोड़कर तुम साधु हो जाओगे? ऐसी बातें क्यों करते हो, लहना? इसके अलावा तुम सभी को ज्वालामुखी तीर्थ ले जाने के लिए आये हो। अब हम लोगों को छोड़ देने से तुम पाप के भागी होगे। नहीं-नहीं, ऐसा पागलपन मत करो।"

"जिस सुख तथा जिस आनन्द के लिए मैंने जीवन भर इतनी भाग-दौड़ की है, वह मैं कर्त्तारपुर आकर पा गया हूँ, भाई। तब यत्र-तत्र दौर-भाग का प्रश्न ही कहाँ उठता है?"—लहना ने हँस कर उत्तर दिया।

युक्ति-तर्क, वाद-विवाद, सभी व्यर्थ हुए, लहना को डिगाना सम्भव नहीं हो सका। साथी ग्रामवासीगण विरक्त होकर अपने गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

गुरु ने उन्हें आश्रय दिया है, तथा अंगीकार किया है, इससे लहना के आनन्द की सीमा नहीं है। प्राण-पन से वे बाबा नानक की सेवा करते हैं, और बाकी समय अंतरंग शिष्यों के साथ व्यतीत करते हैं।

नानक सुप्रसिद्ध महापुरुष हैं तथा उनके व्यक्तित्व का आकर्षण भी अपरिसीम है, इसलिए दिन-रात आश्रम में भक्त तथा दर्शनार्थियों की भीड़ जमी रहती है। दरबार तथा लंगरखाने में लोगों की भीड़ सदा लगी ही रहती

है । इस भीड़ में, बीच-बीच में, लहना अपना आपा ही खो बैठते हैं तथा आत्मविस्मृत हो उठते हैं ।

दैनिक कार्य, ध्यान-भजन से छुट्टी पाने पर उनके मन में कितने तरह के प्रश्न उमड़ते हैं तथा कितनी कातर प्रार्थना जगती है । वे नवागत भक्त हैं—दीनातिदीन । बाबा नानक के घनिष्ट साहचर्य तथा बहु-प्रार्थित कृपा लाभ करना उनके लिए कहाँ तक सम्भव होगा, कौन जाने ? अंतर में प्रबल आकांक्षा है—अवसर पाकर बाबा के श्रीमुख से निकली तत्व विवेचना सुनेंगे, तथा साधन निर्देश ग्रहण करेंगे । परन्तु इस भीड़ में उन्हें अपनी आकांक्षा पूर्ति की कोई संभावना नहीं दिखलाई पड़ती । फिर उपाय क्या है ? उनकी क्या गति होगी ?

अंतर्यामी नानक ने नवागत भक्त के अंतर की व्यथा समझ ली । उन्होंने कहा, "वत्स लहना, तुम्हारे अंतर में यह व्यर्थ दुःख क्यों ? अपने को सर्वथा निःशेष करके परम प्रभु के चरणों में अर्पित कर डालो । उनके स्वरूप का ध्यान—मनन करते जाओ और अविराम उनका नाम कीर्त्तन करते रहो । वे ही अपने सर्वस्व हैं । इसी तरह एक को मनसा-वाचा-कर्मणा अपना बना लेना, अपने स्व को निश्चिह्न करके डूब जाना, यही साधना है, वत्स ।"

"जिसको जानता नहीं, पहचानता नहीं, उसे अपना बना लेना तथा उसमें विलीन हो जाना, यह क्या साधारण बात है, प्रभु ?"—भक्तप्रवर लहना ने सविनय निवेदन किया ।

"वत्स, यह परम बोध तो एक दिन में नहीं जग उठता है । इसके लिए चाहिए, निरंतर उनके स्वरूप का ध्यान । फिर भी मेरी एक जपजी सुनो । उनकी स्तव गाथा इसमें ईंगित हैं :—

केउ तो ताके करेनि सृष्टि,
केउ करेनी ताके प्रतिष्ठित,
अनाद्यन्त स्वयंभू आमार प्रभु—
परम 'एक' रूपे रयेछेन चिर-विराजमान ।
आराधना जे-ई करेछे ताके
पेयेछे सीमाहीन मर्यादा ।
नानक, प्राणभरे गाओ तार स्तुति गान
सकल किछु महत्व ओ माधुर्येर जिनि आकर ।
गाओ आर शोन तार गुण गान,

तार प्रेमे रसायित करो तोमार चित्त—
तबेई दूर हबे सकल दुःख आर दैन्य,
सकल सुखेर जिनि पारावार—
हे नानक, तातेई हये जाओ विलीन।
ईश्वरेर वाणी रयेछे निहित गुरुक उपदेशे—
गुरुक उपदेशेई, हे मुमुक्षु, लाभ करबे तुमि ज्ञान,
गुरुई एने देबेन तोमार परम उपलब्धि।
ईश्वर रयेछेन अनुस्यूत एई विश्व चराचरे।
हे मुमुक्षु, गुरुई शिव, गुरुई ब्रह्मा विष्णु,
गुरुई तोमार पार्वती लक्ष्मी आर सरस्वती[1]

स्वरचित जपजी की आवृत्ति करने के पश्चात् नानक, नीरव हो गये, तथा उन्होंने प्रेमपूर्वक लहना की ओर दृष्टि निबद्ध किया।

भावगद्गद् कण्ठ से नवीन भक्त ने उत्तर दिया, "बाबा विश्वप्रभु के विश्वातीत स्वरूप को आपने उद्घाटित किया। परन्तु यह तो हमारे जैसे लोगों की ध्यान-धारणा से परे हैं। क्षुद्र नौका लेकर महापारावार मैं किस साहस से पार कर सकूँगा ? वास्तविक रूप में मुझे अच्छा साथ भी नहीं है।"

"हे वत्स ! पार कराने वाली कड़ी उसका परम पवित्र नाम ही है। इस नाम का श्रवण करते-करते पहले देह तथा मन को पवित्र करो। उसके बाद शुद्ध शरीर के आधार पर उसी नाम रूपी अमोध बीज का रोपण करो। मेरे एक पुराने 'जपजी' में नाम माहात्म्य का दिग्दर्शन है—

प्रभुर नाम माहात्म्येर नेई सीमा—
ता शुधु श्रवण करले मानुष हय उर्ध्वायित
हय शिव, ब्रह्मा आर इन्द्रेर मतन देवता।
ए नामेर जादू अभाजनके करे महाजन,
देहचक्रेर रहस्य करे भेद,
आर एने देय योगसाधनार पथ संधान।
नाम—श्रवणेर चात्रिते हय उन्मोचित
शास्त्र, स्मृति आर वेदेर निहितार्थ।
नानक, भक्त साधुराई जे चिर-धन्य।
मधुमाखा नाम श्रवणेर फले
तादेर दुःख आर पाप हय अपसृत।[1]

---

१. मैकलिफ् : द सिख रिलिजन (जपजी) भोल्यू १, पृ० १९८

इसके बाद एक दिन लहना ने नानक को छेड़ दिया, "बाबा, सारी घर-गृहस्थी छोड़कर आपके चरणों में आकर शरण लिया है, अब कृपा करके मुझे दीक्षा दें। आपके सिख संगत में इस दीन के प्रवेश का अधिकार है।"

आश्वासन देते हुए नानक ने कहा, "वत्स, तुम अधीर मत होओ। पहले कुछ दिनों के लिए तुम अपने घर वापस चले जाओ। पिता, माता तथा स्त्री-पुत्रगण तुम्हारे विचारों की सूचना पाकर व्याकुल हो उठे हैं। उन्हें समझा कर शांत करो तथा सांसारिक व्यवस्था इत्यादि जो भी करनी है उसे समाप्त करो। उसके बाद कर्तारपुर वापस आओ, तभी मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।"

निर्देश मानने के अलावा और कोई चारा नहीं था। लहना को खादुर वापस जाना पड़ा। आत्म-परिजनों ने बिलकुल आशा छोड़ दी थी, और वे लहना को वापस आया देख कर बहुत प्रसन्न हुए।

लहना ने स्त्री से सारी बातें विस्तारपूर्वक बताईं। बाबा नानक के दर्शन के बाद उनके जीवन में कैसा आमूल परिवर्तन आ गया था, इसका भी उन्होंने वर्णन किया। समझाया, "इतने दिनों तक पिता-माता तथा तुम लोगों की सेवा की है, अब अपना हृदय गुरु की सेवा में समर्पित करूँगा। भाग्यवश ही मैंने बाबा नानक जैसा जीवन नौका का खेवनहार पाया है। उन्हीं के निर्देशानुसार अपनी जीवन तरी को डुबो दूँगा। फिर तुम लोगों को भी कोई भय नहीं है। मैं संसार से विरक्त होकर कहीं भागा नहीं जा रहा हूँ। गुरु के आश्रम में ही निवास करूँगा, अथवा अपने घर को ही आश्रम में परिवर्तित करके यहीं गुरु प्रदत्त साधन को सार्थक करूँगा।"

पत्नी खिवी की शंका एवं दुश्चिंता पूर्णतया निर्मूल न होते हुए भी वे कुछ हद तक आश्वस्त हो गयीं। जितने भी वैषयिक दायित्व थे, वे दोनों पुत्रों पर डाल कर लहना ने मुक्ति की साँस ली। उसके बाद भजन गाते-गाते कर्तापुर की ओर रवाना हुए।

आश्रम में पहुँचते ही नानक की पत्नी सुलखनी देवी ने लहना को आदर-पूर्वक अपने पुत्र रूप में ग्रहण किया। गुरु नानक उस समय घर पर नहीं थे। खेतों में फसल कट रही थी—इसी फसल से सारे वर्ष पर्यन्त अतिथि सत्कार चलता था, इसीलिए नानक स्वयं उपस्थित रह कर उसकी कटाई करा रहे थे। लहना तेजी से वहाँ पहुँच गये।

गुरु की चरण वन्दना करने के बाद उन्होंने देखा कि गुरु कुछ परेशान से हैं। बड़े-बड़े तीन ढेर वहाँ इकट्ठा करके किसान लोग दूसरे खेत में काम करने के लिए गये हुए थे। अब इसे ढोकर किस तरह आश्रम में पहुँचाया जाय?

कीचड़ भरे खेत से फसल काटी गयी है तथा इन बोझों को सिर पर रखने से कपड़े बिलकुल खराब हो जाँयगे। साथ के भक्त शिष्यगण में किसी को भी इस कार्य के प्रति उत्साह नहीं है। सभी एक दूसरे का मुख देख रहे हैं।

लहना जल्दी-जल्दी उन ढ़ेरों की ओर आगे बढ़े। मृदु स्वर में उन्होंने बाबा नानक से जिज्ञासा की कि कितने बोझों को यहाँ से हटाने की आवश्यकता है? उत्तर मिला—जितना भी वह ढ़ो सके।

काफी प्रयत्न करके तीनों ढ़ेरों को एक के ऊपर एक करके लहना ने अपने सिर पर उठा लिया, उसके बाद गुरु के साथ रास्ते चलने लगे।

आश्रम पहुँचते ही दोनों सुलखनी देवी के सामने पड़ गये। लहना के माथे पर पर्वताकार बोझे थे। यह दृश्य देख कर नानक की पत्नी क्रोध से तिलमिला उठीं। स्वामी को तीव्र तिरस्कार करते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारी अक्ल कैसी हो गयी है? एक नया लड़का घर आया है, उसके सिर पर इतने बड़े-बड़े तीन बोझे तुम कैसे रखने का साहस कर सके? क्या कोई और आस-पास नहीं था? भक्त सिखगण तथा दोनों पुत्र कहाँ थे? देखो तो, लहना बच्चा किस तरह क्लान्त होकर हाँफ रहा है। कटी हुई फसल का सारा कीचड़ शरीर पर बह रहा है। नये कपड़े बिलकुल ही मैले हो गये हैं। उसकी ऐसी दुर्दशा तुमने क्यों की?"

मुस्कराते हुए नानक ने उत्तर दिया, "सुलखनी, भगवान ने स्वयं कृपा करके लहना के सिर पर तीन-तीन बोझे रखने की व्यवस्था की है।[1] ये अनाज के बोझे उसी के आभास मात्र हैं। और वस्त्र पर कीचड़ लग जाने की बात कहती हो! ध्यान से देखो, वह कीचड़ नहीं है, वह तो गैरिक स्राव है।"

केवल सुलखनी देवी ही नहीं, उस प्रांगण में खड़े भक्त तथा शिष्यों के दल ने विस्मित होकर एक अलौकिक दृश्य देखा। लहना की शेरवानी, कुरता तथा पगड़ी उसी क्षण वैरागी सन्यासियों द्वारा व्यवहृत गैरिक रंग में रंग गयी है।

सभी उपस्थित लोग गुरु नानक तथा लहना को घेर कर समवेत स्वर में बार २ जयध्वनि करने लगे—'वाह गुरुजी की फतह?

---

१. सिखों का विश्वास है कि भक्तप्रवर लहना के माथे पर ये तीन अनाज के बोझे उत्तरकाल में गुरु अंगद के तीन इश्वरीय दायित्वों के प्रतीक हैं। ये तीन हैं—आध्यात्मिक, वैषयिक एवं गुरु गद्दी सम्बन्धी दायित्व।

कुछेक दिन के अंदर ही एक शुभ लग्न देखकर बाबा नानक ने लहना को दीक्षा दान किया, और उन्हें सिख रूप में ग्रहण किया, तथा निकटतम अंतरंग पार्षद एवं शिष्यों में उन्हें स्थान दिया।

गुरु के निर्देशानुसार आज से भक्त लहना की आध्यात्मिक साधना निगूढ भक्ति साधना के मार्ग पर अग्रसर हुई। इसके लिए उन्होंने कृच्छ साधना तथा तपस्या किसी को भी नहीं छोड़ा और अपनी इस कठोर साधना की मूल भिति के रुप मे उन्होंने गुरु सेवा तथा गुरु निष्ठा को कभी नहीं छोड़ा।

अध्यात्म-साधना एवं सिद्धि का प्रसंग उठने पर लहना कहते, "साधना की प्रधान बाधा होती है, आत्माभिमान, जो मनुष्य की खण्ड वुद्धि को जोवित रखती है तथा उसे सर्वमय सर्वपरिप्लावी ईश्वर सत्ता से विच्छिन्न करके रखती है। इस आत्माभिमान को समूल नाश करने के लिए चाहिए, एकनिष्ठ गुरु सेवा तथा सेवा एवं आत्मत्याग के माध्यम से गुरु के साथ एकात्म हो जाने की प्रवृत्ति तभी प्रकृत सौभाग्योदय होता है तथा ध्येय वस्तु, अलख पुरुष, से साक्षात होता है।"

साधक लहना के गुरु सेवा के उद्यापन में कभी भी विन्दु मात्र भी त्रुटि नहीं हुई। गुरु की सामान्यतम इच्छा उनके लिए अलंघनीय आदेश हो जाता। इसके लिए उन्होंने दिन पर दिन सारे दुःख और कष्ट निर्विकार चित्त सहन किया तथा अपने को पूर्णतया उत्सर्ग कर दिया।

गुरु नानक ने भी अपने इस चिह्नित अंतरंग शिष्य की कम परीक्षा नहीं ली। एक बार हिमालय में खूब बर्फ की आंधी चल रही थी तथा सारे पंजाब में भयानक शीत लहरी चल रही थी। इन्हीं दिनों कर्तारपुर में अकस्मात् प्रबल वर्षा का ताण्डव शुरु हुआ। हवा का प्रबल वेग तथा वर्षा से विराम नहीं था। रात्रि के अंतिम प्रहर में दिखाई पड़ा कि नानक के आश्रम भवन की एक बड़ी दीवार के नीचे का हिस्सा धस गया है।

गुरु नानक बहुत परेशान हो उठे, तथा व्याकुल स्वर में उन्होंने कहा, "इसकी अभी मरम्मत न करने से नहीं चलेगा। तुम लोग शीघ्र ही, जैसे भी हो, इसकी कोई व्यवस्था करो। मरम्मत नहीं करने से दीवार गिर जायगी और सभी दब कर मर जांयगे।"

इस असह्य शीत तथा वर्षा में कैसे यह कार्य संभव हो सकेगा? सामान तथा गारे का कैसे प्रबन्ध होगा? इसके अलावा राज मिस्त्री कहाँ मिलेंगे? नानक के दोनों पुत्रों ने राय दी, "भोर हो जाने पर वर्षा तूफान रुकने के बाद मिस्त्री को खबर दी जायगी। वह आकर जो भी संभव होगा करेगा।"

"राज मिस्त्री की बात ही क्यों उठती है ? गुरु के आश्रम के सारे कार्य उनके एकनिष्ठ भक्त सिखों द्वारा ही संपन्न होते हैं, इसका क्या तुम्हें ज्ञान नहीं है ?" —नानक ने विरक्त होकर भर्त्सना की ।

लहना अब तक चुप बैठे थे । अब धीरे २ वे कक्ष से बाहर निकल गये । प्रयोजनीय सारे उपकरणों की जोगाड़ करके स्वयं ही, उस तूफानी रात में गुरु द्वारा आदिष्ट कार्य में लग गये ।

क्रमशः प्रभात हुआ । कई घन्टों के कठोर परिश्रम के फलस्वरूप लहना का कार्य भी समाप्तप्राय था । देखने के बाद गुरु-गंभीर स्वर में नानक ने कहा, "नहीं, जैसा सोचा था, वैसा नहीं हुआ । तुमने दीवार की मरम्मत अवश्य की है, परन्तु वह टेढा हो गया है । सबको फिर से तोड़ कर उसे नये सिरे से बना डालो ।"

बिना किसी तर्क के लहना ने उसी समय दीवार खोल डाली । तथा फिर नये सिरे से निर्माण कार्य आरंभ हुआ ।

दूसरी बार भी गुरु को संतुष्ट नहीं किया जा सका । उन्होंने कहा, "लहना इस बार देखता हूँ कि तुमने और अधिक भूल कर दी है । दीवार की सारी भित्ति को और पीछे खिसका दो, उसके बाद फिर सब नये सिरे से तैयार करो ।"

गुरुसर्वस्व लहना के लिए, गुरु की सामान्यतम इच्छा भी सदा शिरोधार्य थी । उनकी इच्छा की पूर्ति के लिए वे हँसते २ सदैव अपने प्राण विसर्जित करने को भी प्रस्तुत रहते । गैंती तथा फावड़ा लेकर वे फिर से काम में लगे ।

दिन की समाप्ति पर दिखाई पड़ा कि यह सारा कार्य भी गुरु को संतुष्ट नहीं कर सका । आदेश मिला, इसे फिर नये सिरे से तैयार करना होगा ।

बार २, यह निरर्थक तोड़ने-बनाने का कार्य देखकर सिख गण सभी अवाक् हैं । गुरु के पुत्र तो लहना से कह भी पड़े, "इस अयुक्तिपूर्ण कार्य के लिए तुम्हे इस तरह पागलों की तरह लगे रहने का कोई मतलब नहीं है । इसे फालतू बात छोड़ कर और क्या कहा जा सकता है ? "

त्योरी चढा कर लहना उठ खड़े हुए । उन्होंने उत्तर दिया, "विद्या, बुद्धि, सामर्थ्य जो कुछ भी था, सभी तो गुरु के चरणों में अर्पित कर दिया है । उसे तो अब वापस लेना संभव नहीं है । फिर गुरु के आदेश की यौक्तिकता पर विचार का सुयोग मुझे कैसे मिले ?"

नानक निकट ही खड़े थे । शांत स्वर में उन्होंने कहा, "इस मनुष्य का मूल्य समझने की सामर्थ्य तुममें से किसी को नहीं है । सेवा तथा प्रेम की

कठिन परीक्षा में लहना ससम्मान उत्तीर्ण हो गया है। वह अखण्ड चेतना से उद्बुद्ध होकर हृदय में अलख पुरुष का अमृत स्पर्श पा चुका है। भक्त लहना धन्य है, तथा उसे पाकर सिखगण भी धन्य हैं।"

इस घटना के कुछ ही दिन बाद नानक के दरबार में उनके योगी बन्धु उपस्थित हुए थे और नानक का वह शिकार का अभिनय शुरु हुआ था। शव भक्षण का आदेश देकर गुरु ने गुरुगतप्राण लहना की भक्ति पराकाष्ठा की परीक्षा ली थी, तथा उनका नूतन नामकरण हुआ—अंगद।

गुरु के आश्रम में क्रमशः अंगद के तीन वर्ष व्यतीत हो गये, जहाँ उन्होंने निष्ठा पूर्वक साधन जीवन की अमूल्य संपदा का अर्जन किया। एक दिन गुरु ने बुला कर कहा, "वत्स, अब तुम कुछ दिनों के लिए खादुर में अपने भवन में जाकर निवास करो। दीक्षा बीज तो मेरे पास से पहले ही पा चुके हो, तथा श्री भगवान का नाममंत्र भी तुम्हें मिल चुका है। उसका यत्न-पूर्वक अभ्यास करते जाओ। उसके बाद आवश्यकतानुसार मेरा निर्देश तुम्हें मिलेगा।"

परम भक्त अंगद के दोनों चक्षु अश्रुसजल हो उठे। वाष्परुद्ध कण्ठ से उन्होंने निवेदन किया, "बाबा इतने दिनों तक कृपा धारा की अविरल वर्षा करने के बाद आज मुझे दूर क्यों खिसका रहे हैं? आपकी सेवा में मैंने क्या कोई त्रुटि की है?"

"नहीं अंगद, ऐसा कुछ नहीं है। सेवा-निष्ठा तथा त्याग-तितिक्षा में तुम अतुलनीय हो। मेरी इच्छा है कि तुम कुछ दिनों के लिए गंभीर प्रभाव से बाहर रहो।"

"क्यों गुरु जी?"

"अकेले साधन भजन संपन्न करने का प्रयास भीतर से भित्ति को पहले मजबूत कर देती है। वत्स, संसार का त्याग करके तुम्हें साधन नहीं करना होगा वरन् संसार के आवर्त में रहकर ही तुम श्री भगवान के तपस्या का उद्यापन करो। उससे एक तरफ तुम्हारी परीक्षा होगी तो दूसरी तरफ मेरी भक्तगोष्ठी तुम्हारा पवित्र साहचर्य पावेगी।"

विदा होने का समय उपस्थित है। विच्छेद-व्याकुल भक्त को आश्वासन देते हुए नानक ने कहा, "वत्स अंगद, एक बात सर्वदा स्मरण रखना, तुम जहाँ भी तथा जितनी दूर भी रहोगे, मुझे सर्वदा तुम अपने अंतर में ही पाओगे।"

अंगद के खादुर आने के साथ-साथ शहर में प्रसन्नता का वातावरण छा गया। अनेक लोग जानते हैं कि नानक के वे अत्यन्त अंतरंग शिष्यों में

से हैं—इसी कारण भक्त तथा मुमुक्षु गणों के दल के दल उनके घर पर आकर भीड़ करने लगे ।

एक दिन नगर-प्रधान तखत मल उनके पास आकर उपस्थित हुए । दीर्घ काल तक वैषयिक जीवन व्यतीत करने के बाद उन्हें संसार से विरक्ति जग पड़ी है । उनकी आंतरिक इच्छा है कि अंगद उनको साधन-भजन के संबन्ध में कुछ उपदेश दें तथा अध्यात्म जीवन को सफल करने में उनकी सहायता करें ।

दीन भाव से अंगद ने उत्तर दिया, "भाई मैं बिलकुल अभाजन हूँ । गुरु के संतोष लायक मुझमें योग्यता कहाँ है ? मेरे जैसा क्षुद्र आधार, उनकी कृपा धारण कर सके यह कैसे संभव होगा ? मैं बाबा नानक का शरणापन्न होकर उन्हीं की ओर सदा देखता रहता हूँ । तुम भी इन सद्गुरु की ओर ही दृष्टि फेरो । उन्हें अपनी भक्ति तथा प्रेम अर्पित करो । उसी से तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी ।"

भक्तप्रवर ने उसी समय उत्साहपूर्वक तखतमल को नानक-रचित एक स्तुति गान सुनाया—

प्रभु आमार तादेरई करेन उज्जीवित
हृदये जादेर आछे प्रेमेर बीज,
तादेरई परे अकृपण केर ढालेन कृपा –
भुलिये देन जत किछु दुःख आर शोक ।
नियतिर जेमन तरयेछे विधान
तेमनिभावे घटे गुरुर आविर्भाव,
उद्धार करेन मानुष के त्रिताप थेके,
ठेले देन तार तृषित कण्ठे
श्री भगवानेर संजीवनी नामेर सुधा ।
विरल सौभाग्ये ताराई हय भाग्यवान,
दुःखी भिखारीर मत, जन्म मृत्युर पापचक्र पथे
घुरे घुरे, मरते हयना तादेर ।
उगो, जे पेयेछे प्रभुर दरबारे ढोकार अधिकार
से केनो पृथिवीर मानुष के जानाबे कुर्निश !
स्वर्गेर द्वारी इश्वरेर एई पार्षद के खुले देबे द्वार—
आर मर्त्तेर मानुषेर मुक्ति तोरण
उन्मोचित हबे तार दाक्षिण्यमय कृपाय

नियतिर विधान विधृत रयेछे प्रभुर हाते,
कार कि करबार आछे ता निये ?
प्रभु जे आमार सर्व नियंता—
सृष्टि, स्थिति आर प्रलयेर आवर्तन चक्र
घुरछे सदाई तार दृष्टिर इंगिते ।
हे नानक, डुबे जाओ प्रभुर नाम सुधार सागरे
धन्य हओ पेये तोमार परम धन ।[1]

इस अपूर्व स्तुति की रचना सद्गुरु नानक ने की है । तथा उसका आवेगपूर्वक अश्रु सजल नेत्रों से सस्वर पाठ कर रहे थे उनके प्रियतम शिष्य अंगद । तखत मल के हृदय में श्रवण मात्र से ही इस स्तुति का अलौकिक प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ । भक्ति रस से परिपूर्ण होकर वे बार-बार अंगद के चरणों में लोटने लगे ।

जन समूह के समक्ष, अंगद जितनी भी वैष्णवीय दीनता प्रदर्शित करते, लोग उन्हें उतने ही उच्च कोटि का महापुरुष समझ कर आदर करते । कर्तारपुर में गुरु नानक के प्रधान शिष्य के रूप में उनकी ख्याति पहले से ही थी । अब यहाँ आने पर उनके दर्शन करके तथा उनकी बातें सुनकर लोगों का आकर्षण और भी बढ़ने लगा । दर्शनार्थी तथा जिज्ञासुओं की भीड़ बराबर रहने लगी । भक्त भी कम नहीं जुटे । सभी ने मिलकर उनके निवास स्थान को एक आश्रम में ही परिवर्तित कर डाला जिसमें अभ्यागत तथा शरणार्थियों के लिए एक छोटा-मोटा लंगरखाना ही खुल गया ।

इस तरह भक्त-प्रधान अंगद को केन्द्र करके, खादुर में, नानक पंथी सिखों का एक विशिष्ट केन्द्र धीरे धीरे तैयार हो गया । काफी लोग उनके आश्रम का लाभ करके धन्य हो गये ।

प्रिय शिष्य को देखने के लिए नानक सदल -बल दो बार उनके घर आये । कृपालु गुरु से इन दिनों अंगद को निगूढ़ साधना के नाना निर्देश प्राप्त हुए, जिनका लाभ कर उन्होंने वह आकांक्षित भक्ति सिद्धि की प्राप्ति की । सारे संसार को श्री भगवान की दिव्य सत्ता से अनुस्यूत देख कर वे कृतार्थ हुए ।

पिछली बार जब नानक खादुर आये हुए थे तब अंतरंग भक्तों के साथ, कई दिन परम आनन्द में व्यतीत हो गये । विदा से पूर्व, प्रातः उन्होंने एकांत में अपने प्रिय पार्षद अंगद को अपने पास बुलाया । स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स, तुम्हारी कृच्छ्र साधना, त्याग और तपस्या अब शेष हो चुकी ।

१—मैकलिफ , भोल्यू–२, पृ. ७

इन सभी की अब तुम्हे कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे समस्त साधन ऐश्वर्य का तुम लाभ कर चुके, तथा आज तुम्हारे और मेरे भीतर कोई पार्थक्य नहीं है। तुम्हारा अंगद नाम आज सार्थक हुआ और तुमने मेरे स्वरूप का अर्जन कर लिया। आज तुम मेरा श्रेष्ठतम आशीर्वाद एवं अभिनन्दन ग्रहण करो।"

कुछ ही दिनों बाद की बात है। भक्त अंगद गुरु-दर्शन हेतु कर्तारपुर गये हुए हैं। आश्रम में आजकल सर्वदा भीड़ लगी ही रहती है, तथा जो भी गुरु के दर्शन हेतु आते हैं वे दो-चार दिन यहाँ टिक भी जाते हैं। इन अनेक अतिथियों के निवास तथा भोजन की सारी व्यवस्था नानक तथा उनके शिष्यों को ही करनी पड़ती है।

अंगद जिस दिन गुरु के आश्रम में पहुँचे उस दिन दर्शनार्थियों की भी भीड़ लगी हुई थी। घोर वर्षा तथा दुर्योग का समय था। अविरल वर्षा हो रही थी। जिसके कारण रावी के तट बाढ़ के कारण जल-प्लावित थे। आश्रम की सारी रसद चुक गयी थी और नये खाद्यान्न के संग्रह का कोई उपाय नहीं दिखलाई पड़ रहा था। परन्तु बहुत से अतिथियों के भोजन की व्यवस्था आवश्यक थी। परिचालकगण निरुपाय होकर नानक के शरणापन्न हुए।

सारा क्षेत्र जल-प्लावित हो चुका था तथा काफी तलाश करने पर भी खाद्य सामग्री का प्रबन्ध नहीं हो सका था। कहा जाता है कि उस दिन आश्रम-वासियों को इस संकट से त्राण दिलाने के लिए नानक ने अपनी योग विभूतियों का प्रयोग किया।

ध्यानासन का त्याग कर वे बाहर आये तथा अंतरंग शिष्यों के साथ निकटवर्ती बगीचे में उपस्थित हुए। एक कीकड़ के वृक्ष के नीचे पहुँच कर उन्होंने अंगद को आदेश दिया, "वत्स, इसकी शाखा पर चढ़ कर उसे खूब जोर से हिलाओ तो। तुम सभी के लिए उपयोगी पर्याप्त खाद्य सामग्री यहीं से प्राप्त हो जायगी।"

सभी विस्मय से अवाक रह गये। यह कैसी अविश्वसनीय बात गुरु कह रहे हैं? नानक के पुत्र श्री चन्द कह उठे, "कीकड़ के वृक्ष के डाल तथा पत्ते काटों से भरे रहते हैं, तथा फल भी तीते तथा अखाद्य हैं। इस वृक्ष से कोई सुस्वादु वस्तु मिल सकती है, ऐसी बात तो कभी सुनने में नहीं आयी।"

"तुमने ठीक ही सुना है। फिर भी आज अपनी ही आँखों से देखो कि भक्तों पर संकट होने से श्रीभगवान की अलौकिक कृपा का प्रकाश

अवश्यंभावी है। इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। भक्त वीर अंगद, आज तुम सभी का इस विपत्ति से उद्धार करेगा।"

गुरु के इंगित मात्र से अंगद सम्मुखस्थ कीकड़ वृक्ष पर चढ़ गये। डाल जोर से हिलाते ही जमीन पर ढेर-की-ढेर सुस्वादु फल तथा मिष्टान्न का वर्षण होने लगा।[१]

इस अत्याश्चर्यजनक दृश्य को देखकर भक्त सिख आनंद से अधीर हो उठे तथा बार-बार जयध्वनि उच्चारित करने लगे।

कई प्रधान सिख हाथ जोड़कर आगे आये तथा नानक की चरण-वन्दना करके कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए कहने लगे, "बाबा, हम सभी आज धन्य हो गये। आपकी ऐसी योग विभूति की लीला हम लोगों ने प्रत्यक्ष देखी, यह कम सौभाग्य की बात नहीं है!"

"इसके लिए भक्त अंगद को धन्यवाद दो।"

"ऐसी क्या बात है, बाबा! अंगद को इससे क्या मतलब था? यथार्थ तो यह है कि आज का यह अलौकिक काण्ड आपकी सिद्धाई के बल से ही घटित हुआ है। हम सभी समझ रहे हैं, कि आपने यह विभूति-लीला भक्त तथा मुमुक्षुओं के विश्वास को दृढ़ करने तथा उनके ज्ञान-चक्षुओं को उन्मीलित करने के लिए ही की है।"

"मेरी विभूति लीला है—यह बात तो तुम ठीक कह रहे हो। परन्तु लीला के चिह्नित धारक तथा वाहक के आगे नहीं आने पर क्या लीला कभी संभव होती है? भक्ति-सिद्ध अंगद के लिए ही, ईश्वरीय शक्ति का यह प्रकाश तुम देख सके। अंगद का अन्तर आर्त होकर पुकार रहा था—कि गुरु के आश्रम में इतने लोग निराहार रहेंगे और गुरु की यह अमर्यादा उसे खड़े-खड़े देखनी होगी! श्री भगवान ने उसकी आर्त पुकार सुन ली। वह जिस समय मेरे आसन के पास जाकर खड़ा हुआ, मेरे अंतर में एक अमोघ दैवी निर्देश का अभ्युदय हुआ। इसलिए, आज की इस घटना के लिए तुम अंगद का ही अभिनन्दन करो।"

सिखों का एक विशेष पर्व उस दिन था। जप जी तथा आशा-की-वार के पाठ की समाप्ति पर दरबार में बैठ कर गुरुजी तत्त्व तथा साधन के संबन्ध में भक्तों को निर्देश दे रहे थे। अकस्मात् पवित्र गद्दी से वे नीचे उतर आये। धीर, प्रशांत स्वर में उन्होंने सभी को संबोधित करते हुए कहा, "तुम सभी पुराने तथा नये भक्तगण, अनेक यहाँ उपस्थित हो। आज तुम सभी के समक्ष मैं

---

१ मैकलिफ: द सिख रिलिजन—भोल्यू-२, पृ. २२

अपने दीर्घ जीवन-नाटक के एक बड़े अध्याय का समापन करूँगा। इस परिवर्तन के साथ मैं अकेला जुड़ा हुआ हूँ, ऐसी बात नहीं, वरन् समग्र सिख-मण्डली इससे जुड़ी हुई है।"

बाबा नानक, क्या कहना चाह रहे हैं, यह किसी को ज्ञात नहीं हो सका। भक्तगण निर्निमेष दृष्टि से उनकी ओर देखते ही रह गये। क्षणभर में आगे बढ़ कर उन्होंने अंगद का हाथ पकड़ लिया और उन्हें स्नेहपूर्वक अपनी गद्दी पर उपविष्ठ कराया।

निकट ही थाली में एक नारियल तथा पाँच ताम्र मुद्राएँ सजायी हुई थीं। अंगद के सम्मुख उसे रखते हुए पुराने सिख भाई बुधा से गुरु ने कहा, "तुम्हारे सम्मुख आज मैं एक महत्वपूर्ण घोषणा करना चाहता हूँ। तुम सभी स्मरण रखना कि भक्त अंगद ही मेरे गद्दी का उत्तराधिकारी हो रहा है। बुधा, तुम सभी लोगों की ओर से अंगद के मस्तक पर चंदन से तिलक करो। इसके बाद सभी समवेत स्वर में जगत् प्रभु अलख पुरुष की जय-ध्वनि करो।"

आदेश का अविलम्ब पालन हुआ। सारा दरबार भक्त शिष्यों के आनंद-गुञ्जन से मुखरित हो उठा।

सभी को संबोधित करते हुए नानक ने कहा, "मेरा आदेश है, कि तुम सभी इतने दिनों तक मनसा-वाचा-कर्मणा मेरी सेवा करते रहे तथा श्रद्धा, भक्ति एवं आनुगत्य दिया है वैसे ही अंगद को भी देना। वह मेरी ही प्रतिमूर्ति है।"

अंगद के गुरुजी की गद्दी की प्राप्ति पर नानक के दोनों पुत्र प्रसन्न नहीं हुए। अपने अंतर में जो आकांक्षा वे संजोए बैठे थे, उसके पूर्ण होने की अब कोई आशा नहीं रही थी।

दोनों पुत्रों की ओर देखते हुए नानक ने कहा, "गुरु के पद का अधिकार, मात्र वही कर सकता है, जिसने अपनी जीवन-साधना चरम त्याग एवं तितिक्षा की भित्ति पर समाप्त की है, तथा जिसने अपने को गुरु में विलीन कर दिया है।"

गद्दी आरोहण पर्व की समाप्ति पर गुरु ने निर्देश दिया, "अंगद, तुम खादुर जाकर स्थायी रूप से निवास करो। वहीं हजारों सिख भक्तों के आचार्य तथा पथप्रदर्शक का भार लो। शीघ्र ही मेरा जीवन-दीप बुझ जायगा। उसके लिए पहले से ही प्रस्तुत हो जाओ, वत्स।"

अश्रुपूर्ण नेत्रों से अंगद ने आश्रम से विदा ली। अपने निजी भवन में आकर उन्होंने गुरु द्वारा निर्देशित कर्मों का उद्यापन प्रारंभ किया।

अंगद को गुरु गद्दी पर आसीन कराने के कुछ ही दिन पश्चात्, महासाधक नानक ने अपने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। अगणित भक्त तथा मुमुक्षु गुरु के विच्छेद से शोक-सागर में निमग्न हो गये।

अंगद शोक से अत्यन्त अधीर हो उठे। उनके हृदय में तीव्र वैराग्य का उदय हो गया। मानस में यही बात बार-बार उठने लगी, कि गुरु नानक उनके जीवन की ज्योति थे। जब वह प्रकाश ही समाप्त हो गया तब फिर क्यों जन-जीवन के मध्य, इस असार संसार से क्यों चिपके रहें, इस गुरुगिरी की क्या आवश्यकता है ?

एक दिन शोकातुर, सड़क पर चले जा रहे थे। अकस्मात् एक स्त्री भक्त से उनकी भेंट हो गयी। वह अति दीन तथा दरिद्र थी तथा उपले बेच कर अपना जीवन निर्वाह करती, फिर भी साधु-सन्तों के प्रति उसकी श्रद्धा अपरिसीम थी। किसी महात्मा के दर्शन पाते ही वह उनकी सेवा के लिए तत्पर हो उठती।

नेहाली द्वारा सादर अभ्यर्थना करते ही अंगद के हृदय से एक विचार उदित हुआ। गुरु के शरीरपात के पश्चात, बहिरंग जीवन के प्रति बड़ी वितृष्णा का उदय हो चुका है। अब कुछ दिनों तक अज्ञातवास करके ध्यान-भजन में समय व्यतीत करने में क्या हानि है ?

उन्होंने कहा, "नेहाली, क्या तुम मेरा एक उपकार करोगी ? मैं सोच रहा हूँ कि कुछ दिनों तक जनसाधारण की दृष्टि से दूर हो जाऊँ। उसके लिए तुम क्या अपना एक छोटा कमरा खाली कर सकोगी ?"

"क्यों नहीं, प्रभु ? आपके लिए यह सामान्य कार्य कर सकना, यह तो इस अभागिनी के लिए परम सौभाग्य की बात है।" हाथ जोड़ कर नेहाली ने निवेदन किया।

"इसी घर में मैं एकान्त-वास करूँगा, तथा गुरु के स्मरण-मनन में मैं रत होऊँगा। ध्यान रखना, किसी को भी इस बात का ज्ञान न हो। बाहर से दरवाजे में ताला बन्द कर डालो और दिन शेष होने पर मेरे आहार के लिए थोड़ा दूध रख जाया करो।"

नेहाली उत्साहपूर्वक राजी हो गयी, और उसी दिन से उपले बेचने वाली की घर में अंगद का अज्ञातवास आरंभ हो गया। इस प्रकार छः मास से अधिक समय व्यतीत हो गया।

बाबा नानक का परलोक-वास हो चुका है, तथा गुरु अंगद छिप कर कहीं साधन-भजन में निमग्न हैं, और महीने पर महीने बीत रहे हैं एवं उनका कोई पता नहीं चल रहा है। भक्त सिखगण दुःख, शोक से हताश से हो रहे हैं।

भाई बुधा की पुराने-भजनशील साधु के रूप में सिख-मंडली में यथेष्ट ख्याति थी। नानक के अंतरंग प्रिय-भक्त के रूप में भी उनकी मान्यता थी। शीर्षस्थ सिख साधकगण एक दिन दल बना कर उनके पास उपस्थित हुए।

भाराक्रान्त हृदय से उन सभी ने आवेदन किया, "भाई बुधा, हम लोगों की विपत्ति की बात तुम्हें पूर्णतया ज्ञात है। बाबा नानक का तिरोधान हो चुका है। उनके अभाव में, उनके द्वितीय स्वरूप, गुरु अंगद, सिखों के आश्रयदाता होंगे, यही आशा सबके हृदय में थी। परन्तु, हम लोगों का दुर्भाग्य, वे पता नहीं कहाँ अंतर्धान हो गये हैं। अनुसंधान करने में हम लोगों ने कोई कोर कसर नहीं रखी परन्तु उसका कोई फल नहीं निकला। इस विपत्ति से तुम्हें ही हमलोगों का उद्धार करना होगा।"

"परन्तु, मैं इस विषय में क्या कर सकता हूँ?"

"प्रयास करने पर तुम कर सकते हो। ध्यान के बल से ज्ञात करके तुम हमलोगों को, अंगद कहाँ छिपे हुए हैं, उस स्थान का पता बताओ। शोक विह्वल भक्त सिखों के हृदय में एकमात्र तुम्ही सांत्वना तथा शांति का प्रलेप प्रदान कर सकते हो।"

सभी का सामूहिक अनुरोध, भाई बुधा, टाल नहीं सके। ध्यान की प्रक्रिया से उन्हें ज्ञात हो गया कि अंगद नगर के बाहरी भाग में एक दरिद्रा उपले बेचने वाली के घर रहकर गोपन रूप से साधन-भजन में निमग्न है। बिल्कुल अंतर्मुखीन, तथा बाह्य जगत से संबन्ध स्थापना की उनकी इच्छा भी नहीं है।

भाई बुधा को आगे करके सिखों का दल व्याकुल हृदय से उस दिन अंगद के नूतन निवास स्थान पर जाकर उपस्थित हुआ। परन्तु लोगों ने देखा कि कक्ष के द्वार पर बाहर से ताला लगा हुआ था।

आगंतुकों के प्रश्न करने पर नेहाली ने निवेदन किया, "आपलोग गलत जगह आ गये हैं। यह हमारा कूड़ा घर है, तथा मैं यहाँ अकेले ही निवास करती हूँ। गुरु अंगद के नाम का तो कोई यहाँ रहता नहीं।"

भाई बुधा के दोनों नेत्र प्रदीप्त हो उठे। दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा, "तुम व्यर्थ हमलोगों के साथ चालाकी कर रही हो। मेरी ध्यान दृष्टि में कभी भूल होना संभव नहीं है। हम लोग सही स्थान पर ही आये हैं, इसमें संदेह नहीं। इसके अलावा तुम एक बात ध्यान में रखो। सूर्य सर्वदा स्वयं प्रकाशवान है। उसकी आलोक धारा स्वाभाविक रूप में चारो ओर फैल जाती है। उसी तरह गुरु अंगद के आविर्भाव तथा स्थिति की बात

किसी तरह छिपाना संभव नहीं है। मैंने ध्यान के माध्यम से ज्ञात कर लिया है। वे इसी रुद्ध कक्ष के भीतर सशरीर विद्यमान हैं। गुरु से तुम निवेदन करो कि हम सभी उनके दर्शन की प्रार्थना करते हैं।"

संवाद मिलते ही अंगद बाहर आ गये तथा भाई बुधा के सहित सभी पुराने भक्तों को उन्होंने आलिंगन बद्ध कर लिया।

गुरु की ओर दृष्टि पड़ते ही सभी भक्त शिष्य गण चौंक पड़े। छह महीने की एकांत साधना के कारण, यह कैसा अद्भुत रूपान्तर हो गया है, उनका? मानों वे नानक के द्वितीय मूर्ति ही हों। मुख मण्डल पर वही स्वर्गीय दीप्ति हैं तथा बातचीत और आचरण भी उन्हीं के जैसा है। यहाँ तक कि आकृति भी लगभग बाबा नानक के अनुरुप ही हो गयी है। सभी को ज्ञात हुआ कि इन छह महीनों के ध्यान-भजनमय एकांत जीवन से अंगद को अपरिमेय साधन ऐश्वर्य का लाभ हो चुका है, और वे भक्तिसिद्ध महा—पुरुष के रूप में रूपान्तरित हो चुके हैं। परम आनंद से वे समवेत कण्ठ से उनकी जयध्वनि करने लगे।

अंतरंग भक्त तथा बन्धुओं के मिलन से अंगद का चित्त प्रसन्न हो रहा है। उन्होंने कहा, "भाई बुधा, देश में सभी जानते हैं कि बाबा नानक के शिष्यों में तुम्हीं सबसे पुराने तथा ज्ञानी हो। गुरु कृपा से तुमने कम अलौकिक शक्तियों का अर्जन नहीं किया है। इसीलिए अज्ञात वास की चेष्टा करके भी तुम्हें भुलावा नहीं दे पाया।"

बुधा ने उत्तर दिया, "बाबा नानक की यह कभी इच्छा नहीं थी कि गुरु गद्दी इस तरह खाली रहे। तुम फिर जन जीवन में वापस आकर भक्त एवं मुमुक्षुओं का उद्धार करो।"

अंगद को स्वीकृति देनी ही पड़ी। उन्होंने कहा, "भाई बुधा, ठीक है तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो। मैं भक्तों के बीच ही अब वापस चल रहा हूँ।"

सिखों की ओर देख कर अंगद ने हँसते हुए कहा, "स्वयं बाबा नानक भी भाई बुधा की प्रशंसा करते थे, मैं किस गिनती में हूँ। क्या तुम जानते हो कि भाई बुधा ने किस तरह बाबा के पास आकर आश्रय लिया था? उस समय बुधा निरे बालक थे। आक्रमणकारी सुलतान के सैनिक एक दिन उनके गाँव पर टूट पड़े। खेत की सारी पकी फसल को काट कर वे ढो ले गये। बुधा ने दौड़ते हुए जाकर अपने पिता से कहा, "यह कैसा काण्ड हो गया? वे सब कुछ ले गये, क्या हम लोग अब भूखों मरेंगे? तुम अभी जाकर उन्हें रोको।" बाप ने उत्तर दिया, "यह तू क्या कहता है? सुलतान

की सेना के विरुद्ध लड़ने की मेरी क्षमता कहाँ है ? छोटी अवस्था से ही भाई बुधा मननशील थे। उनके हृदय में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठा— "पिता, सुलतान के आक्रमण से ही हमलोगों को बचाने के लिए राक्षम नहीं हैं, फिर मृत्यु से किस तरह रक्षा कर सकेंगे ?"

भाई बुधा ने शर्माते हुए बाधा दी, "गुरु अंगद, अब इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से क्या लाभ है ?"

"लाभ अवश्य है। तुम्हारे जैसे महान लोगों के जीवन को दृष्टान्त स्वरूप प्रस्तुत करने पर साधारण मनुष्य को चारित्रिक बल, शक्ति तथा ज्ञान बुद्धि की प्राप्ति होगी।"

साथियों की ओर देखते हुए अंगद ने कहना जारी रखा, "हां, उसके बाद बुधा बाबा नानक के पास भाग आये। नानक उनके अंतर की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा— भाई, तुम बालक होकर भी ज्ञानी लोगों जैसी बात कहते हो ! पूर्व जन्मों के संस्कार के फलस्वरूप तुम्हारे अंतर में प्रकृत ज्ञान का उदय हो गया है जो कि साधारणतः वृद्धावस्था में नाना तिक्त अनुभवों तथा घात-प्रतिघात के फलस्वरूप आती है। तुम यथार्थतः ज्ञान वृद्ध हो ! इसलिए आज से तुम्हारा नवीन नामकरण हुआ—बुधा (वृद्ध)। बाबा नानक भाई बुधा के ज्ञान को सर्वदा सिखों की सेवा हेतु नियोजित रखते।

उस दिन से अंगद, सिखों के अनुरोध पर, अपने अज्ञात वास से बाहर आये और पूर्ववत् गुरु-गद्दी पर समासीन हुए।

उनकी दिनचर्या का अधिकांश भाग, ईश्वर चर्चा, भजन तथा मुमुक्षु, एवं आर्तजनों के कल्याण कार्यों में ही व्यतीत हो जाता। सूर्योदय से तीन घंटे पूर्व वे शय्या त्याग करते तथा नदी में स्नानादि कृत्यों का समापन करके अपने ध्यानासन पर उपविष्ट होते। उदयाचल पर प्रातः सूर्य के आसीन होने से पूर्व ही दरबार में भक्तगण उनके पास जप जी तथा आशा की उदय का पारायण आरंभ करते। उसके बाद आरंभ होता, आर्त तथा असाध्य रोगों से ग्रस्त लोगों के दुःख निवारण का अध्याय। सिद्ध महापुरुष के पास दूर दूर से लोग आकर इसके लिए धरना देते, तथा कृपा लाभ के पश्चात् वे आनंद पूर्वक अपने अपने स्थानों को वापस जाते।

अंगद का धर्म दरबार एक दर्शनीय वस्तु थी। तात्विक उपदेश तथा भजन संगीत से यह सर्वदा मुखरित रहता–जिससे दर्शनार्थी भक्त, मुमुक्षु तथा साधक एवं दर्शनार्थीगण के हृदय में उज्जीवन तथा उद्दीपना का संचार करता।

यह दरबार सर्वजन सुलभ था। सभी स्तर के मनुष्य—अन्त्यज एवं दरिद्रतम व्यक्ति से लेकर समाज के श्रेष्ठतम पंडित तथा धनी व्यक्ति यहाँ उपस्थित होते, तथा महान गुरु के उपदेशों एवं आशीर्वाद से शांति और भगवत् प्रेम का लाभ करते।

अंगद के साधन-उपदेश की सार वस्तु थी -- आत्मत्याग एवं शरणागति। लौकिक तथा अलौकिक शक्तियों के माध्यम से, साधना के ये दोनों मूल तत्त्वों को जिज्ञासुओं के हृदय में आरोपित कर देते।

धिगा नामक एक नाई भक्त अंगद का प्रियपात्र था। एक दिन उसने गुरु के सम्मुख निवेदन किया, "बाबा, मैं मूर्ख तथा दीन-हीन हूँ, परन्तु हृदय में व्यर्थ की आशाएँ हैं। श्रीभगवान की कृपा प्राप्ति के लिए आपके आश्रय में भिखारी के रूप में पड़ा हूँ। कृपा करके मुझे सही रास्ता दिखा दें।"

अंगद ने उत्तर दिया, "धिगा, दीन-हीन अनुभव करने के कारण ही तुम्हें विशेष सुविधा है। पहले से ही मेरे करुणामय प्रभु की कृपा प्राप्त कर चुके हो। प्रभु के वरद् चरणों की प्राप्ति के लिए, सर्वप्रथम उनके चरणों में आत्मोत्सर्ग करना होता है। गुरु-सेवा और गुरु के प्रति एकनिष्ठ समर्पण के अलावा वह आत्मोत्सर्ग तो कभी सर्वांगीण नहीं होता। आत्माभिमान का विनाश करके गुरु का आश्रय लो। वे ही तुम्हें परम प्रभु के धाम का मार्ग प्रशस्त करेंगे।"

मालू शाह नामक एक भक्त किसी मुगल सेनाध्यक्ष के अधीन कार्य करता था। एक दिन तत्वोपदेश के लिए अंगद को पकड़ा। उससे उन्होंने कहा, "मालू तुम अपनी साधना इस मुनीब की सेवा के माध्यम से प्रारंभ करो। जितनी भी विपत्तियाँ आवे, प्रतिपक्ष के जितने भी आक्रमण हों, मुनीब के पास खड़े होकर उसकी रक्षा करना तथा उसके लिए आत्मोत्सर्ग तक कर डालना ही तुम्हारा प्रधान कर्तव्य होता है। और यही तुम्हारे धर्म-जीवन की असली भित्ति होगी।"

सारे जीवन पाप कर्म में लिप्त रहने के बाद, केदारु नामक एक व्यक्ति अनुतप्त हृदय से महापुरुष अंगद के शरणापन्न हुआ। वह बार-बार विनती करने लगा, "बाबा, पाप की अग्नि ने मुझे चारों ओर से घेर रखा है। दया करके मुझे बतायें कि मेरे लिए क्या उपाय है, तथा मेरे उद्धार का मार्ग क्या है?

आश्वासन देते हुए अंगद ने कहा, "वत्स केदार, गहन अरण्य में जब दावानल प्रज्वलित हो उठता है तब असहाय हरिणों का झुण्ड क्या करता है ? पहले वे भयाक्रान्त हो चंचल होकर थोड़ी देर तक इधर-उधर दौड़ भाग करते हैं। उसके बाद छाया वेष्ठित, स्निग्ध तोया किसी सरोवर के तट पर जाकर वे अपने शरीर को शीतल कर लेते हैं। उसी तरह पाप के अग्नि को शांत करने के लिए किसी समर्थ तथा सिद्ध गुरु के चरणों का आश्रय लेना होगा। उसका उपदेश ही चिरशांति के प्रलेप का कार्य करेगा।"

बलवन्ता और सत्ता, दोनों ही गुरु अंगद के धर्म-दरबार के प्रधान गायक थे। सुमधुर कण्ठ तथा संगीतज्ञ के रूप में उनकी प्रचुर ख्याति थी। सैकड़ों की संख्या में भक्तों तथा दर्शनार्थियों की उनके भजनों के गायन को सुनने के लिए भीड़ होती, तथा वे मुग्ध होकर उन्हें साधुवाद देते।

क्रमशः बलवन्ता तथा सत्ता के मन में अहंकार हो गया। धीरे धीरे यह सीमा को लांघता गया और वे अपनी इच्छानुसार लोगों पर उपद्रव करने लगे, यहाँ तक कि प्रधान एवं श्रद्धाभाजन सिखों को भी कटुउक्तियाँ सुनाने तथा अपमान करने की धृष्टता करने लगे। ये सारी बातें गुरु अंगद के कानों में भी पहुँची और वे बहुत रुष्ट हो उठे।

उद्धत गायकद्वय को इससे कोई चिंता नहीं हुई, उलटे गुरु के साथ ही उनलोगों ने झगड़ा शुरु कर दिया। अंततः धैर्य की सीमा लांघ जाने पर अंगद ने इनको सभा से निकाल दिया।

बलवन्ता और सत्ता, अब प्रकाश्य रूप में विद्रोह करके कहने लगे, "ठीक है, हमलोग गुरु-दरबार के प्रधान गायक हैं। यदि हमलोग ही चले गये तो दरबार की शोभा क्या रहेगी ? अबसे हमलोग अपने घरों में ही भजन गायन की मजलिस जमाएँगे। सभी लोग देखते ही रह जाएँगे कि किस तरह भीड़ लग जाती है, तथा किस तरह एक नूतन मण्डली का गठन हो जाता है।"

सिक्खों में किसी ने भी इन दोनों दुष्टों को समर्थन नहीं दिया। अंततः थोड़े ही दिनों के बाद उनपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। बन्धु-बान्धव भी उनसे कतराने लगे तथा भक्त शिष्यगण भी सतर्कतापूर्वक उनकी उपेक्षा करने लगे। सामाजिक असहयोग, लांछना एवं अर्थकष्ट के फलस्वरूप बलवन्ता तथा सत्ता बिलकुल टूट गये। उनके हृदय में तीव्र पश्चात्ताप का उदय हुआ, तथा प्रधान भक्तगण के पास जाकर वे विनती करने लगे, "हम लोग नासमझी में यह कुकर्म कर बैठे हैं। गुरु का विरोध करके अधर्म में पतित हो गये हैं। तुम लोग कह-सुन कर इस बार मुझे माफी दिलवा दो।"

एक दिन अंगद के पास इस बात की संकोचपूर्वक चर्चा हुई। वे आग-बबूला हो उठे। उत्तेजित स्वर में उन्होंने कहा, "भूल और मूर्खता की तो मार्जना है, परन्तु गुरु का विरोध करने जैसा कोई पाप नहीं है। और इस पाप की कोई मार्जना नहीं है। इन दुष्टों की ओर से जो लोग सिफारिश कर रहे हैं, उनको भी मैं मण्डली की परंपरा की रक्षा हेतु दण्ड दूँगा। मूँछ दाढ़ी कटवा कर तथा माथे पर गंदगी लगवा कर उसे गधे की पीठ पर बैठाया जायगा, और उसे शहर के मुख्य मार्गों पर घुमाया जायगा।"

दो महीने बाद बलवन्ता और सत्ता ने लाहौर जाकर नानक के अंतरंग शिष्य भाई लोवा से कातर प्रार्थना की। रो-धोकर वे विनती करने लगे, "भाईजी, हम सभी जानते हैं कि गुरु अंगद आपसे प्रेम तथा श्रद्धा करते हैं। गुरु, हम लोगों के ऊपर बहुत क्रुद्ध हो गये हैं। कृपया उनसे अबकी बार कह कर हमलोगों के अपराध माफ करा दें तथा दरबार में वापस जाने की आज्ञा दिला दें। हमलोग जानते हैं कि आपकी बात को वे कभी नहीं टालेंगे।"

भाई लोवा, सारी बातें आद्योपान्त सुन चुके हैं। इन दोनों विद्रोही शिष्यों की माफी की बात जो भी कहेगा, उसे गुरु दण्ड देने से बाज नहीं आवेंगे, इस बात से भी वे अवगत हैं। फिर भी इन दोनों अनुतप्त सिखों की सहायता से वे कैसे मुंह मोड़ सकते हैं! उनका हृदय दयार्द्र हो उठा। उन्होंने सोचा कि इन अपराधियों के पाप मार्जना में सहायता अवश्य ही देनी होगी। वे कितने भी पथभ्रष्ट क्यों न हों, उन्हें सत्पथ पर आने का अधिकार तो है ही! वे कृपालु गुरु से क्षमा क्यों नहीं पावेंगे?"

दूसरे ही दिन खादुर के राजपथ पर एक विचित्र शोभा यात्रा दृष्टिगोचर हुई। सर्वजन श्रद्धेय सिख साधक, भाई लोधा, एक गधे के पीठ पर उलटा होकर बैठे हुए हैं। सिर मुड़ा हुआ है तथा मुह में कालिख लगी हुई है। उनके सम्मुख चल रहे हैं, गुरु द्वारा निष्कासित गायक शिष्यद्वय बलवन्ता और सत्ता।

तीनों का यह अद्भुत जुलूस सारे राजपथ का परिभ्रमण करके अंततः गुरु अंगद के दरबार में उपस्थित हुआ।

अंगद अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने प्रश्न किया, "भाई लोधा का आज यह कैसा मजाक है? इस वेश में, तथा इस तरह यहाँ क्यों आये हैं?"

लोवा ने उत्तर दिया, "भक्त सिखगण, सभी तो गुरु जैसे पूर्ण ज्ञानी नहीं है! भूल-भ्रान्ति तो उनसे होना स्वाभाविक ही है। परन्तु गुरु जी

सारी कृपाओं के मूल स्रोत हैं, उनकी कृपा वे क्यों नहीं पाएँगे ? अपनी रक्षा का सुयोग पाने से वे क्यों वंचित रहेंगे ?"

"यह तो मैंने समझा। परन्तु आपकी असली बात क्या है, यह तो बताने का कष्ट करें ?"

"अनुतप्त वलवन्ता तथा सत्ता को आप क्षमा दान दें, तथा दरबार में पूर्ववत् उन्हें भजन शुरूकरने की अनुमति दें। ऐसा नहीं करने से उनका जीवन सर्वथा नष्ट हो जायगा।"

पुराने गुरु भाई के अनुरोध की गुरु अंगद ने रक्षा की। उसके वाद एकत्रित भक्त तथा दर्शनार्थियों को संवोधित करते हुए उन्होंने कहा, "साधक भाई लोधा के एक विराट् स्वरूप का तुमलोगों ने आज दर्शन किया, तथा उससे धन्य हुए। उनका मानव प्रेम कितना उत्कट है ! दूसरों के उपकार के लिए आत्मोत्सर्ग कर देने की कैसी प्रबल प्रवृत्ति है ! साधना के फलस्वरूप, आत्माभिमान पूर्णतया विनष्ट हो चुका है। इसी कारण तो महापुरुष दुर्जनों के उद्धार साधन हेतु, विना किसी ग्लानि के, इस तरह अपमान तथा लांछना सहने को प्रस्तुत हो गये हैं। देख लो, ऐसे सिद्ध-साधक मेरे प्राण-सर्वस्व गुरुजी, बाबा नानक की महान सृष्टि के रूप में इस धरातल पर विचरण करते हैं।"

अमरदास प्रभृति अंतरंग शिष्यों को लक्ष्य करते हुए गुरु ने कहा, "तुम लोग सर्वदा स्मरण रखना कि भक्त साधकों की भावनाओं में तथा हृदय में सत्-श्री-अकाल का चिरंजीव 'नाम' सदा जागरूक रहे तथा उनके कर्म सदा आर्त एवं मुमुक्षु मानवों के उद्धार के लिए तत्पर रहें। जिनके जीवन में मनन, कर्मों का यह आदर्श एवं धृति नहीं है, मानवदेहधारी होते हुए भी, उनका जीवन अभिशप्त है ! वह अपना स्वार्थ तथा अपने अभ्युदय में ही व्यस्त है। असली स्वार्थ होता है निःश्रेयस् एवं मुक्ति--यह बात उसे सर्वथा अज्ञात है। वह मात्र एक विना सींग-पूँछ का जीव है–इसके अलावा उसका क्या परिचय हो सकता है ? उसके जन्म-ग्रहण में क्या कोई सार्थकता है ? आयु की समाप्ति पर अन्तिम क्षण में भयानक दैत्य के रूप में मृत्युभय उसका कण्ठरोध करने आवेगा। मर्मभेदी निःस्वास छोड़कर असहाय जैसा वह खाली हाथ यहाँ से सदा के लिए चला जायगा। इसी से कहता हूँ, ईश्वर प्रेम तथा मानव-प्रेम—यही भक्तों के जीवन का मूल मंत्र हो। यह प्रेम ऐश्वर्य किसी त्याग तथा तितिक्षा से तुलनीय नहीं है।

सिख धर्म संगीत, माझ की वार में गुरु कई अनवद्य पदों की रचना कर गये हैं। भक्तिरस एवं शरणागति की बातों से परिपूर्ण हैं ये पद। वे कहते हैं;

देखछि, सुनछि आर जानछि प्रत्यक्ष अभिज्ञताय,
वित्त विभव आर भोग सुखेर मध्ये थेके
श्री भगवान के नाम ना कभु पावा।
मर्त्येर मानुष रमेछे सदा ऐहिक उल्लासे मत्त
कई तार गतिवान पदयुगल,
जा दिये पौंछुबे से परम पदे ?
कई तार शक्तिमान बाहु,
जा प्रसारण करे धरबे से परम प्रभुके ?
कई तार स्वच्छ शुद्ध दिव्य आंखि,
जा दिए करबे अलख निरंजन के दर्शने ?
उगो, आसना विनाष्टिर भय—
ताई होक तोमार धावन शील पदद्वय।
उदार सर्वप्लावी प्रेम होक तोमार बाहु।
ज्ञानेर आलो हये उठुक तोमार आंखि युगल।
कहे नानक, एई नियेई जे एगिये जाबि तुई,
प्रेममय प्रभुर मिलन मंदिरे।[1]

नानक द्वारा प्रचारित भक्ति रसाश्रित और प्रपत्तिमय साधना के एक मूर्त्त विग्रह थे, गुरु अंगद। उनके साधन जीवन तथा श्लोकावलि में भी साधना के यही मूल स्वर प्रस्फुटित हो उठे हैं। उनके द्वारा रचित, एक जनप्रिय भक्ति स्तोत्र में इसका स्पष्टतर परिचय मिलता है—

तुमिई देह, तुमिई आत्मा—
हे आमार परम प्रभु,
पूर्ण तुमि प्राणप्रिय तुमि,
आत्मार आलोरुपे रमेछे तुमिई चिर दीप्यमान।
हे मोहन जादूगर, हे आमार हृदय हरण,
तोमार मधु नामेर ध्यान मनन
हृदये मोर ज्वालिए दियेछे ज्ञानेर ज्योति।

---

१ मैकलिफ—गुरु अंगद, भोल्यूम २—पृ: ४६–४७

करेछे मोरे तोमार नित्यदास,
ताई तो धारण करे तोमार ऐ चरण दुटि
नाश करेछि आमार सर्व अभिमान।
पाप आर मतिच्छन्नताय छिलेम ऐतोकाल अन्ध,
ज्वलेछि दुःसह ज्वालाय निरंतर,
से पाप से दहन ज्वाला थेके पेयेछि मुक्ति।
ऐ असंभव संभव हयेछे, हे आनन्दमय,
कारण, तोमाय भालवेसेछि, आर जपेछि तोमार नाम
अहंबोध हयेछे विदूरित,
संसार के करेछि त्याग,
हृदय कन्दर उद्भासित हयेछे ज्ञानेर आलोय।
अपापविद्ध प्रेममय परम सत्ता तुमि,
सेई तोमार सुरे मिलेछे आमार सुर,
ताई मानुषेर मतामत आज अर्थहीन आमार काछे।
हे आमार दयित, अतीते जेमनटि दियोछो आश्रय
तमनि दाओ आबार भविष्यते—
तोमार मत आपन केउ जे नेई आमार।
प्रभुर नामेर रंगे जे रांगिये नेबे वास,
जगत् माझे सेई तो हवे परम सुखी,
—हे प्रभु दाओ तारे तोमार परम आश्रय।'

इन्हीं दिनों सम्राट् हुमायूँ तथा शेरशाह में प्रबल संघर्ष चल रहा था। कन्नौज के पास एक बड़े युद्ध में हुमायूँ की पराजय हुई और अन्य कोई चारा नहीं देख कर उन्होंने हिन्दुस्तान त्याग का सिद्धान्त स्थिर किया। लाहौर क्षेत्र में आने के बाद बातचीत में ही उन्होंने सिद्ध पुरुष, गुरु अंगद की बात सुनी। उन्होंने सोचा कि फकीर तथा साधुओं के सिद्धाई के बल से कभी-कभी दुरुह कार्य भी संपन्न हो जाते हैं! संभव होने पर गुरु अंगद के अलौकिक शक्ति की सहायता लेने में दोष क्या है?

साधु के लिए प्रचुर भेंट संग्रह की गयी। इसके बाद कुछ घनिष्ट सहकर्मी तथा रक्षकों का एक दल लेकर हुमायूँ अंगद के दरबार में हाजिर हुए। प्रभाती भजन संगीत अभी-अभी समाप्त हुआ है। अर्धनिमीलित

१ गुरु अंगद के दरबार नगरी खादुर से प्राप्त एक पुरानी पोथी से—मेकालिफ : भोल्यूम २, पृ ५७

नेत्रों से गुरु अपने आसन पर भावाविष्ट बैठे हुए हैं। भक्त तथा शिष्यगण, नीरव, निर्निमेष दृष्टि से इस स्वर्गीय दृष्य को देख रहे हैं। इसी समय सम्राट् ने सदल-बल, धर्म दरबार में प्रवेश किया।

सभी गुरु की ओर ही एकटक देख रहे हैं, इसलिए हुमायूँ की उपस्थिति की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। किसी ने भी उसकी सादर अभ्यर्थना नही की तथा यह भी नहीं पूछा कि जो भेंट लेकर वे आये हुए हैं, उसे कहाँ रखना है ?

इस तरह कुछ देर तक खड़े रहने के बाद हुमायूँ क्रुद्ध तथा उत्तेजित हो उठे। अनायास ही उनका हाथ म्यान में रखी तलवार के मूँठ पर चला गया। यह साधु कितना ही बड़ा क्यों न हो, इस तरह की उपेक्षा तथा अपमान सहन करने को वे राजी नहीं हैं। तलवार के प्रहार से अभी वे सब कुछ तहस-नहस कर डालेंगे।

परन्तु, यह कैसा आश्चर्य ! सम्राट् की तलवार म्यान में ही किस तरह अटक गयी ? काफी चेष्टा तथा प्रयास करने पर भी उसे किसी तरह बाहर निकालना संभव नहीं हो पा रहा है।

हुमायूँ भयभीत हो उठे। क्या सिद्धायी की शक्ति से साधु ने ही यह काण्ड किया है ?

गुरु अंगद अबतक प्रकृतिस्थ हो उठे थे। नयन उन्मीलित करते हुए उन्होंने शांत मृदु स्वर में नवागत दर्शनार्थी, हुमायूँ को संबोधित करते हुए कहा, "देख रहा हूँ, कि जहाँ का जो कर्त्तव्य है, उसे करने में सम्राट् असफल रहे। शेरशाह के ऊपर इस तलवार को चलाने का प्रयोजन था, परन्तु सम्राट उस समय ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सके। इस समय आप भगवान के प्रतिनिधि साधु महात्माओं के सम्मेलन में आये हुए हैं। उन्हें भक्तिपूर्वक सलाम करेंगे तथा मर्यादा देंगे, यह करना तो दूर रहा, आप तलवार लेकर उनके ऊपर हमला करना चाह रहे हैं। युद्ध क्षेत्र से तो आप कायरों जैसे पलायन कर आये, और यहाँ निरस्त्र, ईश्वर-उपासना रत, साधुओं की जमात में पहुँचते ही आप पराक्रमशाली वीर योद्धा हो गये हैं। यह क्या बहुत लज्जा की बात नहीं है ?"

हुमायूँ के लज्जा एवं पश्चात्ताप की सीमा नहीं रही। आंतरिक क्षमा प्रार्थना के बाद उन्होंने महात्मा के कृपा भिक्षा की याचना की।

शांत स्वर में अंगद ने कहा, "सम्राट्, निरस्त्र साधु के अंगों पर आघात के लिए उद्यत होकर आपने पाप किया है। इस तलवार की मूँठ पर

यदि आप हाथ नहीं देते तो अपना खोया हुआ साम्राज्य, अविलम्ब ही पुनः प्राप्त कर लेते। देख रहा हूँ, अब कुछ दिनों के लिए आपको इस देश का त्याग करना होगा, तथा नाना दुःख एवं लांछनाओं को सहन करना होगा। किन्तु चिता नहीं करेंगे, इसके बाद आप फिर भारत वापस आवेंगे तथा दिल्ली का सिंहासन आपके अधीन होगा।

अंगद का अभिवादन करने के बाद चिंताकुल हृदय से उस दिन हुमायूँ ने विदा ली।

इसके बाद, बहुत दुःख तथा कष्ट झेलते हुए वे फारस पहुँचे। शाह की सहायता से उन्होंने एक रण कुशल अश्वारोही सैन्य दल का संगठन किया। इसी वाहिनी की सहायता से उन्होंने अपना खोया हुआ राज्य फिर वापस पाया।

दिल्ली की मसनद पर बैठने के बाद भी हुमायूँ गुरु अंगद को विस्मृत नहीं कर सके। उन्होंने सोचा कि भविष्यवक्ता तथा शक्तिमान, इन साधु को वे अपने अंतर की कृतज्ञता निवेदित करेंगे, तथा सम्मान के लिए भेंट भेजेंगे। किन्तु उनकी वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। खोज खबर लेने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि गुरु अंगद कुछ दिन पूर्व ही परलोक वासी हो चुके हैं।

लगातार प्रायः साढ़े बारह वर्षों तक गुरु की गद्दी पर समासीन रहने के पश्चात् भक्तिसिद्ध अंगद के जीवन में लीला संवरण का लग्न उपस्थित हुआ। अंतरंग शिष्यों को बुलाकर एक दिन शांत स्वर में उन्होंने कहा, "इस शरीर का कार्य अब समाप्त हो चुका है, अब छुट्टी की बारी है। जल्दी ही मैं तुमलोगों से विदा लेना चाहता हूँ।"

प्राणप्रिय गुरु की जीवन लीला शेष होगी, इस बात को सुनते ही शिष्यगण शोकाकुल हो उठे। अश्रुपूरित नेत्रों से सभी बार-बार विनती करने लगे, "प्रभु, आपकी अवस्था अभी भी बहुत अधिक नहीं हुई है। कृपा करके अभी और कुछ दिनों तक हमलोगों को आश्रय प्रदान कीजिए तथा आर्त मुमुक्षु जीवों का कल्याण कीजिए।

मुस्कराते हुए अंगद ने उत्तर दिया, "प्रकृत गुरु के कृपा पात्र शिष्यगण, आदिष्ट पुरुष कैसे होते हैं क्या जानते हो ? — ठीक आकाश के जल पूर्ण मेघों जैसे। मनुष्यों के प्रयोजनानुसार वे देह परिग्रह करते हैं, और उन्हीं के प्रयोजन के लिए स्निग्ध कल्याणधारा का वर्षण करते हैं। मेरा जो शरीर

तुम देख रहे हो, जिसके समीप रहकर तुमने आनन्द किया है, वह अनाज के भूसे से तैयार है। इसलिए यह शरीर किस तरह चिरस्थायी होगा ? क्यों होगा ? एक और बात को तुम लोग स्मरण रखना। वस्त्र पुराना होने पर धनीलोग उसका त्याग कर देते हैं, उसी तरह जो आध्यात्मिक धन के धनी हैं, अर्थात् साधुगण, वे भी पुराने भंगुर शरीर को विदा देते हैं, तथा आत्मा के आवरण के रूप में नवीन देह, दिव्य देह, को धारण करते हैं। इसके अलावा, देहान्तर के पश्चात् तो मैं अपने ही घर वापस जा रहा हूँ। वहाँ अपनी इच्छानुसार वेशभूषा मैं पहनूँगा, अथवा अपने मन की मौज में नग्न अथवा अर्धनग्न रहूँगा। जो प्रकृत साधु होता है, वह सर्वदा ऐसे ही स्वेच्छामन और स्वतंत्र होता है। आईन, कानून, बाधा-निषेध का बंधन उसे नहीं है।"

शिष्यों में आज यह समझना शेष नहीं रह गया, कि गुरु ने लोकान्तर यात्रा की प्रस्तुति के लिए मन स्थिर कर लिया है।

दूसरे दिन, दरबार शुरू होते ही, गुरु अंगद ने अपने प्रधान शिष्य अमरदास को नदी जल से स्नान कराया। शरीर पर नया पीत वस्त्र धारण कराया। मांगलिक उपकरण, नारियल एवं ताम्रमुद्रा देकर वरण करने के उपरान्त उन्होंने उनके मस्तक पर पवित्र तिलक चिह्न अंकित किया।

सभी उपस्थित व्यक्तियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, "आज से भक्तश्रेष्ठ अमरदास इस गुरु गद्दी पर आसीन हो रहे हैं जो श्रद्धा, प्रीति एवं आनुगत्य अबतक तुम सभी मुझे देते आ रहे हो, उसे निश्चित रूप से अमरदास को देना। उसे मेरी द्वितीय मूर्ति जैसे ही समझना।"

दो दिन बाद महा साधक अंगद का प्रतीक्षित शेष लग्न उपस्थित हुआ। प्रभात काल में उन्होंने नदी में घुस कर स्नान समाप्त किया तथा पवित्र जप जी की आवृत्ति शुरू की। इस कृत्य की समाप्ति पर शिष्य, भक्त एवं आत्म-परिजन सभी को उन्होंने निकट बुलाया। स्नेहपूर्ण आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा, "तुममें से कोई भी मेरे लिए बिन्दु मात्र भी शोक न करो। मैं भाग्यवान हूँ, इसीलिए मेरा नश्वर जीवन श्रीभगवान का लीला क्षेत्र हो उठा था। आज अपने परम प्रभु के ही इंगित पर मैं इस जीवन धारा से अपना विच्छेद कर रहा हूँ।"

अब अमरदास की ओर देखते हुए अंगद ने अपनी अंतिम वाणी उच्चरित की, "वत्स, तुम गोविन्द वाले जाकर अपना एक नूतन दरबार स्थापित करो।

वहीं निवास करते हुए, भक्त एवं मुमुक्षुओं के जीवन में प्रेम तथा कल्याण की वाणी का वर्षण करो, तथा सभी को मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराओ।"

बातचीत का क्रम समाप्त होते ही भक्ति सिद्ध महापुरुष ने अपने अंतिम निश्वास का त्याग किया। अगणित भक्त, शिष्य एवं दर्शनार्थियों में शोक का प्रबल उच्छ्वास एवं आर्त पुकार मच गयी।

चरणदास बाबाजी

उस दिन गोसाईं बाबुओं की जैसोर स्थित जमीन्दारी कचहरी में बड़ी उत्तेजना थी। प्रश्न था कि एक खेत पर अधिकार किसका है। रैयतलोग उस जमीन को अपने दखल में रखना चाहते थे जिससे जमीन्दार अत्यन्त क्रुद्ध हो रहे थे। परिस्थिति को सम्हालने के लिए उस समय कचहरी में शीघ्र ही एक अच्छे और सुयोग्य कर्मचारी को भेजने की आवश्यकता थी। जमींदार के सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री राइचरण घोस का उस इलाके में अच्छी प्रतिष्ठा थी, इसलिए उन्हें ही भेजा गया।

मालिक का हुक्म था कि जैसे भी हो, रैयतों का दमन किया जाय और उनलोगों के दखल किये हुए खेत का धान जोर-जबर्दस्ती से काट लिया जाय।

जमीन्दार के सिपाही लाठी, ढाल, फरसा लेकर आगे-आगे चले। अधिकार-प्राप्त कर्मचारी के रूप में राइचरण बाबू को भी हाथ में बन्दूक लेकर मैदान में उतरना पड़ा। उनलोगों की इस विपुल तैयारी को देखकर रैयत लोग भाग खड़े हुए।

खेत का धान काटकर कचहरी के आँगन में ढेर लगा दिया गया। चारों ओर जमीन्दार का जय-जयकार हो रहा था। किन्तु पता नहीं क्यों, राइचरण बाबू का मन कैसा-तो हो रहा था। वे बड़े खिन्न और अशान्त-चित्त थे। धान का ढेर देखकर शोक से उनका कलेजा फटा जा रहा था। आँखों में उमड़ते अश्रुप्रवाह को छिपाने के लिए उन्होंने मुँह फेर लिया।

राइचरण बाबू सोच रहे थे कि नौकरी करते-करते वे कितने अमानुष हो गये हैं, कितने नीचे गिर गये हैं! इस प्रकार गरीब रैयतों के मुँह का कौर

छीन लेना महापाप है । यह पाप तो उन्हें अपनी नौकरी के ही कारण करना पड़ा है ।

उस दिन की घटना से राइचरण बाबू की जीवन-भित्ति ही धरासाई हो गयी । हठात् अस्फुट स्वर में वे अपने-आप से ही कहने लगे, "अब नहीं ! इस घृणित जीवन का आज ही, यहीं अन्त है ।"

दिन चढ़ गया था । दोपहर का भोजन तैयार था, किन्तु राइचरण बाबू ने उसको छुआ तक नहीं । उनका हृदय तीव्र शोकाग्नि में जल रहा था । सारा संसार उनके लिए अर्थहीन हो गया था ।

विषाद-खिन्न हृदय से उसी दिन घर-संसार त्याग कर वे निकल पड़ ।

जिस सर्वनियामिका शक्ति ने उस दिन राइचरण बाबू को घर छोड़ने को बाध्य किया, वही शक्ति उन्हें एक दिन पुनः समाज-जीवन के बीच खींचकर ले आई । वैरागी जीवन के उपरान्त वे मानव-प्रेमी सिद्ध-पुरुष के रूप में संसार-जीवन में लौटे ।

प्रेमा भक्तिसाधना में सिद्धि लाभ होने पर भी उन्होंने अपने को साधना के अन्तराल में गुप्त नहीं रखा । वे भक्त-समाज में परम आश्रय के रूप में प्रकट हुए । उनका नया नाम था बाबाजी श्रीराधारमण चरणदास । उनका यह रूपान्तर बंगाल के इतिहास में चिरकाल तक स्मरणीय रहेगा ।

उस दिन राइचरण बाबू ने घर तो अवश्य छोड़ दिया, किन्तु आगे का मार्ग तो उनके लिए अनजान ही था । उनका गन्तव्य कहाँ है, कौन उनका इष्ट है, जिनकी वे साधना करेंगे ये सब बातें उन्हें मालूम नहीं थी ।

राह चलते-चलते अनेक बातें उनके मन में उठ रही थीं । वैराग्याग्नि के एक स्फुलिंग ने उनके गृहस्थ-जीवन को भस्मीभूत कर दिया था, किन्तु इस आग का इंधन तो बहुत दिनों से उनके जीवन-तल में संचित हो रहा था । उनका सांसारिक जीवन हर प्रकार से सम्पन्न था, प्रचुर सुख-शांति थी । किसी प्रकार के अभाव की छाया भी उन्हें छू नहीं रही थी; किन्तु समग्र सांसारिक सम्पन्नता को आच्छन्न कर परम प्राप्ति की एक तीव्र आकांक्षा हृदय में जग रही थी । ऐसे में ही आज की घटना ने उनके जीवन-नाटक का एक अंक समाप्त कर दिया ।

राइचरणबाबू को आज एक पुरानी बातें याद आ गयी । उस दिन दीक्षागुरु कौल-साधक योगेन्द्र भट्टाचार्य उनके घर आये थे । राइचरण बाबू का वंश तांत्रिक था । वंश की कुल-रीति के अनुसार भट्टाचार्य महाशय ने राइचरण बाब को शाक्त दीक्षा दी ।

भक्त चरणदास

कुलगुरु ज्योतिष विद्या भी कुछ-कुछ जानते थे। शिष्य की जन्म-कुंडली देखकर वे विस्मित हो गये। बोले "बेटा, देख रहा हूँ कि सब भोग तुम्हारा कट गया है। केवल संसार-त्याग का ही योगवास है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि तुम अनेक लोगों के लिए आदर्श होगे, लोक-गुरु बनोगे।"

एक अन्य दिन की भी बात उनके मानस-पटल पर स्पष्ट उभर आई। उस दिन उन्हें माँ भवानी का प्रत्यादेश प्राप्त हुआ था। उन्होंने एक विचित्र स्वप्न देखा कि जगज्जननी भवानी उनके सम्मुख खड़ी होकर कह रही है, "वत्स, तुम भवानीपुर जाओ। वहाँ मेरे सामने बैठकर पुरश्चरण अनुष्ठान करो। तुम्हारा सब अभीष्ट पूरा होगा।" स्वप्न देखकर राइचरण सिहर गये, बिछावन पर उठ बैठे और बहुत देर तक उनका मन आलोड़ित रहा। फिर, रात गंभीर होने पर उन्हें नींद आ गयी थी।

आज राह चलते-चलते राइचरण बाबू के मन में तरह-तरह की भावनाएँ उठ रही थीं। सोच रहे थे, भाग्य के अमोघ विधान ने उन्हें बैरागी बना दिया; अब वे किधर जाएँ, किस दिशा की ओर पाँव बढ़ावें? उनके कान में बार-बार आवाज आ रही थी, भवानीपुर, भवानीपुर...! भाव-तन्मय अवस्था में उनके पाँव अपने-आप भवानीपुर के मार्ग पर बढ़ने लगे।

भवानीपुर में एक विख्यात शक्ति-(पंचमुंडी) पीठ है। पंचमुडी आसन पर अपरुप महिमा-मंडित देवी की मूर्ति अधिष्ठित है। यह अनेक साधकों की साधनास्थली है। यहाँ राइचरण घोर कष्टपूर्वक कठिन, दीर्घ पथ पाँव-पैदल पार करते हुए पहुँचे।

इस शक्तिपीठ में शक्तिमंत्र की सिद्धि और पुरश्चरण के लिए राइचरण को देवी का आदेश प्राप्त ही था। विभिन्न शक्ति-साधन-क्रियाओं के लिए अनुष्ठान की सुयोग सुविधा भी शीघ्र उपलब्ध हो गयी।

उस दिन सूर्यग्रहण था। भवानी देवी की वेदी के सामने बैठकर राइचरण ने पुरश्चरण शेष किया ही था कि हठात् वे अनिर्वचनीय भावावेश से आच्छन्न हो गये। आँखें शिव-नेत्र (आज्ञा) चक्र-पर केन्द्रित हो गयी, वाक्-शक्ति भी लुप्त हो गई और देह से पसीना चूने लगा। नवागत साधक की यह अपूर्व दशा देखकर कोलाहल मच गयी।

दो-तीन घंटे के बाद राइचरण को होश आया और आँखें मल कर चारों ओर देखने लगे।

भवानीपुर शक्तिपीठ में एक बूढ़े ब्राह्मण रहते और साधन-भजन किया करते थे। राइचरण की यह अवस्था देखकर, वे उनकी सेवा और देखभाल करने

लगे। राइचरण के वाह्य ज्ञान लौटने पर उन वृद्ध ब्राह्मण ने पूछा, "बाबा, बोलो तो, अभी कैसा महसूस कर रहे हो ?"

राइचरण विस्फारित नेत्रों से इधर-उधर देखने लगे मानो कोई अपूर्व धन खोज रहे हों। कुछ देर बाद खेद पूर्वक बोले, "अभी तो यहाँ देख रहा था, माँ खड़ी हैं। वे कहाँ चली गई ?"

"बाबा, तुम किसकी बात कह रहे हो ?"

"माँ जगज्जननी की बात कह रहा हूँ।"

इसके बाद उन्होंने जो कुछ कहा, उसे सुनकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। आज ही इस अनुभूति के माध्यम से राइचरण को अपने अध्यात्म-जीवन के लिए बहुत बड़ा निर्देश मिला था। इष्टदेवी महामाया उनके सम्मुख साक्षात स्वयं आविर्भूत हुई थीं और उनसे बोलीं, "तुम सरयू तट पर जाओ, वहीं अपनी इप्सित परम वस्तु का संधान तुम्हें मिलेगा। तुम्हारे अध्यात्म-जीवन के गुरु वहीं रहते हैं। उनकी कृपा से तुम्हें शीघ्र ही इष्टलाभ होगा।"

भावाविष्ट राइचरण की आँखों से पुलकाश्रु अविरल झर रहा था। यह भाव करने पर उनके मन में प्रश्न उठा, कौन व्यक्ति मेरे गुरु महाराज से पहचान करा देगा ? मैं तो उन महापुरुष को पहचानता नहीं हूँ !"

अन्तर्यामी जगन्माता ने मृदु स्वर में कहा, "तुमको यह सब सोचना नहीं होगा। तुम्हारे गुरु तुम्हारी बात जानते हैं। वे वहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनका नाम शंकरारण्य पुरी है। अपने पूर्वाश्रम में वे खरदेह नामक स्थान के वैष्णव आचार्य थे। उन दिनों वे योगेन्द्र नाथ गोस्वामी के नाम से परिचित थे। बड़ी-बड़ी आँखें, आजानुबाहु और सुन्दर डील-डौल को देखते ही उन्हें पहचान जाओगे।"

कृपामयी देवी ने आगे कहा, "स्वामी शंकरारण्य स्वामी विरक्त संन्यासी हैं। कुछ दिन हुए, उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि किसी को शिष्य नहीं बनावेंगे। किन्तु वत्स तुम्हें, कोई भय नहीं, तुम्हारे मामले में उन्हें अपनी प्रतिज्ञा भंग करनी होगी।"

राइचरण के आनंद की कोई सीमा नहीं रही। भक्तिपूर्वक इष्टनाम जपते हुए वे सरयू तीर पहुँचे। यह पुण्य नदी अयोध्या धाम होकर बहती है। इस नदी के किनारे-किनारे मुमुक्षु राइचरण अपने गुरु को खोजते चल रहे थे। मन में डर था, पता नहीं भेंट होने पर वे मुझ पर कृपा करेंगे या नहीं !

हठात् एक दिव्यकांति वैष्णव संन्यासी पर उनकी दृष्टि पड़ी। स्नानोपरान्त हाथ में काठ का कमंडल लिए वे जा रहे थे। राइचरण उनकी ओर आगे बढ़े। संन्यासी ने हाथ उठाकर उन्हें अपने निकट बुलाया। बोले, "वत्स, आओ-आओ! मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा में हूँ।" राइचरण समझ गये, भवानी माँ द्वारा निर्दिष्ट यही महापुरुष मेरे अध्यात्म-जीवन के निर्णायक गुरु हैं। उन्होंने संन्यासी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया।

सरयू नदी के किनारे एक छोटा-सा वन था। उस वन के बीच छायाच्छन्न निर्जन परिवेश में एक छोटा-सा आश्रम था। महापुरुष संन्यासी धीर-गंभीर गति से यहाँ आये। सामने एक भजन कुटी थी। गोबर से लिपे आंगन में एक ओर तुलसी-चौरा था। महापुरुष अन्दर गये और कुछ क्षणों के लिए दरवाजा बन्द कर लिया।

आंगन में एक तरुण शिष्य-सेवक प्रतीक्षा में खड़ा था। वह तुरत ही राइचरण के सामने आया। उसके हाथ में जल का घड़ा था। उसने भक्ति-पूर्वक राइचरण के धूल-कादो सने पाँव धो दिए। तत्पश्चात् वह शिष्य राइचरण के निकट बैठ कर जो कुछ कहने लगा वह सुनकर राइचरण के विस्मय की सीमा नहीं रही।

कुछ ही दिनों पूर्व सूर्यग्रहण था। गुरु महाराज उस दिन बहुत देर तक ध्यान-मग्न रहे। बाह्य ज्ञान लौटने पर वे हठात् सानन्द अस्फुट स्वर में बोल उठे, "अहा, कितना भाग्यवान है! कितना भाग्यवान!"

सेवक-शिष्य ने उनकी इस उक्ति का मर्म जानने के लिए पूछा, "आप बाबा, आप किसके सौभाग्य की बात कह रहे हैं!"

गुरुजी महाराज ने कहा, 'तो सुनो! मैं बताता हूँ। भवानीपुर सिद्धपीठ में एक शुद्ध-सत्व साधक पुरश्चरण कर रहा था। महामाया उस पर प्रसन्न हुईं। उसके फलस्वरूप मेरे ऊपर देवी का अनुग्रह और निग्रह, दोनों ही हुआ। उनका अनुग्रह यह कि उन्होंने उस साधक के ईश-कर्म-साधना के लिए गुरु रूप में मुझे अंगीकार किया है। निग्रह यह कि उन्होंने मुझे अपनी प्रतिज्ञा भंग करने के लिए आदेश दिया है। मेरा संकल्प था कि अब मैं किसी को शिष्य नहीं बनाऊँगा। लेकिन उस तरुण साधक के लिए मुझे अपना वह संकल्प त्याग करना पड़ रहा है। बाद में तुम देखोगे इसको लेकर अनेक लोगों का कल्याण होगा।"

जगज्जननी की इस कृपा-कथा को सुनकर राइचरण के आनंद की सीमा न रही। पुलकाश्रु से उनका वक्षस्थल भींग गया। फिर, उनकी दीक्षा का समय

आया। सरयू में स्नान करके आने पर उनको तिलक लगाया गया। लेकिन कंठी-माला कहाँ? वह तो लाया नहीं गया है?

पुरी महाराज ने कहा, "अब क्या होगा? माला कहाँ से आयेगी?"

सेवक–शिष्य ने उत्तर दिया, "प्रभु, उस बार आपने अपने लिए तीन मालाएँ खरीदी थी, वह तो मेरे पास ही रखी है। अब तक उसका व्यवहार नहीं किया गया है। क्या मैं उनको बाहर निकालूँ?"

पुरी महाराज ने कहा, "अहा! यह महामाया की कैसी अद्भुत कृपा है! देख रहा हूँ कि भवानी मुझ अधम कीटाणुकीट के माध्यम से इस भक्त पर कृपा-वर्षण करना चाहती है! अच्छा, तो उस माला को इसके गले में पहना दो।"

तत्पश्चात् पुरीजी महाराज ने मुमुक्षु राइचरण को मंत्र-दीक्षित किया। उनका यह मंत्र अपूर्व शक्ति-संचारित था। जैसे ही वह मंत्र कान में पड़ा—नवीन शिष्य की सम्पूर्ण सत्ता आलोड़ित हो गयी। अश्रु, पुलक-कम्पन और स्वेद आदि सभी सात्विक लक्षण उसमें प्रकट हो गये। प्रेमोन्मत्त दशा में उनका देह थर-थर काँपने लगा।

नव-दीक्षित शिष्य में अष्ट-सात्विक प्रेम-विकार को देखकर गुरुदेव असीम आनन्द से भर उठे। शिष्य को गले से लगाकर अश्रु-वर्षण करने लगे।

राइचरण ने पाया कि उनके गुरू साक्षात करुणावतार हैं। प्रभु श्री नित्यानन्द की प्रेम-शक्ति उनमें पूर्णतः प्रतिफलित है। वे प्रेम-शक्ति के जाग्रत मूर्त्ति-रूप हैं, साथ-ही-साथ महाशक्तिधर भी है। ऐसे महाप्रभु की स्नेह-छाया प्राप्त कर राइचरण कृतकृत्य थे।

उन्होंने गुरूदेव द्वारा उपदिष्ट वैष्णव-साधना-प्रणाली का अभ्यास प्रारंभ कर दिया। श्रीचैतन्यदेव द्वारा प्रवर्तित तत्त्व का मर्म समझने में उन्हें विलम्ब नहीं हुआ।

राइचरण का जन्म तांत्रिक वंश में हुआ था और उन्होने अपने कुल-गुरु से शाक्त-दीक्षा भी ली थी। उनके इस सुदृढ़ साधन आधार पर गुरु शंकरारण्य पुरी जी वैष्णवीय प्रेम-भक्ति का महारस ढाल दिया था। कालान्तर में यह रस-धारा उत्तर भारत में चतुर्दिक फैल गई। उस समय राइचरण घोष ने सर्वजन-वंदित आचार्य चरणदास बाबाजी के नाम से आत्म-प्रकाश किया। उनके नेतृत्व में प्रेम-भक्ति और नाम-कीर्त्तन पर आधारित एक जीवन्त सार्वजनिक वैष्णव-आन्दोलन चल पड़ा।

यशोहर के नड़ाल महकामा में एक गाँव है महिषखोल। वहाँ के कायस्थ लोग खूब सम्पन्न थे। एक कायस्थ-घर के मोहनचन्द्र घोष के ज्येष्ठ पुत्र थे राइचरण। उनका जन्म सन् १२९० के २९ चैत्र को हुआ था।

राइचरण प्रायः ५ वर्ष के थे तभी उनके पिता मोहनचन्द्र की मृत्यु हो गई। माँ कनकसुन्दरी और चाचा ईशानचन्द्र की देखरेख में उनका लालन-पालन होने लगा। उनके दो भाइयों की मृत्यु हो गयी थी, माँ के वे ही एक मात्र पुत्र बचे थे। इसलिए बड़ा आदर-स्नेह से उनका पालन हुआ। माँ बड़ी उदार और धर्मपरायणा थीं। माँ का ये गुण बाल्यकाल से ही राइचरण में प्रस्फुटित होने लगी।

वर्षा के दिन थे। राइचरण ने देखा कि उनके एक सहपाठी को छाता नहीं है। बस अपना छाता उस साथी को आनन्दपूर्वक दे दिया। उसी तरह एक बार राह में एक गरीब व्यक्ति को जाड़े के शीतकष्ट में देख कर पिता के मूल्यवान शाल को अपने शरीर से उतार कर उसे दे दिया।

एक दिन वे स्कूल जा रहे थे तो राह में एक वृद्ध व्यक्ति पर नजर पड़ी, जो घोर ज्वराक्रांत था और चलने में असमर्थ हो रहा था। रास्ते के किनारे उसका चावल-दाल का बोझा पड़ा था। उनका हृदय दयार्द्र हो आया। बोझे को अपने सिर पर उठा लिया और उस वृद्ध को अपने घर पहुँचा आया।

माँ ने भी अपने पुत्र के ऐसे कार्यों में उत्साहवर्द्धन करने में कभी कंजूसी नहीं की।

युवावस्था में राइचरण का विवाह हुआ। नई वधू स्वर्णमयी के साथ उनके दिन आनन्दपूर्वक कटनेलगे। किन्तु इसी बीच दुर्भाग्य की छाया उनके जीवन पर पड़ी। उनके दो पुत्रों की मृत्यु हो गई और परिवार शोक-सागर में डूब गया। वंश-रक्षार्थ उन्होंने एक-एक कर दो और विवाह किये।

तत्पश्चात् राइचरण का सांसारिक-जीवन सब प्रकार से सफल रहा। पैतृक-जगह-जमीन, धन-सम्पत्ति यथेष्ठ थी ही, स्वयं भी अच्छा ही धनोपार्जन किया। जमीन्दार की नौकरी करने के बाद और भी श्री-वृद्धि हुई। नायक और सुपरिन्टेन्डेन्ट के रूप में वे जमीन्दार और प्रजा—दोनों पक्ष के विश्वासपात्र थे, चतुर्दिक अच्छी कीर्ति अर्जित की।

राइचरण का घर सब प्रकार से भरा-पूरा और शांतिपूर्ण था। अतिथियों और सगे-सम्बंधियों का आना-जाना लगा रहता था। होली, रास, झूलन,

दुर्गोत्सव में भजन-कीर्त्तन आदि विशेष धूम-धाम से अनुष्ठित होते थे। जन-कल्याण कार्यों में भी वे दिल खोल कर खर्च करते थे। तालाब खुदवाने में, पाठशालाएँ खोलने में उनकी विशेष अभिरुचि और उत्साह था। किन्तु इन सबसे उन्हें किसी प्रकार की भी आंतरिक तृप्ति नहीं थी। मान-मर्यादा, धन-सम्पति सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता था। इस तरह धीरे-धीरे उनके सांसारिक जीवन का बंधन अनजाने ही शिथिल हो रहा था। ऐश्वर्य और मान-सम्मान की वृद्धि के साथ-साथ अन्तस्थल में वैराग्य की भावना भी तीव्र होती गई।

राइचरण के कुल-गुरु थे शक्तिधर तंत्रसाधक। उन्होंने राइचरण के संबंध में बहुत दिनों पहले जो भविष्यवाणी की थी वह राइचरण के परवर्त्ती जीवन में सत्य हो रहा था।

भाग्य-चक्र के चढ़ाव-उतार के क्रम में राइचरण सरयू-तीर पर पहुँचे थे और महान शक्तिधर गुरु शंकरारण्य पुरी की कृपा पाकर उनका जीवन धन्य हो गया। गुरु से प्राप्त वैष्णव-दीक्षा से उनके जीवन में अपूर्व रूपान्तर आया। मानो, पारसमणि का स्पर्श पाकर वह एक नया मनुष्य हो गये। उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि मधुमय, प्रेममय दीखने लगा।

"जय नित्यानन्द राम, जय गौर गुण-धाम" जपते हुए वे अयोध्याधाम की अपनी कुटी की पवित्र धूलि में लोटते थे; कभी हँसते, कभी रोते थे। स्वभाव से गंभीर, धीर-स्थिर और सांसारिक कार्यो में सुदक्ष राइचरण अब मानों पागल हो रहे थे। उनके प्रेमावेगमय रुदन का अन्त नहीं, आँखों से अविरल अश्रु-धारा बहती रहती। उनके जीवन में परम सौभाग्य का उदय हो रहा था। सद्गुरु की कृपा-लीला और मंत्र चैतन्य के प्रभाव से उनके जीवन के विस्मयकारी परि-वर्त्तन की प्रक्रिया चल रही थी।

कई दिनों के बाद गुरुजी ने कहा, "वत्स चरणदास, अयोध्या में अधिक दिनों तक तुम्हारे रहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ जो कुछ तुम्हें पाना था, वह तुम्हें प्राप्त हो चुका, उसे अन्तस्तल में धारण कर गाँव-गाँव, नगर-नगर में नाम-कीर्त्तन करते हुए देशाटन करो। उससे ही तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।"

गुरु का आदेश सुन कर उनका मुख मलिन हो गया। भगवत् नाम-प्रचार के लिए अब तो उन्हें निकलना ही पड़ेगा। किन्तु यह पवित्र सरयू-तट, यह आश्रम-कुटी, गुरुदेव का यह मधुर सान्निध्य—छोड़ते हुए उनका कलेजा फटा जा रहा था।

कातर स्वर में उन्होंने गुरु महाराज से कहा, "प्रभु, मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि मैं आपकी ही सेवा में अपना जीवन काट दूँ। आपका कृपा-धन बटोर कर इस कंगाल की झोली को भर लूँ।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "यदि मेरी सेवा की ही अभिलाषा है तो तुम्हें वही करना चाहिए जिससे मुझे सुख-तृप्ति हो। तुम प्रत्येक द्वार पर जा कर भगवत्-नाम का प्रचार करो। नित्यानन्द प्रभु का यह आदेश-पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। यही मेरी असली सेवा होगी और इससे ही मुझे परम सुख होगा।"

विदा देते समय गुरुदेव ने कहा, "वत्स, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि सभी वैष्णव-ग्रन्थ तुम्हारे हृदयस्थ होंगे। स्वयं महाप्रभु तुम्हारे हृदय में उदित होकर शास्त्रों के गूढ़ार्थ तुम्हें बता देगें। मेरा आदेश है कि तुम देह-मन-प्राण लगाकर उच्च स्वर से नाम-कीर्त्तन करते हुए निकल पड़ो। यही तुम्हारे जीवन का व्रत होगा। नित्यानन्द प्रभु इस कार्य में तुम्हारे सहायक रहेगें।"

राइचरण की आँखें भर आईं। कातर-स्वर में बोले, "प्रभु, फिर आपका दर्शन कब होगा?"

"नहीं वत्स, हमलोगों की शीघ्र भेंट नहीं होगी। भगवत् इच्छा होने पर, कभी भेंट हो सकती है।" गुरुदेव को साष्टांग प्रणाम कर नव-दीक्षित शिष्य राइचरण नाम-प्रचार का व्रत लेकर निकल पड़े।

उत्तर भारत के अनेक तीर्थों का दर्शन करने के बाद वे श्रीधाम नवद्वीप आ पहुँचे। गौरांग महाप्रभु के लीला-स्थलों को बार-बार देखकर भी उनका मन नहीं भर रहा था। हृदय में प्रेम की उच्छल भावतरंग लहरा रही थी और आँखों से निरंतर आनन्दाश्रु बहता रहता।

श्रीवास मंदिर के निकट ही जगदानन्ददास बाबाजी के आश्रम में चरणदास की रहने की व्यवस्था हो गयी। वहाँ दिन-रात नाम-कीर्त्तन और शास्त्र-पाठ होता रहता। चरणदासजी प्रतिदिन तीन बार गंगा स्नान करते, दिनान्त अपने हाथों प्रसाद रंधन कर इष्टदेव को भोग लगाते और तत्पश्चात् स्वयं एक मुट्ठी प्रसादान्न ग्रहण करते।

नवागत वैष्णव संन्यासी की प्रेम विह्वलता और दीन-भाव ने बहुत-से नवद्वीप वासियों का ध्यान आकृष्ट किया।

वहाँ पास में ही नृसिंहदेव का अखाड़ा था। कुछ ही दिनों पहले उस अखाड़े में नवद्वीप दास नामक एक भक्त युवक अपनी स्त्री और बंधु-बांधव के साथ आकर टिके थे। श्रीधाम में कुछ दिनों तक रहने के बाद वे घर लौट जानेवाले थे।

नवद्वीप बाबू को खबर मिली कि अखाड़े के निकट ही एक प्रेमिक वैष्णव साधु निवास करते हैं। वे दिन-रात भगवत-प्रेमानन्द में मतवाला रहते हैं। भक्ति-ग्रन्थ-पाठ करने बैठते ही वे सुध-बुध खो बैठते, रोते-रोते बेहोश हो जाते हैं।

नवद्वीप दास व्याकुल होकर उनके दर्शन को गए। उनके दर्शन-लाभ से नवद्वीप दास के हृदय में अपूर्व आनन्दोल्लास का ज्वार उठा और उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि यह वैष्णव साधु उनके जन्म-जन्मान्तर के आत्मीय हैं।

उस दिन उन दोनों प्रेमी साधकों के मिलन का दृश्य अपूर्व रहा। दोनों एक-दूसरे का बारम्बार आलिंगन करते और "जय निताई, जय निताई" कहते हुए उन्मत्त भाव में आश्रम-प्रांगण में नाचते रहे।

वैष्णव-साधक चरणदास का अद्भुत आकर्षण था। उनके स्पर्श और सान्निध्य से नवद्वीप दास के अन्तर में मुक्ति की दुर्निवार आकांक्षा जग पड़ी और सांसारिक जीवन का बंधन ढीला हो गया।

नवद्वीप बाबू अपनी पत्नी के साथ तीर्थयात्रा को निकले थे। उन्होंने पत्नी को निकट बुलाकर शांत स्वर से कहा, "अजी, देखो तुम मुझे गलत नहीं समझना। मेरे जीवन में एक नवीन ज्वार उठ रहा है जिसमें सब-कुछ बहता जा रहा है। मैं अब संसार के माया-बंधन में बँधा रहना नहीं चाहता। मैं अब यहीं इन वैष्णव-साधक के साथ रहूँगा। ये ही मेरे अध्यात्म-जीवन के पथ-प्रदर्शक हैं; ये ही मेरी जीवन-नैया को पार लगाने वाले हैं।"

यह नवद्वीप दास कीर्त्तन-प्रचार यज्ञ में चरणदास बाबाजी के श्रेष्ठ सहायक सिद्ध हुए और उनके प्रथम भक्त-शिष्य भी बने। धीरे-धीरे कई अन्य अनुरागी भक्त आ जुटे। उन भक्तों के साथ चरणदास बाबाजी सदा सखा-भाव से व्यवहार करते। उन दिनों गुरु-भाव से किसी के साथ उनका मिलन-जुलन असंभव ही था। वे सबके परम आत्मीय दादा अर्थात् बड़े भाई थे। इस सहज संबंध के डोर से उन्होंने सभी अनुगामियों को बाँध रखा था।

इस क्रम से एक छोटी-सी कीर्त्तन-मंडली वहाँ संगठित हो गयी। इस मंडली ने तत्कालीन नवद्वीप के निष्प्राण जीवन में नयी प्रेरणा का संचार किया। गौरांग महाप्रभु के उस लीला-क्षेत्र में फिर से एक नया भाव-समुद्र लहराने लगा। मानो, पुराने रंगमंच पर एक नये चरणदल ने नाम-गान की नूतन उद्दीपना जगा दी।

इस नवीन भाव प्रवाह के मूल स्रोत थे चरणदास बाबाजी ही। गुरु शंकरारण्य पुरीजी ने इस परम भागवत् साधक के जीवन में भगवत-नाम प्रेम की शक्ति संचारित कर दी थी और वे भावविह्वल होकर दिनानुदिन भक्तों के साथ नाम-प्रचार में संलग्न थे। इन प्रतिभादीप्त साधक के कंठ से स्वतः स्फूर्त्त कीर्त्तन पद निःसृत होते थे। उनके दृष्टि-पट पर गौरांग महाप्रभु लीला की मधुर दृश्यावली एक-पर-एक उन्मोचित हो रही थी। वे वैष्णव दर्शन के गूढ़ तत्त्व और उसके माधुर्य को जन-साधारण के लिए सुस्पष्ट करते थे। उनके कीर्त्तन और नाम-गान से संपूर्ण नवद्वीप में आनन्द-स्रोत प्रवाहित हो चला।

एकबार अपने साथियों के साथ श्री चरणदासजी श्री पाट-कालना पहुँचे। वहाँ गौरांग महाप्रभु और निताई की मनोहर मूर्त्ति को देखकर उनके अन्तर में भाव-तरंग उद्वेलित हुई और उन्होंने अपूर्व पद-कीर्त्तन और नृत्य प्रारंभ कर दिया।

उस समय वहाँ एक अद्भुत घटना घटी। एक पाँच वर्ष का लड़का भी कीर्त्तनानन्द में मत्त होकर नाचते-नाचते आंगन में मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। थोड़ा होश आने पर अर्ध-बाह्य अवस्था में वह बालक जो कुछ भी बोला, उसे सुनकर सब लोग अवाक् रह गये। उसकी दृष्टि शिवनेत्र पर निबद्ध थी। उसने चरणदासजी और उनके साथियों को संबोधित करते हुए कहा, "तुमलोग अविलम्ब नीलाचल (पुरी धाम) चले जाओ। क्षण भर भी देर न करो।" अबोध बालक की यह कैसी उद्दीपना थी, कैसा उसका आचरण था! किन्तु चरणदास को उसके कथन में अन्तर्हित संकेत समझने में कठिनाई नहीं हुई। उनका एकान्त विश्वास था कि कीर्त्तन-काल में स्वयं महाप्रभु उपस्थित रहते हैं। उस भावाविष्ट शिशु के माध्यम से उनका ही यह निर्देश था। चरणदास-जी उसी दिन पुरीधाम के लिए प्रस्थान कर गये। श्रीक्षेत्र के उसी महाधाम में उनके जीवन-प्रभु ने उनके आध्यात्मिक जीवन की लीला भूमि तैयार कर रखी थी।

चरणदासजी अपने कुछ अंतरंग साथियों को लेकर पुरीधाम की यात्रा पर निकले थे। पथ-सम्बल के नाम पर उन लोगों के पास चार जोड़ा करताल, शरीर पर एक-एक वस्त्र और चादर के सिवा और कुछ नहीं था।

लम्बी यात्रा के उपरांत साखी गोपाल पहुँचे। सब-के-सब प्रेम-विभोर थे। चरणदासजी ने स्वरचित कीर्त्तन पदावली के माध्यम से प्रभु की लीला-वर्णना शुरू कर दी। उन्मत्त कीर्त्तन-गान के बीच में उन्हें बार-बार भावावेश हो रहा था। मंदिर के चबूतरे पर लोगों की भीड़ जमा थी।

इस वैष्णव-दल का परिचय किसी को ज्ञात नहीं था, किन्तु सब लोग आनन्द-विभोर थे। कीर्त्तन करनेवालों के मुकुटमणि थे चरणदास बाबाजी। सब की दृष्टि उनपर निबद्ध थी। सामान्य दर्शनार्थी लोग उन्हें बड़े बाबाजी के नाम से पुकारने लगे। तब से गौड़ीय वैष्णव समाज में उनका यही नाम प्रचलित हो गया।

अस्तु, उस बार का कीर्त्तन रात में देर तक चला। तदुपरांत श्री-विग्रह को विधिवत शयन कराया गया। चरणदास जी भी मंदिर के एक चबूतरे पर एक कोने में लेट गये। रात निस्तब्ध गंभीर थी। नारियल के पेड़ों पर पुंजीभूत अंधकार छाया साखी-गोपाल मंदिर के शिखर पर पड़ रही थी। चरणदास जी ने स्वप्न देखा कि उनके सिरहाने में तेजःपुंज कलेवर वाले दो महापुरुष खड़े हैं। एक का वर्ण कंचन-गौर था और दूसरे का तुषार-शुभ्र था।

तुषार-शुभ्र वाले महापुरुष ने चरणदासजी से कहा, "वत्स, मैं तुम्हें एक निगूढ़ मंत्र दे रहा हूँ। तुम एकनिष्ठ होकर उस मंत्र का जप करोगे। तुम्हें यह अधिकार दे रहा हूँ कि तुम दूसरों को भी यह मंत्र दान कर सकते हो। प्रकृत अधिकारी भक्तों की श्रद्धा और आंतरिकता को परख कर तुम उनके हृदय में इस नाम का बीज वपन करोगे।" इतना कह कर उन्होंने चरणदासजी को द्वादश अक्षर का गौरांग मंत्र दिया। तत्पश्चात् दोनों दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गये।

चरणदासजी हड़बड़ा कर उठ बैठे। उनका मन आनन्द-सागर में डूबने-उतरने लगा। सोत्साह उन्होंने अपने साथियों को जगा कर कहा, "अरे भाई, तुम लोग सब उठो। प्रभु, निताइ-चाँद अभी आये थे और मुझपर कृपा कर गये हैं।"

प्रभु की इस अहेतुकी कृपा की कहानी सुनकर भक्तों के उत्साह की सीमा नहीं रही।

चरणदासजी पर तो एक दिव्य भावावेश छा गया। 'हा निताई, जय निताई' कहकर परम आनन्द में कभी नाचते और कभी विरह-वेदना से अधीर होकर क्रन्दन करते। संगी भक्तगण किसी भी प्रकार से उन्हें समझाने-बुझाने में असमर्थ थे। इसी प्रकार भावमत्त अवस्था में जैसे-तैसे रात कटी।

चरणदासजी अपने वैष्णव-दल के साथ नीलाचल पहुँचे। जगन्नाथ देव के मंदिर में प्रवेश करते ही वे लोग कीर्त्तन के आनन्द में मस्त हो गये। चरणदासजी के कंठ से स्वतः स्फूर्त कीर्त्तन पदावली निस्सृत होती थी और अपूर्व भावावेश में सभीलोग सुमधुर कीर्त्तन-नृत्य में तल्लीन थे।

उस दिन मंदिर के जगमोहन में एक स्वर्गीय दृश्य उपस्थित हुआ। किसी अदृश्य आकर्षण-शक्ति से प्रेरित होकर दल-के-दल वैष्णव भक्त वहाँ जुटने लगे। सबलोग सोच रहे थे, यह वैष्णव महापुरुष कौन है, अपने थोड़े से शिष्यों के साथ इन्होंने किस प्रेम-शक्ति से नीलाचल के श्रीमंदिर को आलोड़ित कर दिया है।

जगन्नाथ मंदिर के शृंगारी पंडा भावावेश में दौड़े आये और चरणदास बाबाजी महाराज के गले में प्रसादी माला पहना दी। उनके ललाट पर तुलसी–चंदन का अभिषेक किया। भक्तगण आनंद विभोर थे।

दीन–हीन कंगालवेश में चरणदास जी और उनके शिष्यगण नीलाचल में चैतन्य महाप्रभु के लीला–स्थलों की परिक्रमा करते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि उनके प्राणवंत कीर्त्तन और भावावेश के स्पर्श से उन स्थलों का माहात्म्य जन-मानस में पुन: नये सिरे से, संचारित हो रहा था।

इस प्रकार चरणदासजी अपनी शिष्य मंडली के साथ नीलाचल क्षेत्र में घूमते और जहाँ–तहाँ महाप्रसाद ग्रहण कर आगे बढ़ जाते।

एक दिन नाम–कीर्त्तन करते हुए वे लोग राजपथ पर चल रहे थे। उस समय नारायण क्षेत्र में कोई महोत्सव चल रहा था। द्वार पर सैकड़ों प्रसादार्थी भक्तों और दरिद्र लोगों की भीड़ जमा थी। वड़े बाबाजी चरणदास महाराज और उनकी मंडली के लोगों के मलिन और फटे वस्त्रों को देख कर महन्त भगवानदास जी ने सोचा कि रास्ते के भिखारियों का एक दल आ गया है। उन्होंने इन लोगों को रास्ते के किनारे ही प्रसाद के लिए पाँत में बैठा दिया।

चरणदासजी तो दीनता और आर्त्त भावना की जीवन्त मूर्ति ही थे। भिखारियों की पाँत में बैठने में उन्हें किंचित भी क्षोभ नहीं हुआ। भोजन करने के लिए उन्हें जो पत्ता दिया गया था, वह भी फटा-चिटा था और उस पर नीचे से रास्ते की धूल आ रही थी।

यह दृश्य देखकर प्रिय भक्त नवद्वीप दास की आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने तत्काल चरणदासजी के पत्ते के ऊपर अपनी चादर विछा दी ताकि इस प्रकार कुछ तो खाना संभव होगा। और फिर महाप्रसाद के सम्मान की रक्षा भी होगी।

भिखारियों को प्रसाद देने के लिए जब महन्त जी आये तो उनकी दृष्टि इस ओर पड़ी। वैरागी के पवित्र वस्त्र को कहीं इस प्रकार जूठा किया जाता

है ? इन मूर्खों को तो कोई ज्ञान ही नहीं है । महन्तजी क्रोध सेउत्तप्त हो गये । उत्तेजित कंठ से वे बोले, "महज़ पेट लिए कंगाल का वेश धारण कर इन मूर्खों ने वैष्णव-धर्म की मर्यादा मिट्टी में मिला दी । छिः !"

चरणदासजी ने इस बात पर कान नहीं दिया । स्मित हास्य के साथ बोले, "महाराज हमलोग तो वैष्णव नहीं हैं । कभी वैष्णव हो सकेंगे, इसकी भी आशा हमलोगों को नहीं है । आशीर्वाद दीजिए कि हमलोग आप जैसे वैष्णवों के दासानुदास हो सकें । हमारे इसी उत्तरीय वस्त्र पर प्रसाद डाल दें । हमलोग हाथों पर ही बाँट कर खा लेंगे ।"

तत्पश्चात् चरणदासजी का वास्तविक परिचय लोगों को मिला । उनके कंगाल वेश और दीनता पूर्ण आचरण से महन्तजी का चैतन्य जग गया ।

उस दिन चरणदास जी नरेन्द्र सरोवर से जगन्नाथ मंदिर की ओर आ रहे थे । राह में जगन्नाथ-वल्लभ मठ के महन्त भूतनाथ स्वामी से उनकी भेंट हो गयी । स्वामी जी बड़े तामझाम के साथ कहीं जा रहे थे । छत्र-चँवरधारी अनुचरों का एक दल उनके साथ था । बाबाजी अपनी शिष्य-मंडली के साथ सामने आकर स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया । महन्तजी ने हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हुए कहा, "नारायण, नारायण" ।

वैष्णव दल के कुछ दूर चले जाने पर महन्तजी के मन में एक विचार उठा । उन्होंने अपने पार्षदों को भेज कर उस वैष्णव-दल को बुलवाया ।

इसबार भी चरणदास और उनके संगी भक्तगण स्वामीजी को दंडवत प्रणाम करना नहीं भूले । किन्तु इसबार स्वामीजी का व्यवहार कुछ दूसरा ही रहा । इनलोगों के दंड-प्रणाम के उत्तर में उन्होंने प्रति नमस्कार करते हुये कहा, "नमो नारायण ।" पता नहीं, उन्होंने चरणदासजी में किस शक्ति का प्रकाश देखा ? विनम्र भाव से उन्होंने चरणदासजी को कहा, "देखिये पता नहीं, क्यों मेरे मन में विश्वास हो रहा है कि आप एक उच्च स्तर के महात्मा हैं । आपको देखते ही मेरा मन आनन्द से भर उठा है । मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आप श्रीकृष्ण चैतन्य के अंतरंग साथी हैं । मैं सन्यासी हूँ और आप वैष्णव हैं । किन्तु इससे क्या आता-जाता है ? आपलोग मेरे जगन्नाथ वल्लभ मठ में एक कोठरी लेकर क्यों नहीं निवास करते हैं ? इससे सचमुच मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ।"

स्वामीजी के इस आमंत्रण को चरणदासजी ने स्वीकार कर लिया । वे अपने साथियों के साथ आकर जगन्नाथ वल्लभ मठ में आकर रहने लगे । नाम-प्रचार और कीर्त्तनान्द में उन लोगों का समय कटने लगा ।

इस बीच अनेकानेक भक्त बाबाजी की शरण में आये। उनमें एक थे भक्त शीतल दास जी। उनकी कहानी बड़ी विचित्र है। इनका ब्राह्मण-परिवार में जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही इन्हें एक रामानन्दी मठ का महन्त बनाया गया। एक दिन चरणदास बाबाजी अपनी भक्त मंडली के साथ जा रहे थे। बाबाजी महाराज तो भावाविष्ट अवस्था में चल रहे थे और भक्त मंडली उनके साथ प्रेमानन्द में मत्त, नाम कीर्त्तन-करती जा रही थी। बाबाजी महाराज के भावमधुर स्वरूप को देखकर उन बालक महन्त में अपूर्व भावान्तर हुआ। व्याकुल होकर वह चरणदासजी के शरण में आ गये।

कुछ दिनों बाद रामानन्दी सम्प्रदायवालों ने शीतलदास को न केवल महन्त-पद से हटा दिया, बल्कि उनको मठ से भी निकाल बाहर किया। दोनों पक्षों के बीच जोरदार मोकदमाबाजी चली, जिसमें अन्ततः शीतलदास के पक्ष की हार हुई।

इस मामलाके न्यायकर्त्ता थे किशोरी बाबू, जो बाबाजी महाराज के परम भक्त थे। उस मोकदमा का फैसला सुनाने के बाद, उसी दिन बाबाजी का दर्शन करने आये।

चरणदासजी ने पूछा, "किशोरी, आज तुम्हारा मुँह मलिन क्यों है ?"

किशोरी बाबू ने उत्तर दिया, "प्रभु, आज एक मोकदमा का फैसला सुनाने के बाद से मेरा चित्त अशान्त हो रहा है। यह शीतल दास वाला मोकदमा था। उस मोकदमे के सारे तथ्यों से मैं अवगत हूँ। मैं समझ रहा था कि बालक शीतलदास को उसकी गद्दी वापस मिल जायगी। किन्तु दुःख की बात यह हुई कि उसके पक्ष के समर्थन में वैसा कोई प्रमाण पेश नहीं किया गया। इसलिए उसके विरुद्ध फैसला देना पड़ा। इसलिए मैं सोच में पड़ा हूँ कि मैंने कोई अन्याय तो नहीं किया !"

किशोरी बाबू को सांत्वना देते हुए बाबाजी महाराज ने जो कुछ कहा, उसे सुनकर वे विस्मित रह गये। बाबाजी ने कहा, "देखो, जगन्नाथ देव की कृपा से फैसला उचित ही हुआ। बालक शीतलदास ने इस मोकदमे के पहले ही जगन्नाथ देव से प्रार्थना की थी कि उसे इस महन्ती का कोई प्रयोजन नहीं—वह एकान्त भाव से उनका अनुयायी होना चाहता है। जगन्नाथ देव तो भक्तवत्सल ठहरे। उन्होंने इसी प्रकार से अपने भक्त की मनोकामना पूरी कर दी है। तुम तो, किशोरी, निमित्त मात्र हो।"

नीलाचल धाम में चरणदास महाराज के भक्तों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई। उनमें केवल साधारण लोग ही नहीं थे। सब के सब इस कंगाल वैष्णव साधु के चरणों में नत मस्तक थे।

जगन्नाथ-मंदिर के जगमोहन में, गरुड़ स्तम्भ के पीछे एक पत्थर पर श्रीचैतन्य देव का चरण-चिह्न अंकित है । सैकड़ों वर्षों से यह शिला-खंड उसी प्रकार पड़ा हुआ है । यह केवल गौड़ीय वैष्णव समाज के लिए ही नहीं, वल्कि सम्पूर्ण देश के वैष्णव भक्तों के लिए श्रद्धा की वस्तु है—एक मूल्यवान ऐतिहासिक स्मारक है ।

चरणदासजी मंदिर में आने पर इस शिला-खंड के चारों ओर कीर्त्तन-नर्त्तन करते । विशेष किसी पुण्यतिथि या पर्व के अवसर पर मंदिर में इतनी भीड़ होती थी कि उस शिला-खंड की पवित्रता की रक्षा करना कठिन हो जाता । अनेक लोग उस पर पैर रख देते थे । यह देख कर चरणदासजी के हृदय में कोई शूल-सा चुभ जाता था । उन्होंने उस शिला की मर्यादा रक्षा के लिए पुरी के राजा को जा पकड़ा । राजा की अनुमति से उस शिला-खंड को वे जगन्नाथ मंदिर के जगमोहन से उठा लाये और मंदिर के उत्तरी-द्वार के निकट एक मंदिर में समारोह के साथ स्थापित किया ।

एक दिन सिद्ध वकुल मठ के अधिकारी ने बाबाजी को भक्तों के साथ आकर महाप्रसाद ग्रहण करने का आमंत्रण दिया । वहाँ प्रसंगवश चैतन्य महाप्रभु की गुंडिचा मार्जन लीला की चर्चा चली । महाप्रभु की यह लीला कालक्रम से लुप्त हो गई थी ।

वैष्णव-साधुओं ने जिद पकड़ ली कि बाबाजी महाराज को ही उस लीला-उत्सव का पुनरुद्धार करना होगा । वाध्य हो चरणदासजी को यह भार स्वीकार करना पड़ा । उपस्थित वैष्णव महन्त और वैष्णव भक्तों को हाथ जोड़कर उन्होंने कहा, "मैं तो सेवा-अनुष्ठानादि की परिपाटी को पुनर्जागरित करने की प्राणपन से चेष्टा करूँगा ही, किन्तु इस कार्य में मुझे वैष्णव जनों का आशीर्वाद और निताई चाँद की कृपा चाहिए ।"

इन वैष्णव महापुरुष की प्रेरणा से वैष्णव भक्तों के बीच उत्साह और उद्दीपना का ज्वार उमड़ पड़ा । उनलोगों के प्रयास से सैकड़ों कलसी, सम्मार्जनी, ढ़ोल-करताल आदि का जोगाड़ हो गया । भक्त-जन उत्साहपूर्वक नर्त्तन-कीर्त्तन करने लगे । गुंडिचा मंदिर में अपूर्व भावावेश और सात्विक प्रेरणा की लहर उठने लगी । इस प्रकार से चैतन्य महाप्रभु की दैन्य-मधुर मार्जन-लीला का पुनरुज्जीवन सिद्ध हुआ ।

चरणदासजी के अलौकिक प्रभाव से उस वर्ष पुरी-धाम का रथ-यात्रा उत्सव अत्यन्त प्राणवन्त और प्रेरणाप्रद रहा । लाखों दर्शकों के हृदय में गौरांग लीला की अतीत स्मृति जग गई ।

श्रीजगन्नाथ देव रथ पर बैठा दिये गये थे। रथ चलानेवाला कालवेठिया-दल रथ खींचने वाली रस्सी पकड़ कर खड़ा था। भुवन मंगलकारी हरिनाम की ध्वनि से दिशाएँ मुखरित हो रही थीं। उसके साथ शंख, झाँझ, करताल आदि वाद्यों का भी तुमुल निनाद हो रहा था। दर्शकों के भावोल्लास और आनन्द का क्या कहना! इस उत्सव के केन्द्र-बिन्दु थे चरणदास बाबाजी। वे भी भावोद्वेलित अवस्था में मृदंग आदि वाद्यों के ताल पर कीर्त्तनानन्द में नाच-गा रहे थे।

भावावेश के कारण बाबाजी की आँखों में अश्रुकण ढलमल कर रहे थे। गौरांग लीला के मधुर पद स्वमेव उनके कंठ से निकल रहे थे। और, कीर्त्तनियाँ भक्त-गण भी उनके पदों को अनायास पकड़ कर गाते जाते थे। भावसागर गौरांग सुन्दर चैतन्य देव के महाभाव में बाबाजी उन्मत्त थे। उनको घेर कर भक्तलोग गा रहे थे, "तीनों लोक में हमारे प्राणबन्धु गौरांग को छोड़कर और कोई नहीं है।"

प्रगाढ़ भावावेश में गाते-गाते बाबाजी महाराज जमीन पर गिर गये। उनके शरीर में अश्रु,-पुलक-कम्पन आदि सात्विक भाव को देखकर लाखों दर्शनार्थियों के हृदय में दिव्य प्रेरणा का संचार हो आया और उत्सव-क्षेत्र में भाव-सागर ज्वारोद्वेलित हो उठा।

नीलाचल महाधाम में इन नवागत वैष्णव महापुरुष के प्रभाव से प्रेमा-भक्ति की एक लहर-सी दौड़ गई। प्रेमदाता निताई चाँद के सच्चे साधक चरणदासजी मानो निताई चाँद की प्रेम शक्ति का एक अंश लेकर उस क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। नर्त्तन-कीर्त्तन और भाव-रस की उन्मादना द्वारा वे प्रेमलीला का चतुर्दिक विस्तार कर रहे थे।

जगन्नाथ धाम में जो भी उत्सव होता, उसमें चरणदासजी अवश्य सम्मिलित होते। उनके प्रेम भावाविष्ट कीर्त्तन और नाम-गान से जन-साधारण में भी दिव्य भाव का संचार होता था। वहाँ के सिद्ध पुरुष श्री वासुदेव रामानुज दास चरणदास बाबाजी के गुणों से मुग्ध थे। वे अक्सर कहा करते थे, 'ये महात्मा कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं। ये निश्चित ही भगवान के पार्षद हैं। ऐसी प्रेम-भावना मैंने कभी नहीं देखी।"

अन्ततः बाबाजी महाराज नीलाचल से नवद्वीप लौट आये। पुराने बन्धु-बान्धव से मिलकर वे अत्यन्त आनंदित थे। एक दिन वे कीर्त्तन समाप्त होने पर आँगन में बैठे थे। उसी समय एक वैष्णव वहाँ आ पहुँचे। वे उत्सुक नेत्रों से बाबाजी महाराज का मुख देखने लगे। वे उनसे पूर्व परिचय

का सूत्र संकेत ढ़ूँढ़ रहे थे। बाबाजी महाराज को भी नवागंतुक वैष्णव को पहचानने में विलम्ब नहीं हुआ। बाबाजी के गृहस्थ जीवन काल में ये वैष्णव उनकी ससुराल के थे। किन्तु बाबाजी तो अपने पूर्वाश्रम जीवन पर विस्मृति का पर्दा डाल चुके थे और उस पर्दे को कदापि उन्मोचित करना नहीं चाहते थे।

नवागत वैष्णव से पूछकर बाबाजी ने जाना कि इनका नाम माधव दास है। इनके गुरु का नाम था महन्त श्रीपाद गौर हरि दास, जो उच्च-स्तर के महापुरुष थे। वे भी नवद्वीप धाम में ही रहते थे। यह जानकर चरणदासजी उनके दर्शनार्थ चल पड़े।

गौर हरिदास का व्यक्तित्व दिव्य लावण्यपूर्ण था। अवस्था लगभग पच्चासी वर्ष की थी। वे चुपचाप एकान्त भाव से निरंतर माला पर जप किया करते थे। चरणदासजी घूम-फिर कर बार-बार इनके पास आने-जाने लगे। कैसा अद्भुत आर्कषण था इन वृद्ध वैष्णव संत का !

इस बीच कथा प्रसंग में माधव दास से चरणदासजी के ससुराल संबंध की बात लोगों को मालूम हो गई। माधव दास के अनुरोध पर चरणदासजी संत गौर हरिदास के आश्रम में कुछ दिनों तक रहे।

उस आश्रम के सामने एक विस्तृत शस्य-श्यामल खेत था। वृद्ध संत गौर हरिदासजी एक दिन खेत में बैठे खर-पतवार उखाड़ रहे थे। उस समय चरणदासजी नित्य की भाँति कीर्त्तन के लिए बाहर जा रहे थे। वृद्ध वैष्णव संत को यह सामान्य काम करते देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ। श्लेषपूर्ण भाषा में उन्होंने कहा, "बाबाजी महाराज, यही काम करना है तो संसार त्याग करने का क्या दरकार ?"

वृद्ध बाबाजी एकाग्र मन से अपना काम करते हुए बोले, "बाबा, यह तो माया की दासता है। यह काम भी तो परम-पुरुष भगवान का ही है।"

चरणदासजी ने व्यंग्य पूर्वक कहा, "यह तो केवल कहने की बात हुई। लोहे की जंजीर से बाँधिए या सोने की जंजीर से बाँधिए, बंधन का कष्ट तो समान ही होगा।"

गौर हरिदास ने कोई उत्तर नहीं दिया। बहस में न पड़कर वे दत्त-चित्त से अपना काम करते रहे। चरणदासजी भी अपनी राह गये।

कुछ दूर जाने के बाद चरणदासजी को बड़ी ग्लानि हुई, सोचने लगे, कैसा घृणित काम वे कर बैठे हैं। उनका अहंकार तो लेश मात्र भी कम नहीं हुआ है।

क्यों उन्होंने शुद्ध-सत्व वृद्ध संत को अपमानित किया है ? यह तो वैष्णव के लिए घोर अपराध है । एक ओर तो निताई चाँद का दास बता कर अपना परिचय देते हैं और इधर अंतर में इतना अहंकार पाल रखा है । और, जब अभिमान है तो सभी इन्द्रियाँ भी सबल जागृत हैं । संसार का त्याग कर वैष्णव-वेश धारण किया है किन्तु आज तक आत्म-शुद्धि नहीं हुई ! क्या यह लोक-प्रवंचना नहीं है ?

अनुताप से चरणदासजी का अंतर दग्ध होने लगा । वे तेजी से लौट पड़े । गौर हरिदासजी के निकट आकर उनके चरणों पर गिर पड़े । रो-रोकर कहने लगे, "बाबा, मैं आपका ज्ञानहीन, अबोध संतान हूँ । वैष्णव तत्व का वास्तविक अर्थ आज तक मैं हृदयंगम नहीं कर सका हूँ । अभिमानवश मैंने आपके प्रति अनेक श्लेषपूर्ण, व्यंग्य वाक्यों का प्रयोग किया है । यह अपराध क्षमा कीजिए, महाराज ।"

बूढ़े बाबाजी ने क्षमा-दृष्टि से चरणदासजी को देखा और स्नेहपूर्ण हाथों से उनको सहलाते हुए शांत करने लगे ।

चरणदासजी सोचने लगे कि जो अपराध उन्होंने किया है,उसका प्रायश्चित निश्चय ही उनको करना चाहिए । भ्रांतिवश उन्होंने जिस साधु-पुरुष का अपमान किया है, उससे ही उन्हें तत्वज्ञान की शिक्षा और वैष्णव भेस लेना होगा । तभी तो उनका अहंकार समूल नष्ट हो सकेगा ।

उनके इस प्रस्ताव को वृद्ध आचार्य ने सहर्ष स्वीकार किया ।

अनुष्ठान के एक दिन पहले, सुबह में चरणदासजी ने उन वृद्ध वैष्णव आचार्य से निवेदन किया, "महाराज, कुछ दिन हुए, मैंने स्वप्न में एक मंत्र प्राप्त किया था, यदि आप उपयुक्त समझें तो वही मंत्र मुझे प्रदान करें ।"

आचार्य ने वही मंत्र उन्हें दिया और उनका साधुनाम रखा 'राधारमण चरणदास' ।

मुंडित सिर, कमर में डोरी-कौपीन धारण किये चरणदासजी द्वार-द्वार भिक्षाटन के लिए निकल पड़े । आँखों से आँसू झर रहे थे, मुख पर वैष्णवोचित आर्त्त भावना थी । संपूर्ण आकृति ही दीनतापूर्ण थी । सबसे कहते चलते थे, "आप क्षमा भिक्षा दीजिए । आशीर्वाद दीजिए कि मैं अभिमान शून्य होकर निताई चाँद का दासानुदास बन सकूँ । ज्ञात-अज्ञात रूप से मैंने जो भी अपराध किया है, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ । मेरा अपराध मार्जन कर मेरा सब बंधन काट दीजिए । मैं घोर वैष्णवापराधी हूँ । आपकी दया के बिना मेरा निस्तार नहीं है ।"

उस दिन नवद्वीप में जिसने भी उनका यह आर्त्तपूर्ण दीन रूप देखा, वही रो पड़ा।

शंकरारण्य पुरी ने उनके अंतर में जिस दीक्षा-बीज का आरोपण किया था उसको महात्मा गौर हरि दास ने अपने कृपा-जल से सींच दिया था। फलतः चरण दास महाराज का प्रेम दायक, परमाश्रय दाता रूप धीरे-धीरे आत्म प्रकाश करने लगा। उनकी करुणाधारा समग्र समाज में, सभी स्तर के लोगों में प्रसारित होने लगा। क्या धनी, क्या निर्धन, क्या शुद्धात्मा और क्या पाखंडी— सभी प्रकार के लोगों को उनकी प्रेमपूर्ण कृपा प्राप्त हुई।

एक दिन की बात है, चरणदास बाबाजी नवद्वीप स्थित महाप्रभु मंदिर में मूर्त्ति-दर्शन के लिए गये थे। वहाँ हठात् उनको दृष्टि एक प्रिय दर्शन तरुण भक्त पर पड़ी। उसकी आयु २० वर्ष से अधिक नहीं थी। वहाँ मंदिर-प्रांगण में दीनभाव से खड़ा-खड़ा गौरहरि की मूर्त्ति के प्रति अपने प्राणों की पीड़ा निवेदित करते हुए फूट-फूट कर रो रहा था। बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य था।

दिव्य कांति, दीर्घवपु चरणदासजी उस तरुण के पीछे जा कर खड़े हो गये। और स्नेहपूर्ण स्वर से उसे पुकारा। वह चकित भाव से पीछे मुड़ा और चरणदासजी को देखकर उनके चरणों पर लोट गया। बड़े कातर कंठ से वह बोला, "प्रभु, आप मुझ पर कृपा कीजिए। दीक्षा और आश्रय दीजिए।"

चरणदास जी ने किंचित हँसते हुए कहा, 'वत्स, तुम पर जो कृपा करेंगे, उनके ही निकट तो तुम आये हो। सामने ही तो गौरहरि की मूर्त्ति खड़ी है। उनसे ही विनती करो। जो मांगोगे, वह सब मिलेगा। हमारे गौरहरि तो कल्पतरु हैं।"

"प्रभु, गौरसुन्दर की कृपा तो पहले ही मिल चुकी है। अब आपकी कृप चाहिए। कल रात स्वप्न में महाप्रभु ने दर्शन दिया और बोले, 'तुम इतना आर्त्त होकर रोते क्यों हो? तुम्हारे लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है। तुम सबेरे मंदिर में मेरी मूर्त्ति का दर्शन करो। वहाँ चबूतरे पर तुम अपने चिर आकांक्षित गुरु का साक्षात दर्शन करोगे।"

"वत्स, तुम बड़े भाग्यवान हो। महाप्रभु का निर्देश तुम्हें मिला है तो निश्चय ही गुरु तुम्हें मिलेंगे। इसलिए थोड़ा धैर्य रखो।"

"प्रभु, अब तो धैर्य रखना संभव नहीं हो रहा है। महाप्रभु की कृपा से मुझे मेरे गुरु मिल गये हैं। स्वप्न में अपने गुरु के जो सब चिह्न मुझे ज्ञात

हुए, वे सब तो आप में ही परिलक्षित हैं। निस्सन्देह आप ही मेरे गुरु हैं। आप मुझे दीक्षा दीजिए।"

"वत्स तुम शान्त होवो। पहले मुझे यह तो बतलाओ, तुम्हारा नाम क्या चैतन्य दास है? तुम्हारा घर क्या कछाड़ जिले में है? तुम पर तो महाप्रभु की असामान्य कृपा है। क्रन्दन बन्द करो। तुम्हारी मनोकामना शीघ्र ही पूरी होगी।"

बड़े बाबाजी से दीक्षा और साधन-क्रिया प्राप्त कर चैतन्य दास आगे चल कर एक सार्थक साधक हो गये।

एक दिन चरणदासजी मंदिर में विग्रह-दर्शन और भजन-कीर्त्तन करने के बाद अपनी कुटिया में लौट रहे थे। मंदिर के प्रांगण में एक कुतिया उनके साथ हो ली। भजन-कीर्त्तन सुनकर वह परम आनन्द में थी, इसलिए चरणदास जी ने उसका नाम रखा 'भक्ति-माँ'। उनकी कुटिया में इस कुतिया को वैष्णवोचित मर्यादा और सेवा मिलने लगी। पर रोग भोग कर वह एक दिन मर गई। उसकी मृत-देह को गंगा में प्रवाहित करने के बाद उनकी इच्छा हुई कि इस 'भक्ति-माँ' की परमगति प्राप्ति के उपलक्ष में एक महोत्सव का आयोजन करना चाहिए।

नवद्वीप के सभी वैष्णवों को आमंत्रित किया गया। तब बाबाजी के मन में भाव उठा कि 'भक्ति-माँ' के स्वजातीय कुत्तों को भी आमंत्रित किया जाय।

चरणदासजी का यह प्रस्ताव सुनकर उनके संगी-साथी और भक्तगण अवाक् रह गये। एक तो कुतिया का श्राद्ध और दूसरे उसमें कुत्तों को निमंत्रण! लोग बड़े बाबाजी को पागल ही समझेंगे।

सब को आमंत्रित करने का भार एकनिष्ट भक्त नवद्वीप दास को दिया गया। इस काम के लिए आश्रम से बाहर जाने के पहले वे बड़े बाबाजी को प्रणाम करने लगे कि भावाविष्ट अवस्था में बड़े बाबाजी ने हठात् उनकी पीठ पर एक चाँटा मारा। नवद्वीप दास में भी भावावेश का संचार हुआ। प्रबल भावावेग में वे लुढ़कते-लुढ़कते खड़ा हुये। उसी भावमत्त दशा में अपना निर्दिष्ट कार्य करने चल पड़े।

उन्होंने सभी मठों और अखाड़ों के महन्तों और साधुओं को निमंत्रित कर दिया।

उसी भाव-मत्त दशा में नवद्वीप दास ने एक अद्भुत कर्म कर दिया। रास्ते में जहाँ जो कुत्ता मिला उसे उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा, 'हमलोगों की

'भक्ति माँ' का स्वर्गवास हो गया है। कल उनका श्राद्धोत्सव है। आप अपने बन्धु-बान्धवों के साथ बड़ाल-घाट के निकट हमारे गुरु महाराज के आश्रम में पधार कर उस महोत्सव के अवसर पर महाप्रसाद ग्रहण कीजियेगा।"

श्राद्ध-भोज के दिन हंगामा मचा। वैष्णव साधुओं ने कह दिया कि अगर कुत्तों को भोजन कराया गया तो वे लोग पंगत में नहीं बैठेंगे।

दूसरी ओर एक और संकट था। भक्तगण सोच रहे थे कि कुत्तों ने भला किस तरह मनुष्य के निमंत्रण संकेत को समझा होगा? यों तो जहाँ भोज-भात का आयोजन रहता है, पाँच-दस कुत्ते तो यों ही भोजन के आकर्षण से आ जुटते हैं। किन्तु इस निमंत्रण पर पूरे नवद्वीप का कुत्ता-समाज भला किस प्रकार आवेगा?

राधेश्याम बाबाजी नवद्वीप के एक प्रतिष्ठावान वैष्णव थे। चरणदासजी पर उनका विशेष स्नेह था। उन्हें जब मालूम हुआ कि वैष्णव साधुओं को निमंत्रण दिया गया है और उसके साथ कुत्तों को भी निमंत्रण दिया गया तो वे दौड़े आये।

चरणदासजी को डाँटते हुए उन्होंने कहा, "तुमने यह क्या पागलपन किया है? अन्ततः तुम क्या अपनी जगहँसाई करावोगे? तुम्हारी निन्दा सुन कर मुझे तो मार्मिक क्लेश होगा। बोलो तो, कहाँ है तुम्हारा यह निमंत्रित कुत्ता-दल?"

चरणदासजी ने आत्म-विश्वास के साथ कहा, "महाराज, आपलोग तो कहते हैं कि भगवान घट-घट में बास करते हैं। क्या वे कुत्तों के शरीर में विराजमान नहीं हैं? प्रह्लाद के लिए वे स्फटिक स्तंभ को फोड़ कर नृसिंह रूप में प्रकट हुए थे। तब क्या सचेतन प्राणी की देह में प्रभु की लीला प्रकट नहीं होगी? यदि यह सत्य है कि निताईचाँद सर्वत्र हैं तो निश्चय ही आज कुकुर-समाज के माध्यम से रंग-रसिक निताई नवद्वीप के लोगों को कोई अपूर्व लीला दिखलायेंगे।"

समय बीतने के साथ ही लोगों ने देखा कि दल के दल कुत्ते महोत्सव-स्थल पर आ रहे हैं। क्या ही अपूर्व दृश्य था। आज कुत्तों के बीच उनका स्वभाव-जात आपसी कलह-कोलाहल नहीं था। किसी के मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। सभ्य समाज में आमंत्रित लोगों की तरह वे सब पंक्तिबद्ध होकर प्रांगण में खड़े हुए। चरणदास 'जय निताईचाँद, जय निताईचाँद' कहते हुए हाथ जोड़ कर कुत्तों की अभ्यर्थना करने लगे। भावावेश में उनकी आरक्तिम

आँखें डब-डब हो रही थीं। देह ढ़लमल हो रही थी। अभ्यागत कुत्तों को समुचित रूप से भोजन कराने और पानी पिलाने के लिए वे सब को निर्देश दे रहे थे। कुत्तों ने पंक्तिबद्ध होकर भोजन किया और तत्पश्चात निःशब्द बाहर चले गये।

हजारों लोगों ने बड़े बाबाजी की वह अलौकिक विभूति देखी और चकित-विस्मित रह गये। महोत्सव-स्थली में हरिनाम का गगन-भेदी तुमुल निनाद उठ रहा था। वैष्णव अखाड़ों के जिन साधुओं ने पहले भोजन करने में आपत्ति की थी, वे सब-के-सब मौन थे। मुँह से एक शब्द नहीं निकल रहा था। उनलोगों ने बाबाजी से क्षमायाचना की और कुत्तों का भोजन समाप्त होने पर सबने श्रद्धाभाव से महाप्रसाद ग्रहण किया। चतुर्दिक चरणदासजी का जयकार होने लगा।

इस आनन्द कोलाहल के बीच राधेश्याम बाबाजी ने प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रों से बाबाजी महाराज का आलिंगन किया। बोले, "निताई-चाँद पर तुम्हारी इतनी दृढ़ आस्था है और तुम इतने समर्थ साधक हो गये हो, यह मैं सोच भी नहीं सकता था। धन्य हो तुम, धन्य है तुम्हारी यह भक्तिभरी विश्वास—शक्ति ? मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी साधना और अधिक सार्थक एवं फलवती हो।

चरणदासजी अपनी भक्त मंडली के साथ परिक्रमा करने के लिए कृष्णनगर जानेवाली सड़क से जा रहे थे। "जय निताई गौर राधेश्याम, जय हो कृष्ण हरे-राम" का जप करते सबलोग चल रहे थे। चरणदासजी पाँव पर पाँव बढ़ाते टेढ़ी-मेढ़ी गति आगे-आगे चलते थे। एक दिव्य आनन्द की आभा उनके चारों ओर छिटक रही थी। प्रेमावेश में उनकी आँखें अर्धनिमीलित थीं।

उन्हें रास्ते की जानकारी नहीं थी और न किसी से पूछा ही। अभ्यस्त व्यक्ति की तरह रास्ते पर पाँव बढ़ाते चलते जाते थे। किन्तु जहाँ जाना था, वहाँ पहुँचने में कोई भूल नहीं होती थी। कुतूहलवश भक्तगण पूछते थे, "बाबाजी महाराज, यह सब पथ-घाट क्या आपका परिचित है ?"

किंचित मुस्कराते हुये बाबाजी कहते, "अरे, मेरे नहीं चिन्हने से क्या होता है? मेरे निताईचाँद तो सबकुछ पहचानते हैं। नाम और नाम-धारक अभिन्न होता है। नाम रूप में निताई-चाँद जो इस कीर्तन के साथ-साथ चल रहे हैं, क्या उनके लिए अज्ञात, अगंतव्य कुछ है भी, रे। एक मात्र नाम का आश्रय लेकर चलते जाओ, जहाँ तुम जाना चाहोगे, वहाँ वे पहुँचा देंगे।"

कृष्णनगर में बड़े बाबाजी के कीर्त्तन-काल में उनकी अनेक विभूतियाँ लोगों में प्रगट हुई। एक दिन वे प्रेमानन्द में उन्मत्त होकर कीर्त्तन और नृत्य कर रहे थे। भावावेश में उपस्थित सबलोग मतवाला हो रहे थे। प्रांगण में एक नैष्ठिक ब्राह्मण तांत्रिक खड़े थे। समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। अनेक विशिष्ट एवं उच्च पदस्थ व्यक्ति उनके शिष्य थे। आज कीर्त्तन की भाव-तरंग ने उनकी समस्त सत्ता को आलोड़ित कर दिया। वे अकस्मात् जोर-जोर से रोते हुये भूमि पर लोटने लगे। कीर्त्तन प्रांगण की पवित्र धूल में लोटते लोटते उनका गेरुआ वस्त्र, रुद्राक्ष—माला और सिंदूर—तिलक आदि सबकुछ अस्त-व्यस्त हो गया।

शांत होने पर उन तांत्रिक ब्राह्मण ने जो कुछ कहा, उसे सुनकर लोग घोर विस्मय में पड़ गये। उन्होंने कहा, "भाई तुम सबलोग सुनो। मैं घोर अपराधी हूँ। निताई-गौर हरि को भजनेवालों को देखकर मेरे मन में घोर क्रोध होता था। किन्तु आज के कीर्त्तन में मैंने जो दृश्य देखा, उसे कभी भूल नहीं सकता। मैंने आंगन में नृत्यरत ज्योतिर्मय देहधारी युगल देवमूर्ति का दर्शन किया है। लेकिन मैं तो अभागा हूँ। उन्हें देखकर चकित हो रहा था कि वे अन्तर्धान हो गये। तुमलोग मुझ हतभागे पर दया करो।"

उन्हें सांत्वना देते हुए चरणदासजी ने कहा, "बाबा, नाम और नामी तो अभिन्न हैं। नाम रूप में वे सदा साक्षात उपस्थित रहते हैं। आप पर माँ महामाया की अशेष कृपा है जिस कारण आपको इस कीर्त्तन-क्षेत्र में निताई-गौर का दिव्य दर्शन हुआ है।"

एक अन्य दिन बड़े बाबाजी अपनी मंडली के साथ नगर-कीर्त्तन में निकले थे। शहर के एक भाग में भुवन मोहन मित्र नामक एक सज्जन का घर था। मित्र महाशय धीर-गंभीर और विचार-बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति थे। वे मन-ही मन विचार कर रहे थे, "सुनता हूँ ये बाबाजी शक्तिधर अन्तर्यामी पुरुष हैं। ये यदि बिना बुलाए मेरे घर आ गये और इस तुलसी चबूतरे के सामने नाम-कीर्त्तन करने लगें. तब मैं समझूँगा कि ये सचमुच समर्थ साधक हैं।"

आश्चर्य की बात, क्षण भर में कीर्त्तन मंडली की शोभा-यात्रा का मार्ग बदल गया। सब लोग मित्र महाशय के घर आये, और अनाहूत भाव से उनके आँगन में प्रवेश कर चरणदासजी ने भावोन्मत्त होकर कीर्त्तन आरम्भ कर दिया।

चारों ओर लोगों की भीड़ जमा हो गई। कीर्त्तन-मंडली और दर्शक वृन्द सब में अपूर्व प्रेमावेश का जागरण था। इतने में एक व्यक्ति भाव-प्रमत्त होकर

कीर्त्तन मंडली में घुस गया और उच्च स्वर में माँ-माँ पुकारने और नाचने-कूदने लगा। अकस्मात् वह भूमि पर गिर पड़ा और लुढ़कते-लुढ़कते बड़े बाबाजी के निकट पहुँच कर अर्धबाह्य अवस्था में उनके दाहिने पाँव का अंगूठा चूसने लगा। बाबाजी प्रस्तर-स्तम्भ की तरह स्थिर मौन खड़े थे। पता नहीं, किस अलौकिक राज्य में उनकी समग्र चेतना चली गई थी। उनकी अर्ध-निमीलित आँखें रक्तिम हो रही थीं।

उस समय आंगन में खड़े भक्तों और दर्शकों ने एक अद्भुत दृश्य देखा। भूमि लुंठित वह व्यक्ति बाबाजी के पैर का अंगूठा चूस रहा था और उसके मुँह के दोनों कोर से दुग्ध-शुभ्र रस-धारा प्रवाहित हो रही थी। होश में आने पर वह व्यक्ति कहने लगा, "आज मेरे मन में तीव्र अभिलाषा जगी थी कि एक छोटे बालक की तरह मैं महामाया माँ का दुग्ध-पान करूँगा। इन महापुरुष के अलौकिक शक्ति-बल से मेरी वह अभिलाषा पूरी हो गई।"

एक बार नवद्वीप में कुछ ऐसी ही एक अलौकिक लीला हुई। स्थानीय सरकारी अफसर योगेश सान्याल के घर में प्रतिदिन कीर्त्तन होता था। उस दिन भावोन्मत्त बाबाजी के शरीर में बार-बार सात्विक विकार के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। सबलोग विस्मय से अवाक् थे और बाबाजी को विस्फारित नेत्रों से देख रहे थे। ऐसे सात्विक प्रेम-विकार की बात उनलोगों ने अब तक लोक-मुख से सुना ही था अथवा भक्ति ग्रन्थों में पढ़ा भर था। आज अपनी आँखों से देखकर सब-के-सब कृतार्थ हो रहे थे।

चतुर्दिक कीर्त्तन का रस-स्रोत उमड़ रहा था। बाबाजी चरणदास में तरह-तरह से विचित्र भावोन्मेष दिखाई पड़ता था। कभी तो सारा शरीर रोमांचित हो जाता, कभी अर्धनिमीलित नेत्रों के सामने दिव्य दर्शन का संकेत देते, कभी प्रेमाश्रु जल और पसीनों से शरीर तर-ब-तर हो जाता।

बहुत देर के बाद वे प्रकृतिस्थ हुए। आंगन के एक कोने में पक्का बँधा स्थान था। वहाँ जाकर वे स्तम्भवत खड़े हो गये। उसी समय एक भक्त ने वहाँ जाकर उन्हें भक्तिभाव से दंड-प्रणाम किया। उठने पर उसने देखा कि उस पक्की जमीन पर बाबाजी के दोनों पैरों की छाप उग आई है और बाबाजी के पसीनों से भींगी हुई है।

यह देखकर आँगन में खड़े भक्तलोगों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। उनमें से कुछ लोगों ने अपने उत्तरीय वस्त्र से पोंछ कर उस पद-चिह्न को मिटाने का प्रयास करने लगे। छाप का मिटना तो दूर रहा, बल्कि वह दर्पण वत् चमकने लगा।

शक्तिमान महापुरुष के अलौकिक पदचिह्न का दर्शन करने का सौभाग्य उस दिन अनेकानेक लोगों को प्राप्त हुआ।

चरणदासजी के शिष्य, ख्यातनामा वैष्णव आचार्य श्री रामदास ने उनकी जीवनी में उक्त अलौकिक घटना का वर्णन करते हुए लिखा है, "बहुत दिनों की बात नहीं है, मात्र तेईस-चौबीस वर्ष पहले की घटना है। इसके अनेक प्रत्यक्षदर्शी अभी भी वर्त्तमान हैं। वह पदचिह्न बारह वर्षों तक स्पष्ट रहा। हमलोगों के दुर्भाग्य से या इच्छामय प्रभु की इच्छा से या कहिए किसी अनाचारवश ही, चरणदासजी के देहत्याग के तीन वर्षों बाद वह चिह्न धीरे-धीरे लुप्त हो गया। वह भवन, जहाँ यह लीला घटित हुई, कृष्णानगर में है और उसके स्वामी हैं श्री युत् योगेंन्द्र नाथ बन्द्योपाध्याय महाशय।"

इस अलौकिक घटना का तात्पर्य जानने के लिए बाबाजी महाराज के शिष्यों ने उन्हें घेर लिया। किन्तु उस दिन, हँसते हुये, उन्होंने टाल दिया। केवल इतना ही कहा, "देखो भाई, ऊधो का बोझा माधो के कन्धे पर क्यों डालते हो? निताई चाँद कौन सा खेल दिखला रहे हैं, वे ही जाने। उसके लिए किसी व्यक्ति को उत्तरदायी बनाना तो उचित नहीं है?

एक बार चरणदासजी कृष्णनगर से दिग्नगर नामक गाँव में आये। बात-चीत के क्रम में उन्हें मालूम हुआ कि पास ही एक अत्यन्त पुरातन विराट वटवृक्ष है। उसके नीचे अनेक लोग भक्तिभाव से पूजा करते हैं। किन्तु इन दिनों ग्रामवासियों को घोर दुःख है कि उस गाँव के सीमान्त पर रहनेवाले कुछ दुर्वृत्त मुसलमानों ने उस वृक्ष की कई शाखाएँ काट दी हैं। मना करने पर वे लोग कहते थे कि 'पेड़-पत्थर सब कुछ को देव-स्थान कह देने से मात्र काम चलने का नहीं। आपलोग क्या इसका कोई प्रमाण दे सकते हैं? यदि आपलोग प्रमाण नहीं देंगे तो एक दिन हमलोग पेड़ को ही काट फेकेंगे।

सब बात सुनकर बाबाजी ने शांत भाव से ग्रामवासियों से कहा, "आपलोग मंगलमय भगवान को पुकारिये, उनसे अपना कष्ट कहिए। वे दुष्टों का दमन और अन्याय का प्रतिकार करने वाले हैं।"

अगले दिन चरणदासजी अपने साथियों के साथ प्रतिदिन के नियमित नाम-कीर्त्तन के लिए बाहर निकले। बहुत से भक्त ग्रामवासी भी साथ हो लिए। चरणदासजी पुलकित देह और अर्धनिमीलित आँखों से आगे-आगे चल रहे थे। उनके लिए रास्ता अनजाना था। आस-पास के लोग अपरिचित थे। फिर भी वे आगे बढ़ते जा रहे थे, मानों कोई अदृश्य प्रेरणा उन्हें अग्रसारित कर रही थी।

प्रेमोन्मत्त दशा में धीरे-धीरे मुसलमान टोले के नायक हारू मंडल के घर के निकट जा कर खड़े हो गये। कीर्त्तन की मधुर ध्वनि और भाव-तन्मयता से एक दिव्य परिवेश की सृष्टि हो रही थी।

हठात् हारू मंडल की ओर बढ़कर बाबाजी ने हुंकार किया और उसे कीर्त्तन में सम्मिलित होने के लिए बुलाया। हारू मंडल मंत्र-मुग्ध उन्मत्त जैसा कीर्त्तन करने लगा। प्रेमानन्द में वह आत्मविस्मृत था। भावोन्मत्त दशा में वह धूल में लोटने लगा। सबलोग विस्मय विमूढ़ होकर इस दृश्य को देखते रहे।

बाबाजी ने हारू मंडल का आलिंगन कर उसके कान में मंत्र प्रदान किया।

तत्पश्चात् नृत्य करते हुए वे उस पुरातन वट वृक्ष के निकट गये। वहाँ सबलोग वृक्ष को घेर कर नृत्य-कीर्त्तन करने लगे। घंटों यह सब चला। महापुरुष के मुख से निःसृत कीर्त्तन-गान से दिशाएँ गुंजित होती रहीं। भक्तगण गाते थे, "भजो निताई-गौर राधेश्याम, जपो हरे कृष्ण हरे राम।" कीर्त्तन गाने वाले और श्रोतावृन्द सब के सब रसानुभूति से उद्वेलित हो रहे थे।

हठात् लोगों ने एक अद्भुत दृश्य देखा। उस पुरातन वट वृक्ष की शाखाएँ कीर्त्तन से स्पन्दित होकर चैतन्यमय हो गयीं और कीर्त्तन के छन्द पर डोलती हुई नृत्य करने लगीं। बाबाजी और उनके संगी जहाँ-जहाँ खड़ा होकर कीर्त्तन करते, वहाँ-वहाँ ऊपर की शाखा-प्रशाखाएँ और पल्लव-दल तालबद्ध होकर डोलने लगते। पत्तों से बूंद-बूंद जलकण झरते।

नृत्य-गान के माध्यम से यह कैसा अपूर्व शक्ति-संचार हुआ! बाबाजी की इस कीर्त्तन-लीला और विभूति की बात शीघ्र ही चतुर्दिक फैल गयी। उस पुरातन वट वृक्ष के नीचे हिन्दू-मुसलमान सबके लिए सार्वजनिक उत्सव-क्षेत्र बन गया। ज्ञात नहीं, किस मायापति की माया से उस दिन के आनन्दहाट में जाति-धर्म की विषमता लुप्त हो गई!

किन्तु अविश्वासी दुष्ट लोगों की कमी कहीं रहती नहीं है, वहाँ भी नहीं थी। उनलोगों ने तरह-तरह का संदेह और कुतर्क करना शुरू कर दिया। कोई कहता, बाबाजी प्रेत वशीकरण मंत्र जानते हैं। उसी मंत्र शक्ति के प्रभाव से वृक्ष की शाखाएँ डोलने लगी थीं। कोई कहता, पेड़ में बाबाजी का कोई अनुचर भक्त छिपकर बैठा था, जो डालों को हिला-डुला देता था, किंवा कोई बानर दल था जो यह काम करता था।

ये बातें चरणदासजी के कानों तक भी पहुँची । वे चिल्लाने लगे, "यह क्या ? नाम-शक्ति पर भी ऐसा संदेह ? लगता है उन मूर्खों की आँखों में ऊँगली डालकर कुछ और दिखलाना पड़ेगा ।"

वे अपना अपमान या कटुक्तियों की बाण-वर्षा बर्दाश्त कर सकते थे; किन्तु शास्त्र, गुरु, वैष्णव-भक्त, भगवत् नाम और मूर्त्ति पर अश्रद्धा या अविश्वास उनके लिए असहनीय था । इसलिए उन निन्दक और अविश्वासी दुर्जनों का दमन करने का संकल्प लिया । आस-पास के गाँवों में उन्होंने डुगडुगी पिटवा दी कि चरणदासजी उस पुरातन वट वृक्ष के नीचे कीर्त्तन यज्ञ करेंगे । हजारों लोग वहाँ जुट गये । प्रतिदिन खूब भोर से लोगों से घिरे उस वृक्ष के तले कीर्त्तन शुरू होता और दोपहर तक चलता । दिन के तीव्र प्रकाश में सब लोग देखते कि नाम-मंत्र के प्रभाव से वृक्ष के डाल-पत्ते आन्दोलित होकर नाचते रहते हैं । इस लीला की जाँच के लिए कुछ लोगों को पेड़ पर भी चढ़ा दिया गया था कि कोई ऊपर बैठकर शाखाओं को हिला-डुला तो नहीं रहा है ! किन्तु ऊपर तो कोई था नहीं ।

नाम शक्ति का यह अलौकिक प्रभाव सात दिनों तक, जबतक कि कीर्त्तन ला, लोग देखते रहे ।

इस बीच बाबाजी के हिन्दू-मुसलमान, बहुत-से भक्त जुट गये थे । एक दिन उन्होंने सबको बुलाकर कहा, "देखो, मैं इस वृक्ष का नामकरण करता हूँ । अब से इसका नाम हुआ—'कल्पवृक्ष' । इसकी पवित्र जड़ को तुमलोग दूध और गंगा जल से सिंचन करना और घी का दिया जलाकर इसके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करना । इससे तुमलोगों का मंगल होगा ।"

१९०३ साल के पूष मास की बात है । चरणदासजी के प्रिय शिष्य नवद्वीप दास मरणासन्न थे, निमोनिया का प्रबल प्रकोप था । किन्तु चरणदासजी नितान्त उदासीन भाव से बैठे थे । लोग जब रोगी की चर्चा करते तो बाबाजी कहते, "अरे भाई, मैं यह सब क्या जानूं । निताई चाँद की जो इच्छा होगी, वही होगा । व्यर्थ की दौड़-धूप से क्या होने वाला है ? तुमलोग एकान्त भाव से नाम-जप करो । नाम से जन-कल्याण होता है ।"

इधर नवद्वीप दास की नाड़ी डूब रही थी । उसकी आँख अपने गुरु महाराज पर टिकी थी और लगता था, वे इस रूप में विदा होना चाहते थे । किन्तु चरणदासजी तो बिल्कुल निर्विकार भाव से बैठे थे । केवल बीच-बीच में खूब जोर से 'जय निताई, जय निताई' बोलते ।

नवद्वीप दास का अन्त काल आ गया। सेवक लोग हताश भाव से रोगी को घर से बाहर ले आये।

आँगन में नाम-कीर्त्तन चल रहा था। अचानक बाबाजी भावाविष्ट होकर उठ गये और जाकर नवद्वीप दास को कलेजे से चिपका लिया। उस समय उनका शरीर थर-थर काँप रहा था। भक्तगण उत्कंठावश उन्हें घेर कर खड़े हो गये। कुछ देर के बाद लोगों ने देखा कि चरणदासजी के शरीरस्पर्श से मृतकल्प नवद्वीप दास धीरे-धीरे आँखें खोल रहे हैं। 'बोलो नित्यानंद', बोलो नित्यानंद' कहते-कहते बाबाजी प्रेमोन्मादवश उठ गये। नवद्वीप दास का प्राण लौट आया था। भक्तों में असीम उल्लास था। कीर्त्तनानंद में सब लोग मतवाला हो रहे थे।

कुछ देर बाद, कीर्त्तन समाप्त होने पर बाबाजी महाराज ने नवद्वीप दास को आदेश दिया, "जाओ, कीर्त्तन स्थल की धूल में लोटो। समझ लो कि निताई चाँद ने इस बार तुम्हारी रक्षा की है।" नवद्वीप दास के रोग-क्लिष्ट मुंह पर क्षीण हँसी की रेखा फूट पड़ी। धीरे-धीरे बड़े बाबाजी को दंड-प्रणाम किया और बोले, "दादा, मैं तो समझता हूँ, यह सब तुम्हारी इच्छा से हुआ है। तुम्हारी प्रेम-शक्ति असीम है। तुम्हीं रक्षा कर सकते हो, तुम्हीं मार भी सकते हो।"

उस दिन रात में बाबाजी महाराज को तीव्र ज्वर हो आया। निमोनिया का प्रकोप था। चिकित्सक कविराज घोर चिन्ता में पड़ गये, रोग के कम होने का कोई लक्षण नहीं दीख रहा था।

बाबाजी की बीमारी की खबर अन्यान्य स्थानों के भक्तों को दे दी गई। एक दिन कलकत्ता के एक भक्त उन्हें देखने आये। साथ में नाना प्रकार के फल, अँचार, मोरब्बा आदि लेते आये थे। पता नहीं, गुरुदेव को कब किस चीज की जरूरत पड़ जाय।

चरणदास जी की बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। एक दिन हृदय में तीव्र पीड़ा के कारण वे कातर हो रहे थे।

गंभीर रात थी, आश्रमवासी सबलोग सो रहे थे। बाबाजी महाराज हठात् बिस्तरे से उठ बैठे। सेवा में जो भक्त थे, उनसे उन्होंने कहा, "यह ऊपर जो दो हाडी अँचार है, उसे उतारो तो।" आदेश का पालन किया गया। उन्होंने गंभीर भाव से सब अँचार-मोरब्बा को बाहर निकाल कर खाने लगे। बेचारा भक्त भय से स्तंभित हो गया। संकटापन्न निमोनिया के रोगी यह सब क्या कुपथ्य खा रहे हैं!

अनुनय करते हुए उस भक्त ने बाबाजी से कहा, "महाराज, आपका शरीर अस्वस्थ है, कविराज महाशय, घोर चिन्ता में हैं। ऐसी हालत में यह सब खाना क्या ठीक है ?" बाबाजी ने सहज भाव से उत्तर दिया, "मेरा शरीर अस्वथ है तो क्या हुआ ? निताई चाँद जो यह सब खाना चाहते हैं। उन्हें भोग देने के सिवा और क्या उपाय है ?"

सम्पूर्ण कुपथ्य राशि को उन्होंने उस निभृत रात्रि में उदरस्थ कर लिया। स्वस्थ अवस्था में किसी दिन भी इतने परिमाण में भोजन करते चरणदासजी को किसी ने नहीं देखा था।

सारी घटना की खबर पाकर शिष्यगण बुरी तरह घबरा गये। किन्तु बाबाजी महाराज को कोई क्या कह सकता था ? वे तो स्वतन्त्र स्वेच्छामय पुरुष थे। सबेरे उन्होंने सबसे कहा, "आज मेरी तबियत ठीक लग रही है। मैं अच्छी तरह स्नान करूँगा।" यह सुनकर शीघ्र ही कविराज महाशय को बुलाया गया। कविराज बाबाजी के शरीर की परीक्षा करके घबरा गये। शिष्यों से कहा, "तुमलोग व्यर्थ ही चिन्तित हो रहे हो। बाबाजी महाराज की नाड़ी में कफ-चिन्ह लेशमात्र भी नहीं है। बल्कि वायु-विकार के ही लक्षण हैं। इसमें शीतल जल से स्नान करने में कोई हानि नहीं है। गत रात्रि में किस मंत्र-बल से सारा कुपथ्य अमोघ औषध हो गया, यह मैं कैसे बताऊँ ? वह विद्या तो मुझे मालूम नहीं।"

नवद्वीप के एक वैष्णव अखाड़े में दो-तीन साथियों के साथ बाबाजी आये हुए थे। उस समय एक भक्त बालक आया और उनके चरणों में प्रणाम निवेदित किया। बालक की आयु १४-१५ वर्ष की होगी। उज्ज्वल-श्याम वर्ण था। मुखमंडल आंतरिक आनन्द से दीप्त था।

उपस्थित भक्तों ने बाबाजी से बालक का परिचय कराया। उसका नाम था रामदास। फरीदपुर के महापुरुष प्रभु जगबन्धु का प्रियपात्र था। कीर्त्तन-गान में वह अत्यन्त प्रवीण था। उसके भजन-से श्रोताओं के हृदय में प्रेम-भक्ति का रस-संचार होता था। रामदास ने बाबाजी को कीर्त्तन-गान सुनाया। बाबाजी आनन्द-विभोर हो गये। वे बार-बार कहने लगे, "भाई, आज तुमने तो मुझे खूब आनन्दित किया। मैं निताई चाँद के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि वे प्रेमधन से तुम्हें सम्पन्न कर दें।"

महापुरुष की यह आशीर्वाणी सफल हुई। बालक रामदास ने बाबाजी के चरणों में आत्म-समर्पण किया। और, अनेक वर्षों तक उनकी स्नेह-छाया में

आत्म-विकास करता रहा। कालान्तर में वह रामदास बाबाजी के नाम से लोगों में प्रसिद्ध हुआ।

बाबाजी महाराज की प्रेम-भक्ति साधना का विशिष्ट अंग था—भगवत् नाम प्रचार। उनके व्यक्तित्व और प्रेरणा से, उनके कीर्त्तन के प्रभाव से प्रेमानन्द की धारा चतुर्दिक उमड़ने लगी। इन समर्थ वैष्णव महापुरुष की अध्यात्म शक्ति में अद्भुत आकर्षण था। भक्त हो या अभक्त हो, सब लोग उनके प्रभाव से खिंचे चले आते थे। उनके यहाँ आस्तिक-नास्तिक का, वैष्णव शाक्त का भेदभाव नहीं था। उनकी करुणा और प्रेम दृष्टि में सब समान थे। अपने परम स्नेह के बल से वे सबको आकर्षित करते और उन्हें प्रेम-भक्ति के साधन-पथ पर अग्रसारित कर देते।

वे जहाँ भी जाते, वहाँ नाम-गान के आधार पर अपूर्व आनन्द-रस की धारा प्रवाहित कर देते। उनकी प्रेम-शक्ति के प्रभाव से कीर्त्तन-सभाएँ कीर्त्तन-श्रीक्षेत्र में परिणत हो जाती।

समसामयिक प्रसिद्ध संन्यासियों और भक्त-साधकों के बीच बाबाजी महाराज के आध्यात्मिक जीवन की असामान्य मर्यादा थी। नवद्वीप के ज्ञानानन्द स्वामी अवधूत प्रायः ही अपने शिष्यों से कहा करते, "नाम-कीर्त्तन प्रारंभ होते ही चरणदासजी महाराज की देह में निताई-गौर, दोनों भाइयों की क्रीड़ा आरंभ हो जाती, मानों उनका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह सब मैंने अपनी आँखों देखा है। अगर ऐसी बात नहीं होती तो क्या दो-चार जैसे-तैसे भक्त साथियों को लेकर कीर्त्तन आनन्द की ऐसी रस-धारा का क्या कोई सृजन कर सकता है?"

जगन्नाथदेव के शृंगारी पंडा, माधव पशुपालक गद्गद् कंठ से कहा करते थे, "बड़े बाबाजी महाराज, आप जब पुरी में नहीं रहते हैं तो मालूम होता है कि जगन्नाथदेव निरानन्द हो रहे हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि आप प्रभु जगन्नाथ देव के कोई अन्तरंग संगी हैं।"

कीर्त्तन समारोह में भावतन्मय बाबाजी महाराज, किसी दिव्य प्रेरणावश एक से बढ़कर एक, स्वतः स्फूर्त्त भावोत्तेजक पदावली गाते जाते थे। श्रोताओं के हृदय में रसानुभूति की तरंग संचारित होती थी। उनके लोगों के हृदय की आर्त्ति और भाव प्रवाह इन अन्तर्यामी महापुरुष के भी अन्तर में प्रतिध्वनित होती और ये उनलोगों के अनेक जटिल प्रश्नों और समस्याओं का समाधान कर देते थे। श्रोता भक्तों के अन्तर के अकथित प्रश्नों का उत्तर

उनलोगों को बाबाजी महाराज के कीर्त्तन-पदों के माध्यम से मिल जाता था। उस समय वे घोर आश्चर्य में डूब जाते थे।

एक बार बाबाजी महाराज पुरी के विशिष्ट वकील हरिवल्लभ बाबू के घर आये थे। उस अवसर पर अनेक भक्त और सज्जन आमंत्रित थे। उनमें रामकृष्ण-मण्डली के कई साधु भी थे। सब लोगों के आग्रह पर बाबाजी ने कीर्त्तन आरम्भ किया। रामकृष्ण-मण्डली के साधुओं के मन की इच्छा थी कि वे बाबाजी महाराज से पूछेंगे कि वे (बाबाजी) वेदान्त को मानते हैं या नहीं। इसके अलावा भी वे लोग अन्यान्य तात्विक विषयों पर प्रश्न करना चाहते थे। उनलोगों ने तय किया कि कीर्त्तन समाप्त होने पर वे लोग एक-एक कर प्रश्न पूछेंगे।

नाम-गान और उत्ताल नृत्य के बाद बाबाजी महाराज सभा में स्थिर बैठ गये। अब पद-कीर्त्तन की बारी थी। किन्तु बाबाजी पद-कीर्त्तन के स्थान पर क्या सब अद्भुत गाने लगे! साधारणत: वे कीर्त्तन-पदों को कंठस्थ नहीं करते थे। जिस समय जिस भाव और जिस रस की स्फूर्त्ति होती थी, उसी के अनुरूप ही वैसे पद उनके मुख से अनायास निःसृत होने लगते थे। किन्तु आज के कीर्त्तन-गान का पद विन्यास निराला ही था। आज उनके मुख से निःसृत पदों के माध्यम से वेदान्त के गूढ़ तत्वों का विश्लेषण चल रहा था। त्रिपदी, चौपदी और पयार छन्दों में वेदान्त के जटिल प्रश्नों का उत्थापन और साथ-साथ उनका निराकरण होता जाता था। इस प्रकार बाबाजी एक-पर-एक वैदान्तिक सिद्धान्त की स्थापना करने लगे। उनके प्रेमसिद्ध कंठ से स्वत: स्फूर्त्त दार्शनिक पदावलि को सुनकर संन्यासियों के हृदयस्थ सभी प्रश्नों का उत्तर उन्हें मिल गया। भक्त साधक के प्रेमाश्रु-सिंचित पदों ने उनलोंगो के मन के सारे संदेह और वितर्क को धो-पोंछ दिया।

बड़े बाबाजी की लोकोत्तर शक्ति का यह परिचय पाकर समागत विद्वज न और भक्तगण मुग्ध रह गये।

बाबाजी महाराज के एक अंतरंग भक्त थे जयगोपाल। वे सेवाव्रत को एकान्त भाव से अध्यात्म जीवन का प्रधान अवलम्बन मानकर चल रहे थे। कीर्त्तन में उनका विशेष उत्साह नहीं था। विग्रह सेवा, वैष्णव सेवा और गुरु सेवा को लेकर ही वे सदा व्यस्त रहते।

एक दिन भावाविष्ट अवस्था में बाबाजी ने जयगोपालजी को राधारानी की सखी के रूप में देखा। तत्पश्चात उन्होंने जयगोपालजी को गोपीवेश में सज ने का संकेत दिया और उनका नया नाम करण किया-ललिता सखी।

बाबाजी महाराज प्राय: ही उन्हें समझाते रहते, "केवल वेश धारण करने से कुछ नहीं होगा। जब सखी भाव को स्वीकार किया तो आत्म-सुख को संपूर्णतः भूल जाना चाहिए। निष्काम गोपी भाव का हृदय से अनुगत होकर अपने स्वभाव का तदनुरूप गठन करना चाहिए। तभी तो अपनी साधना के फलस्वरूप वैसी अवस्था पा सकोगे।"

बाबाजी के एकान्त भक्त जयगोपालजी ने गुरु के आदेश का पूर्णरूपेण पालन किया और आगे चल कर गोपी भाव के सार्थक साधक बन गये। नव-द्वीप समाज में वे ललिता सखी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

लाला बाबू के मैनेजर ने एक दिन चरणदासजी को भोजन करने के लिए निमंत्रण दिया। वहाँ पहुँचते ही बाबाजी ने सांगोपांग कीर्त्तन शुरू किया। उनको घेर कर तुमुलनृत्य-गीत चलने लगा। भावानुराग से सब लोग गदगद् थे। उसी समय एक प्रेमोन्मत्त ब्राह्मण युवक वहाँ आया। वह भागलपुर का रहने वाला था। देखने में बहुत ही रूग्ण लगता था। हाथ में बाँस की लाठी थी, बगल में लोटा-कम्बल। वह सबके साथ अशान्त भाव से नृत्य-कीर्त्तन करने लगा। हाथ का रुपया-पैसा कब कहाँ गिरा, इसका भी भान उसे नहीं रहा। अन्ततः वह नाचते-गाते बेहोश होकर गिर पड़ा।

बहुत समय बीत गया। युवक होश में नहीं आ रहा था। चरणदासजी ने कहा, "अरे, तुम लोग शीघ्र ही इसके कान में भगवत नाम सुनाओ।" किन्तु भगवत नाम सुनाया जाय तो किसे! कोई आवाज उसे सुनाई नहीं पड़ रही थी। वह तो बज्र बधिर था।

बाबाजी महाराज उसके निकट आये और बायें हाथ से उसके वक्षस्थल का स्पर्श किया। स्पर्श करते ही युवक का सर्वांग रोमांचित हो गया। उसी समय महापुरुष बाबाजी ने उसके कान में मंत्र प्रदान किया। मंत्र पाते ही वह कंपित शरीर से उठ बैठा। दोनों हाथ पसार कर, "जय निताई, जय निताई" कहते हुये नाचने लगा।

कुछ देर बाद वह बाबाजी महाराज के सामने आकर बोला, "गुरुजी, एक बार और हमको कह दीजिए। दो-एक बात मैं भूल गया हूँ।" सबलोग समझ गये, यह बज्र बधिर युवक सचमुच बड़ा ही भाग्यवान है। चरणदासजी का शक्ति संचारित मंत्र निश्चय ही उसके कान में पहुँच गया है। गुरु प्रदत्त मंत्र ग्रहण करने के साथ ही उसका दुरारोग्य कर्ण-रोग भी दूर हो गया।

बाबाजी महराज ने इस नये भक्त को वैष्णवोचित 'भेक' (वेश-भूषा) दिया और उसका नया नाम करण भी किया "कुंज दास"। तत्पश्चात उन्होंने उसे

जगन्नाथ मंदिर में श्री चैतन्य विग्रह के सेवा-कार्य के लिए नियोजित किया। कालान्तर में बाबाजी का यह भागलपुर वासी शिष्य प्रेम-भक्ति के साधक के रुप में खूब प्रसिद्ध हुआ।

बाबाजी महाराज का कोई निर्दिष्ट मठ या वास स्थान नहीं था। वे स्वेच्छा से जहाँ-तहाँ रह जाते थे। उधर उनके भक्तगण उन्हें किसी एक निश्चित स्थान पर रखना चाहते थे। अनेक भक्तों की आकांक्षा थी कि इन महापुरुष को केन्द्रित कर अपना एक मठ या आश्रम स्थल बनाया जाय। यह सुयोग शीघ्र उपस्थित हुआ।

एक दिन बाबाजी के कुछ गृहस्थ भक्त उनसे मिलने आये। उन लोगों ने कहा कि पुरी धाम के झाँझपीटा नामक स्थान में एक मठ है। इस मठ की स्थापना नरोत्तम ठाकुर के शिष्य सेवा दास ने अपने गुरु के आदेश से की थी। उस मठ मे स्थापित मूर्त्ति 'राधाकान्त जी' कहे जाते हैं। मठ विरक्तसिद्धाश्रम नाम से प्रसिद्ध है। मठ के पिछले सेवाइत की मृत्यु के बाद उनका कोई उत्तराधिकारी नहीं बचा है। इसलिए मठ के विग्रह की सेवा और मठ की स्थावर सम्पत्ति की देखभाल सरकारी प्रबन्ध में है।

गृही भक्तों ने बाबाजी से आग्रह किया कि वे मठ की देखभाल करना स्वीकार करें, उनकी सम्मति मिलने पर वे सरकार की मंजूरी प्राप्त कर लेंगे।

इस प्रस्ताव को सुनकर बाबाजी एक बार चौंक गये। अत्यन्त दीन भाव से उन्होंने कहा "मेरे-जैसे आसक्ति पूर्ण मनुष्य को तुमलोग क्यों विरक्त सिद्ध मठ में ले जाना चाहते हो? आत्म-सुख की लालसा अभी तक मेरे मन से नहीं गई है। मठ की सेवा का अधिकार मुझे नहीं है। पूर्णतः अनासक्त हुए बगैर विग्रह-सेवा का भार लेने से अपनी ही अवनति होगी। इसके अलावा, देखो, निताई चाँद की कृपा से मैं अभी तक स्वतंत्र हूँ। मठ-विग्रह की सेवा का भार ले लेने पर तो मेरा अबाध स्वतंत्र विचरण संभव नहीं होगा।"

किन्तु उन आगत भक्तों ने हार नहीं मानी। कई दिनों बाद, भक्त किशोरी मोहन सेन बाबाजी से मिलने आये। प्रसंगवश उन्होंने बाबाजी से कहा, "प्रभु मेरे मन में एक संदेह जग रहा है। श्री विग्रह और भगवान में क्या कोई अंतर है?"

व्यग्र होकर बाबाजी बोल उठे, "क्या कह रहे हो? इन दोनों में भेदभाव रखना महान अपराध होगा।"

"अच्छा महाराज श्री गोविन्द के साथ आपका क्या संबंध है?"

"अरे, मैं तो राधारानी का दास हूँ। इसलिए राधारानी का प्राणवल्लभ मेरा भी प्राणवल्लभ है।"

यह उत्तर सुनते ही किशोरी मोहन सेन ने पूछा, "प्रभु, आपका यह कथन मात्र मौखिक है या आन्तरिक ? देखता हूँ, आप स्नानादि कृत्य के पश्चात् प्रसाद (भोजन ग्रहण करने जाते है और उधर झाँझपीटा-मठ में श्री राधाकान्त-विग्रह निराहार उपवासी हैं। एक महीने से वे सरकारी थाना के गोदाम में पड़े हुए है। वहाँ उनकी सेवा-पूजा नहीं होती है। इतना ही नहीं, परसों मठ की स्थावर सम्पत्ति के साथ-साथ श्रीविग्रह भी नीलाम हो जायगा। कौन जानता है, नीलामी के बाद वह किस पाखंडी के हाथ पड़े !"

इतना सुनते ही बाबाजी के धैर्य का बाँध टूट गया। वे बच्चे की तरह सुबक सुबक कर रोने लगे। अब उनके लिए विग्रह-सेवा का भार स्वीकार करने के सिवा कोई चारा नहीं था। पहले मठका संस्कार किया गया, फिर बाबाजी ने मूर्त्ति का नूतन रूप से अभिषेक किया। राधारानी और राधाकान्त-जी की नयनाभिराम मूर्त्ति को बड़े समारोह से प्रतिष्ठित किया गया।

सेवाधिकार-प्राप्ति के साथ-साथ प्रभु राधाकान्तजी ने स्वयं ही अपनी सभी प्रयोजनीय वस्तुओं का प्रबन्ध कर दिया। मूर्त्ति की वेश-भूषा और भोग-राग का प्रबन्ध किसी अदृश्य शक्ति के इंगित पर अनायास ही हो गया।

एक दिन बाबाजी की इच्छा हुई कि श्री राधाकान्तजी के लिएएक मनोरम वंशी का जोगाड़ होना चाहिए। किन्तु यह भगवत मूर्त्ति तो कंगाल वैरागी अखाड़े में स्थापित थी। दीन-दुखी बैरागी भक्त जन किसी प्रकार विग्रह-सेवा कर लेते थे, किन्तु मन पसन्द एक सुन्दर वंशी का जोगाड़ नहीं हो पा रहा था। अन्ततः इसके लिए एक दिन, मालूम पड़ता है, स्वयं राधाकान्तजी को भिक्षार्थी रूप में निकलना पड़ा। उस दिन प्रातःका समय था। झाँझ पीटा मठ में मंगल आरती का बाजा बज रहा था। सबलोग श्री विग्रह के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े थे। ऐसे समय में एक साधु दीन भाव से मंदिर में प्रवेश किया। वैष्णव भक्ति और दीनता उनमें स्पष्टतः परिलक्षित हो रही थी। आँखों से अश्रुधारा वह रही थी। आरती शेष होने पर, उन नवागत भक्त ने मूर्त्ति के आगे एक सुन्दर बाँसुरी रख कर गद्‌गद् स्वर से कहने लगे, "हे दयामय, तुम्हारी करुणा असीम है। तुमने स्वयं ही मुझसे बाँसुरी की भिक्षा माँगी थी। यह बाँसुरी आज स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करो। इस दास के प्रति तुम्हारी यह कृपा चिरकाल तक बनी रहे।"

चरणदासजी के चरणों के पास बैठकर उन साधु महाशय ने जो कहानी कही, उसे सुनकर लोगों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। ये साधु रामायत मतावलंबी थे। पुरी धाम के माटी मंडप शाही अंचल में इनका निवास था। इनके इष्टदेव गोपाल कृष्ण थे जिनकी वे भक्तिभाव से सेवा-उपासना किया करते थे। जहाँ भी जो कुछ मनोरम वस्तु मिलता, उसे वे यत्न-पूर्वक अपने इष्टदेव के विग्रह के लिए जुगाकर रखते। करीब एक वर्ष पूर्व उन्होंने अपने गोपाल के लिए कर बाँसुरी बनवाई थी : उनकी बड़ी अभिलाषा थी कि किसी एक दिन गोपाल मनोरम वेश में उन्हें दर्शन देंगे। अपरूप त्रिभंगी रूप में खड़े होकर यह बाँसुरी अपने कर-कमलों में धारण करेंगे। इसी प्रतीक्षा में यह बाँसुरी पड़ी थी। किन्तु गत रात्रि में एक अद्भुत घटना घट गई। साधु महाराज गंभीर निद्रा में निमग्न थे। ऐसे में मानों किसी ने हठात धक्का देकर उन्हें जगा दिया। उन्होंने देखा प्रभु श्रीकृष्ण नयनाभिराम त्रिभंगी रूप में उनके सामने खड़े हैं, "अरे, घर में बाँसुरी रख कर मन में क्यों दुखित हो रहे हो! क्यों नहीं यह बाँसुरी मुझे दे देते ?"

साधु ने प्रश्न किया, "आप कौन हैं, कहां रहते हैं ? उत्तर मिला, "मेरा नाम राधाकान्त है। क्या तुम नहीं जानते हो ? मैं झाँझपीटा मठ का रहने वाला हूँ।"

इसीलिए वे रामायत साधु इतना सबेरे दौड़े आये हैं और श्री विग्रह के कर कमलों में बाँसुरी देकर धन्य-धन्य हुए हैं।

बड़े बाबाजी के प्रेम, भक्ति और सेवा-निष्ठा के साथ-साथ रसराज राधा-कान्तजी कभी-कभी बिनोद लीला भी किया करते थे। आश्रम में महिमचन्द्र नामक एक गरीब भक्त रहते थे। उन्हें स्वप्न में प्रभु राधाकान्तजी ने आदेश दिया, "अरे, सुनते भी हो ? तुम शीघ्र ही मेरे भोग के लिए माखन-मिश्री की व्यवस्था करो।" इतना कुछ भोग-राग पाने पर भी मालूम पड़ता था, प्रभु राधाकान्तजी को अपनी बाल-लीला का स्मरण हो आया है। तभी सेवा निष्ट भक्तों की इतनी सेवा के मध्य अपनी मधुर बाल्य-स्मृति को जागृत कर देना चाहते हैं।

बेचारे महिमचन्द्र ने ससंकोच निवेदन किया, "ठाकुर तुम्हें माखन-मिश्री खाने की इच्छा हुई, यह तो अच्छी बात है। किन्तु तुमने इतने दिनों से बाबाजी महाराज को यह बात क्यों नहीं कही ?"

राधाकान्तजी ने उत्तर दिया, "नहीं जी, तुम तो जानते हो मेरे कारण वह कितना कष्ट उठा रहा है। मुझे भी तो आगे बढ़ कर अपने लिए कुछ जोगाड़ करना चाहिए। तुम ही क्यों नहीं इसका प्रबन्ध कर देते हो ?"

दूसरे दिन महिमचन्द्र ने अपने स्वप्न की सारी बात चरणदास बाबाजी को सच-सच बता दी। उन्होंने बताया, "मेरे मन में बहुत दुःख है कि मैं सर्वथा कंगाल हूँ। मेरे पास कानी कौड़ी भी नहीं है। और राधाकान्तजी ने मुझ जैसे निर्धन को ही चुन कर अपने भोग-सामग्री की याचना की है। मुझे समझ में नहीं आता कि मै कैसे रोज-रोज माखन-मिश्री का जोगाड़ कर पाऊँगा।

चरणदासजी ने उत्तर दिया, "देखो महिम, हमारे इष्टदेव बड़े ही दयालु हैं। अपनी सेवा-सामग्री संग्रह करने के लिए वे स्वयं ही निकल पड़े हैं। इसलिए मैं रोज ही उनके लिए भीख माँगकर माखन-सिश्री के भोग का प्रबन्ध करूँगा। किन्तु जब उन्होंने मुँह खोलकर तुमसे ही याचना की है तो आज माखन-मिश्री की प्रथम भिक्षा के लिए तुम ही निकल पड़ो।"

एक अखंड परम बोध के ऊपर बंगाल का आध्यात्मिक जीवन प्रतिष्ठित है। उसी परम बोधमय, ज्योतिर्मय रससत्ता में सिद्ध पुरुष बाबाजी महाराज निरंतर डूबे रहते थे। उनमें जाति, धर्म, वर्ण आदि किसी प्रकार की विषमता का भेदभाव नहीं था। इसलिए आजकल सभी प्रकार के मुमुक्षु और जिज्ञासु दल के दल उनके निकट आ रहे थे। बाबाजी की प्रेम साधनामय वाणी उनलोगों के तर्क-वितर्क और मतान्तर की मीमांसा कर देती थी।

एक बार वे सदलबल उड़ीसा के ग्रामांचल में नाम-कीर्त्तन करते हुए भ्रमण कर रहे थे। एक स्थान पर शाक्त और वैष्णव संप्रदाय में मतवाद सम्बन्धी भयंकर वाद-विवाद चल रहा था। महापुरुष चरणदासजी के आने पर सबलोगों ने शांति की साँस ली। दोनों दलों के पक्षधर उनके निकट अपनी समस्या लेकर पहुँचे। उनलोगों की समस्या थी कि शक्ति उपासना और कृष्ण भजन—दोनों साधना पद्धतियों में कौन श्रेष्ठ है। दोनों पक्षों की बात सुनकर बाबाजी बोले, "देखो बाबा, हिंसा-विद्वेषयुक्त हृदय से किसी प्रकार के तत्वज्ञान की अवधारणा कदापि संभव नहीं है। प्रकृत पक्षतः परम तत्त्व में क्या किसी प्रकार का विरोध है? शक्ति और शक्तिमान में किसी प्रकार का वैषम्य है क्या? अग्नि और अग्नि की दाहिकाशक्ति को एक-दूसरे से क्या अलग किया जा सकता है? जहाँ तक इष्ट भजन का प्रश्न है, मैंने अनेक अनुसंधान किया, किन्तु शाक्त और वैष्णव के बीच किसी प्रकार का वैषम्य नहीं पाया। देखो न! वैष्णवों का प्रधान अवलम्ब योगमाया देवी ही है। उनकी कृपा के बिना भगवत लीला क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार मिल नहीं सकता। कात्यायनी व्रत करने पर ही व्रजगोपियों को श्रीकृष्ण का वास्तविक दर्शन लाभ हुआ। अम्बिका देवी की उपासना के फलस्वरूप रुक्मिणी देवी ने श्रीकृष्ण को पतिरूप में पाया। हर-गौरी

की आराधना करने पर ही जननी यशोदा को गोपाल मिले। स्वयं श्रीकृष्णको योगमाया की कृपा से वृन्दावन-लीला का रसास्वादन मिला। मातृ-रूप में देवी दशभुजा की कृपा प्राप्त करके ही उन्हें माखन-मिश्री का भोग प्राप्त हुआ। तुमलोग यह भी जानते हो कि त्रेतायुग में रामचन्द्र को रावण-वध करने के लिए दुर्गा की आराधना करनी पड़ी।"

आगे फिर बाबाजी महाराज ने कहा, 'पुराणों में लिखा है कि देवाधिदेव महादेव रामनाम के रसामृत से उन्मत्त होकर नृत्य करते हैं। विमलादेवी जगन्नाथदेव का प्रसाद पाने के लिए नीलाचल मंदिर में निवास करती हैं। तात्पर्य यह कि वास्तविक असली स्थान पर कोई भेद-भाव नहीं रहता है। जो कुछ मत-मतान्तर है वह हमलोगों के क्षुद्र, सीमित मन के भीतर।

"जो लोग विष्णु की आराधना करते है वे वैष्णव कहलाते हैं। जो शक्ति की आराधना करते हैं, वे शाक्त कहलाते हैं। इस ग्रंथि को क्या सचमुच खोला जा सकता है? जैसे कुछलोग श्रीसंप्रदाय के वैष्णव हैं, उन्हें तुम शाक्त कहोगे या वैष्णव? वे लोग तो शक्ति-मंत्र की ही आराधना करते हैं। इतना ही क्यों व्रज के उपासकगण राधारानी की माधुर्य भाव से उपासना करते हैं। इसलिए तो वे भी शाक्त हुये। यदि कहो कि विष्णु-शक्ति के भजनेवाले वैष्णव हुए, तो बात अग्राह्य लगती है। क्या चन्डी में पराशक्ति महामाया को नारायणी नाम से स्मरण नहीं किया गया है?"

बाबाजी ने और भी समझाया कि शास्त्र में उल्लेख है कि साधकों के हितार्थ ही ब्रह्म की रूप-कल्पना की गई है। इसलिए जिसकी जैसी रुचि, जैसा भाव और अधिकार रहता है, उसे तदनुरुप भगवत पथ पर अग्रसर होना चाहिए। किन्तु स्मरण रखना कि जो कुछ भी भेद विषमता है वह उपास्यगत नहीं। वह विषमता उपासक की रुचि और आचरण में होती है।"

जिस समय यह चर्चा चल रही थी, कई खाँटी वैष्णव वहाँ उपस्थित थे। उनलोगों ने कहा, "प्रभु, स्पष्ट रूप से हमलोगों को समझाइये, कि प्रकृत साधनकामी वैष्णव के कर्त्तव्य क्या है?"

बाबाजी महाराज ने उत्तर में चैतन्य महाप्रभु की उक्ति का उल्लेख किया, "सभी देवताओं की उपासना करने से काम नहीं चलेगा। सभी देवी-देवताओं से अपने इष्टदेव की भक्ति का वर माँगो। यह सारी सृष्टि प्रकृति है और सच्चिदानन्द गोविन्द ही एकमात्र पुरुष हैं। माता-पिता जिस तरह उपयुक्त पात्र के साथ संबंध योग कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीगोविन्द को पाने के लिए जगज्जननी की, शंकर-शंकरी की आराधना आवश्यक है। वैष्णव-साधना बड़ी

कठिन है। केवल शिव-दुर्गा ही क्यों, क्षुद्रातिक्षुद्र कीट पतंग और तृण-लता तक को भक्ति-भाव से देखना पड़ता है, पूजा करनी पड़ती है। ऐसा नहीं करने पर प्रकृत कृष्ण भजन में हानि होती है।"

श्रोताओं के मन का द्विधा-द्वन्द्व मिट गया। उनलोगों ने भक्ति-भाव से बाबाजी को प्रणाम कर एक दूसरे का आलिंगन करने लगे।

एक समय की बात है। चरणदास महाराज नीलाचल होते हुए केन्द्रपाड़ा पहुँचे। वहाँ के जमीन्दार श्यामसुन्दर बाबू उनके एक विशिष्ट भक्त थे। केन्द्रपाड़ा आकर बाबाजी ने अष्ट प्रहर नाम कीर्त्तन प्रारम्भ कर दिया। आबाल वृद्धवनिता दल के दल आकर कीर्त्तन में जुट गये। उनमें से अनेक ने बाबाजी से मंत्र-दीक्षा ग्रहण कर अपना जीवन कृतार्थ किया।

एक दिन बाबाजी अपने स्वजनों के साथ जमीन्दार महाशय के घर पर दो तल्ले पर बैठे हुये थे। हठात् पता नहीं क्यों वे अत्यन्त व्यग्र-चंचल हो गये और उच्च स्वर से 'कृष्ण—कृष्ण' पुकारने लगे। यह कृष्ण और कोई नहीं, जमीन्दार महाशय के घर का कृष्णमान सिह नामक दरवान था। वह घर के निचले तल्ले में बैठा हुआ लोगों के साथ गपशप कर रहा था। उसे सबलोगों ने ऊपर बुलाकर बाबाजी के सामने उपस्थित किया। बाबाजी ने कृष्णमान सिंह से कहा, "नहीं वत्स, यह तुम्हारी नितान्त भूल है। वास्तव में दीक्षामंत्र देनेवाले तो स्वयं निताई-चाँद हैं। उनके लिए तो सभी समान हैं। बल्कि अकिंचन भक्त पर तो उनकी विशेष कृपा रहती है।" तत्पश्चात उन्होंने कृष्णमान को आग्रह पूर्वक अपने निकट बुलाकर आलिंगन किया और उसके कान में नाम-मंत्र की दीक्षा दी।

बाबाजी महाराज के इस कृपा-स्पर्श का प्रभाव अद्भुत रहा। कृष्णमान सिह की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। संपूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। बाबाजी की इस कृपा लीला का रहस्य जानने के लिए सबलोग उत्कंठित हो गये। इसलिए उन्होंने स्मित हास्य से रहस्योद्घाटन किया। मकान के नीचे तल्ले में बैठा हुआ कृष्णमान सिह खेदपूर्वक कह रहा था, "बाबाजी महाराज केवल बड़े लोगों के ही कान में मंत्र देते हैं। मुझे तो कोई सहाय-संपदा नहीं है। फिर मुझे मंत्र पाने का सौभाग्य क्योंकर होगा?" यह जानकर जमीन्दार का मुनीम महाक्रुद्ध हुआ। बोला, "वाह बेटा, तेरी हिम्मत की बलिहारी है। नीचे बैठ-बैठे तुमलोग क्या बातें कर रहे थे, सब साफ-साफ बतलाओ।"

कृष्णमान सिंह ने अश्रुरुद्ध कंठ से कहा, "सचमुच नीचे हमलोग यही बात कर रहे थे। अन्तर्यामी महाप्रभु ने सब कुछ जान लिया अब मेरे लिए कहने का क्या बचा ?"

बड़े-बड़े कीर्त्तन समारोहों के अवसर पर बाबाजी महाराज की अनेक विभूति-लीलाएँ महाप्रसाद को आधार बनाकर प्रकट होती थीं। एक बार कई सौ भक्तजन उपस्थित थे। वे लोग प्रभु के महाप्रसाद के लिए इच्छुक थे। बाबाजी ने उस दिन सैकड़ों नहीं, हजारों लोगों को सहज ही नाना प्रकार के पक्वान्न खिलाकर तृप्त किया।

इस विषय में किसी के प्रश्न करने पर बाबाजी ने कहा, "भाई इसमें मेरा क्या कृतित्व है ? सब तो निताई चाँद की कृपा है। आपलोगों ने जो कुछ देखा, वह तो उनका ही खेल था।" भक्तों और शिष्यों के बीच बाबाजी महाराज अपनी विभूतियों को इसी प्रकार छिपाकर रखते थे।

जगन्नाथ देव के मंदिर का प्रसाद पाने की उनकी तीव्र इच्छा रहती थी। उसी प्रकार उनके निकट पहुँचने की उत्कट व्यग्रता भी थी। एक बार बाबाजी महाराज उड़ीसा के गाँवों में नाम कीर्त्तन कर रहे थे। एक दिन प्रातःकाल में आनन्दोच्छ्वसित कंठ से बार-बार कह रहे थे, "देखो आज बड़ा ही शुभ दिन है, बड़ा ही आनन्दोत्सव होगा। ऐसा शुभ अवसर बार-बार नहीं आता है।" कुतूहलवश लोगों ने प्रश्न किया, "महाराज, कृपया अपने कथन का तात्पर्य स्पष्ट कीजिए। आप तो स्वमेव मंगलमय हैं। इसलिए आपके निकट सब दिन शुभ और मंगलमय है। तब फिर आज के दिन क्या विशेषता है ?

बाबाजी ने स्मित हास्यपूर्वक कहा, "असल बात मैं अभी नहीं बता रहा हूँ। हाँ, इतना जानलो कि आज की प्रातःवेला में यहाँ एक परम पवित्र सम्मेलन होनेवाला है।"

लोग सोचने लगे, यह कैसा सम्मेलन ? और किस प्रकार यह घटना घटेगी ? भक्तगण चुपचाप प्रतीक्षा करने लगे कि देखें, क्या होनेवाला है। कीर्त्तनोपरान्त, दोपहर को बाबाजी और उनके संगी साथी विश्राम कर रहे थे। उसी समय एक भार वाहक दो बड़ी चंगेड़ी लेकर वहाँ पहुँचा। उन चंगेड़ियों में श्री जगन्नाथ देव के मंदिर का तथा अन्य कई देव-विग्रहों का प्रसाद था। थोड़ी देर बाद ही, उस गाँव के आसपास के सभी देव-स्थलों के विग्रहों का प्रसादान्न आने लगा।

कोई नहीं जानता था कि यह सब क्या हो रहा है ! पहले से इस विषय की कोई व्यवस्था नहीं थी। बाबाजी महाराज के आनन्द की कोई सीमा नहीं

थी । कहते थे, यह तो निताई-चाँद की कृपा है । आनन्दातिरेक में बाबाजी उस प्रसाद सम्मेलन के सामने तरह-तरह की भाव-भंगिमा में असमय ही नृत्य करने लगे ।

लोग विचारने लगे, बाबाजी महाराज एक महापुरुष हैं । इसलिए उस इलाके के मंदिर से उनकी अभ्यर्थना में प्रसादान्न आया है, किन्तु सुदूर नीलाचल से जगन्नाथ देव का प्रसाद किस तरह आया ? कुतूहलवश अनेक भक्त भार-वाहक से तरह-तरह के प्रश्न कर रहे हैं । भार-वाहक ने बताया, कल श्रीजगन्नाथ देव का शृंगार-भोग संपन्न हो जाने के बाद एक अपरिचित ब्राह्मण आया और मंदिर के प्रधान पुजारी के भारवाहकों को दोनों चंगेड़ी देकर कहा, "भाई, इन चंगेड़ियों को शीघ्र ही बाबाजी महाराज को दे आओ, वे दक्षिण दिशा के गाँवों में कीर्त्तन कर रहे हैं । थोड़ी खोज करने से उनका पता मिल जायगा । और यह रहा तुम्हारा मेहनताना ।" भार-वाहकों को मेहनताना के दो रुपये उन्होंने अग्रिम ही दे दिया । प्रभु कृपा की यह अद्‌भुत कहानी सुनकर बाबाजी महाराज की आँखों से अविरल पुलकाश्रु झरने लगा ।

साधक श्रीचरणदासजी महाराज ने अपने जीवन-प्रभु श्रीनित्यानन्द के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पित कर रखा था । निताईचाँद जैसे प्रेम दाता थे, वैसे ही महाशक्तिधर भी थे । उनकी प्रेम और शक्ति की लीला बाबाजी महाराज के जीवन में विभिन्न रंग और भंगिमा में विकसित, प्रतिबिम्बित हो रही थी ।

महावैष्णव श्रीचरणदासजी की करुणा और अलौकिक शक्तियों का प्रभाव-प्रसार बंगाल और उड़ीसा में चतुर्दिक फैल चला । उनके निकट दिनोंदिन रोग-शोकाकुल आर्त्त लोगों और शरणागत मुमुक्षुओं की भीड़ बढ़ने लगी । बाबाजी महाराज के पुण्य-स्पर्श से उनलोगों के जीवन में नवीन प्राण स्पन्दन का जागरण होता था । दुर्विनीत पाखंडी लोग भी उनका करुणा कृपा से वंचित नहीं होते । वल्कि बाबाजी साग्रह उनका आलिंगन करते । फलतः वैसेलोगों का जीवन भी रूपान्तरित हो जाता था ।

चरणदासजी सिद्ध महापुरुष थे । अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उनकी अलौकिक शक्तियों का प्रकाश स्फुरित-प्रसारित हो रहा था । किन्तु वे अपनी शक्तियों को अपने इष्टदेव, निताईचाँद के नाम पर प्रकाशित करते थे । इन निरभिमान कंगाल वैष्णव की कृपा से अनेक मृत-कल्प लोगों की प्राण रक्षा होती थी । पुरी के झाँझपीटा मठ में जोर-शोर से कीर्त्तन हो रहा था । उसी समय मठ में रहने वाले वृद्ध वैष्णव गदाधर दास का आर्त्त चीत्कार सुनाई पड़ा । रात का समय था । गदाधर दास किसी कर्मवश कुँए पर गये । वहाँ उन्हें किसी विषधर

साँप ने काट लिया। लोगों ने तत्काल दंशित स्थान से ऊपर रस्सी से कस कर बाँध दिया और उन्हें उठाकर कीर्त्तनांगन में ले आये। उस समय बड़े बाबाजी ने एक अद्‌भुत कांड कर दिया। सर्प दंशित वैष्णव के पाँव का बन्धन काट कर कीर्त्तन-प्रांगण के बीच में सुला दिया और उन्हें घेर कर बाबाजी महाराज ने नाम-कीर्त्तन पुनः प्रारंभ कर दिया।

चारो ओर लोगों की भीड़ थी। बीच में वृद्ध गदाधर दास का विषजर्जर शरीर निष्पन्द पड़ा था। सबलोगों ने देखा कि गदाधर दास का प्राणान्त हो चुका है।

कीर्त्तन करते-करते चरणदास जी भावाविष्ट हो गये। लोगों ने देखा, वे एक विस्मियजनक कार्य कर रहे हैं। वे जोर-जोर से वैष्णव गदाधर दास के मस्तक पर पदाघात कर रहे हैं। और, उस मूर्च्छित शरीर में धीरे-धीरे प्राणों का स्पन्दन हो रहा है। अन्ततः गदाधर दास उठकर बैठ गये। थोड़ा विश्राम करने के बाद वे भी कीर्त्तन में भाग लेने गये। निताई चाँद और निताईगत समर्पित बड़े बाबाजी के जयजयकार से चतुर्दिक मुखरित हो गया।

एक बार पुरी-धाम में हैजे का प्रकोप था। इस महामारी के भय से लोग संत्रस्त थे। किन्तु बाबाजी महाराज प्रतिदिन नाम-कीर्त्तन करते हुए उस क्षेत्र में भ्रमण करते थे। नगर-परिक्रमा समाप्त करने के बाद बाबाजी श्रीराधा कांत के विग्रह के सम्मुख आये और कीर्त्तनानन्द में मत्त हो गये। भावविभोर महाभक्त के शरीर में पुलक, अश्रु और श्रम-स्वेद आदि अष्ट सात्विक विकार प्रकट हो रहे थे। धीरे-धीरे अर्ध-बाह्य ज्ञान तो लौट आया किन्तु प्रेम का आवेश कट नहीं रहा था। बीच-बीच में जोर-जोर से 'जय निताई, जय निताई' कहते थे। उसी समय ललिता दासी ने आकर खबर दी कि मठ के तरुण भक्त फणी को हैजा हो गया है। उसकी अवस्था संकटापन्न है। किन्तु चरणदासजी निर्विकार भाव से खड़े रहे। फिर गंभीर भाव से बोले, "तुमलोग कह क्या रहे हो? लोगों की बीमारी छुड़ाने, मुकदमा जिताने और अपनी साधुगिरी फैलाने के लिए क्या नाम का व्यवहार करना होगा?"

ललितादासी ने रोते-रोते कहा, "आपके एकबार इच्छा करने मात्र से सब कुछ हो सकता है। आपकी इच्छा होने पर श्रीभगवान् अवश्य उसको पूरा करते हैं। आप कृपाकर एकबार वहाँ चलें। उतने से ही फणी की प्राण-रक्षा हो जायगी।"

शक्तिमान महापुरुष के आश्रय में रहनेवाले इस तरुण भक्त की, सबकी आँखों के सामने मृत्यु हो जाय, इस बात की चिन्ता ललितादासी को असह्य हो

रही थी। उनके धैर्य का बांध टूट गया और उत्तेजित होकर बोले, "यदि आपके रहते इस प्रकार फणी की मृत्यु हो जाय तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मठ में रहनेवाले सभी साधुओं की कंठी-माला तोड़कर फेंक दूँगा और सबको गृहस्थ आश्रम में लौट जाने कहूँगा। और, मैं चारों तरफ घूम-घूम कर लोगों से कहूँगा इन नाम-प्रेमी महापुरुष में कोई शक्ति नहीं है।"

जिस समय फणी की अन्तिम साँस चल रही थी, बाबाजी महाराज उसके सिरहाने पद्मासन लगाकर बैठ गये। आँखें बन्द, देह बिल्कुल निस्पन्द। हठात् उन्होंने उच्च स्वर से 'जय निताई' बोलकर अपने पैर के अंगूठे से रोगी के सिरका स्पर्श किया। साथ ही रोगी पुनरुज्जीवित होकर उठ बैठा। बाबाजी पर जैसे ही उसकी दृष्टि पड़ी—उसकी आँखों और मुखमण्डल से दिव्य आनन्द की ज्योति फूट पड़ी।

एक समय बड़ानगर के एक बगीचे में बाबाजी महाराज कुछ दिनों के लिए निवास कर रहे थे। वहाँ गणेश नामक एक उड़िया लड़का भृत्य का काम करता था। वह आँगन में बैठा काम कर रहा था कि अचानक एक विषैले साँप ने काट लिया। उसके अचेतन शरीर को लोग उठा लाये और कीर्त्तन-सभा में रख दिया।

अवधूत ज्ञानानन्दजी के शिष्य कृष्णानन्द उस समय वहाँ उपस्थित थे। बड़े बाबाजी ने उनसे कहा, ' भाई, इस लड़के को कीर्त्तन-मण्डली के मध्य खड़ा किये रहो। कृष्णानन्दजी ने कहा, "भैया इसके शरीर में लेशमात्र भी प्राण नहीं है। सारा शरीर बर्फ की भाँति ठंढा है। यह खड़ा किस प्रकार होगा ?"

भाई तुम एकाग्रचित्त से अपना काम करते क्यों नहीं ? सभी कर्मों के नियन्ता तो निताई चाँद हैं। जो कुछ करना है वह दयालु निताई चाँद ही करेंगे।

महापुरुष की यह वाणी सुनने के बाद तो तर्क का कोई स्थान नहीं था। कृष्णानन्दजी ने अपने कन्धे के सहारे उस सर्पदंशित बालक को किसी तरह सम्हालकर खड़ा किया। उस समय चारों ओर उच्च स्वर से नाम-कीर्त्तन चल रहा था। इस प्रकार प्रायः एक घंटा बीत चला। कृष्णानन्दजी अब बालक को खड़ा करने में असमर्थ हो रहे थे। अन्ततः बालक को कीर्त्तन-कक्ष में सुला दिया गया। बालक की संज्ञाहीन देह को घेर कर बाबाजी और उनके भक्त दल का तुमुल नृत्य और कीर्त्तन चल रहा था। कुछ समय बाद महापुरुष बाबाजी भावाविष्ट हो गये और गणेश के सिर पर जोर-जोर से लात मारने

लगे। जैसे-जैसे लात मारते—लड़के की अवस्था में परिवर्त्तन होता जाता। इस प्रकार अन्ततः लड़के का वाह्यज्ञान लौट आया। वह बाबाजी के चरणों पर लोटने लगा।

एकबार बाबाजी जब कलकत्ता में निवास कर रहे थे, उनकी अलौकिक शक्ति का विस्मयकारी प्रभाव लोगों ने देखा। यह प्रभाव लोगों ने दिन के प्रखर प्रकाश में देखा। इस घटना का बड़ा ही मनोज्ञ वर्णन बाबाजी के अन्तरंग शिष्य वैष्णवाचार्य रामदास ने किया है। यथा– एक दिन ब्राह्मवेला में बाबाजी ने फणि और राधा विनोद को बुलाकर आदेश दिया, "तुम दोनों दौड़ते हुए नीमतल्ला घाट की ओर गंगा तट पर चले जाओ। मैं कुछ देर बाद वहाँ पहुँचूँगा।"

दोनों शिष्य तत्काल चल दिये। धीरे-धीरे अन्य शिष्यों के साथ बाबाजी भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने दोनों शिष्यों से पूछा, "अरे, यहाँ आते समय तुमलोगों ने राह में क्या देखा?"

'प्रभु, हमलोगों ने देखा कि मारवाड़ियों का एक दल एक स्त्री का शव लिए श्मशान चले जा रहे हैं।" बाबाजी व्यग्र हो गये। बोले, "तुमलोग शीघ्र नीमतल्ला श्मशान घाट चले जाओ और जबतक मैं वहाँ नहीं पहुँच जाता हूँ, शव का दाह-संस्कार रोके रखना।" दोनों भक्त श्मशान घाट के लिए तत्क्षण दौड़ पड़े।

स्नानादि कृत्य करने के बाद चरणदासजी नीमतल्ला श्मशान घाट पहुँचे। मृतक के संबंधीजन उनकी प्रतीक्षा में रुके हुये थे। किसी नई आशा से उनलोगों का हृदय धक्-धक् कर रहा था। सोच रहे थे, संभवतः यह मृता नारी जी उठेगी। उनलोगों ने बाबाजी के भक्तों से सुन रखा था, यह वैष्णव बाबाजी महाशक्तिधर महापुरुष हैं। इनकी दया से क्षणभर में बड़े-से-बड़े अलौकिक कांड घटित हो सकते हैं।

चरणदासजी के निर्देशानुसार शव को चिता से उतार कर लोग एक कमरे में ले आये। अब शव को घेर कर लोग तुमुल स्वर से कीर्त्तन करने लगे। उस समय बाबाजी स्वयं शव के अंगूठे का स्पर्श कर अस्फुट स्वर से नाम-जप कर रहे थे।

प्रायः आधा घंटा बाद चरणदासजी मृतक के हाथ का अंगूठा पकड़ कर जोर से 'जय निताइ' बोले और उसे एकबार झकझोर दिया। लोगों ने देखा कि मृतक स्त्री ने आँखें खोल दी है। लोग तुमुल स्वर से हरि नाम की जय ध्वनि करने लगे।

पुनर्जीवित महिला विस्मित दृष्टि से इधर-उधर देख रही थी। उसके सगे-संबंधी हर्ष-विस्मय से अभिभूत थे।

चरणदासजी ने स्त्री से पूछा, "क्या आप इन लोगों को पहचानती हैं।" स्त्री ने सम्मति सूचक सिर हिलाया। तब तक यह समाचार चारो ओर फैल गया। नव जीवित उस स्त्री की और उसके नव जीवन दाता साधु को देखने के लिए श्मशानघाट पर एक विशाल भीड़ एकत्र हो गई थी।

प्राय: एक घंटा बाद ही बाबाजी ने इस आनन्दपूर्ण लीला के ऊपर एक विषादपूर्ण पटाक्षेप कर दिया। अब तक बाबाजी उस स्त्री के हाथ का अंगूठा पकड़े हुए थे। अब उन्होंने अंगूठा छोड़ दिया। लोगों ने देखा कि इधर स्त्री ने चिरकाल के लिए अपनी आँखें मूँद ली। मृतक के आत्मीय लोगों पर शोक की काली छाया उतर आई। आर्त्तस्वर से वे लोग बाबाजी से आरजू-विनती करने लगे। उस स्थान से जाने के लिए बाबाजी जैसे ही खड़े हुये, मृत स्त्री का पति उनके पैरों पर लोटने लगा। रोते-रोते उसने कहा, 'महाराज एक बार तो आपने कृपा की, फिर उसे लौटा क्यों लिया? दोहाई प्रभु, इसे बचा लीजिए।"

चरणदासजी ने कहा, "बाबा, जो कुछ महाप्रभु करते हैं, वह सब करना हमलोगों के लिए उचित नहीं है। यदि वे चाहते तो क्या श्रीवास पंडित के पुत्र को बचा नहीं लेते? किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। क्योंकि विधि के विधान को टालने से मर्यादा भंग होती है। निताईचाँद को भी मर्यादा-हानि अभिप्रेत नहीं है। तब फिर आज की घटना का तात्पर्य क्या था? निताईचाँद गंगा-तट पर सबलोगों को दिखाना चाहते थे कि नाम-जप के प्रभाव से मृतक देह में प्राणों का भी संचार हो सकता है।"

लोगों की भीड़ को टालकर चरणदासजी एक दूसरे स्नान घाट पर चले आये। वहाँ स्नान कर सदल-बल कीर्त्तन करते हुए घर लौट आये।

स्नान करते समय अपने प्रिय शिष्य रामदासजी से पूछा, "राम, आज की घटना को देखकर तुमने मन में क्या सोचा?"

रामदास बाबाजी भी अन्यलोगों की तरह ही विस्मय विमुग्ध थे। उन्होने उत्तर दिया, "प्रभु यह सब मैं कैसे समझूँ? अपना खेल आप ही समझ सकते हैं।" प्रशान्त कंठ से चरणदासजी ने समझाया, "देखो, इसमें एकमात्र नाम की लीला है, अन्य कुछ भी नहीं। नाम सचमुच ही असाध्य को भी साध्य कर सकता है। क्योंकि वह तो सर्वशक्तिमान है। जो कुछ भी तुमने आज देखा है

वह तो नाम का सामान्य प्रभाव-कार्य था। यह सर्वदा ध्यान में रखना कि नाम के साथ नामी सतत् विद्यमान रहता हैं। इसलिए नाम पर विश्वास रखने पर सब कुछ हो सकता है। नाम की कृपा न होने पर प्रकृत-प्रेम-लाभ नहीं हो सकता, अतीन्द्रिय भाव-राज्य में प्रवेश तो दूर की बात है। कृपा की प्रत्यक्ष फल रूपी विभूति लीला देखे बिना मनुष्य धर्म पथ पर दृढ़ विश्वास रख नहीं पाता है। इसीलिए समय-समय पर प्रभु निताईचाँद की शक्ति-लीला प्रकट होती है।

प्रभुनाम और श्रीविग्रह को चरणदासजी परम वस्तु मानते थे। इस तत्व को वे अपने अंतरंग शिष्यों और भक्तों के बीच अपने आचरण द्वारा प्रस्फुटित करते थे।

झांझपीटा मठ में जितनी आमदनी होती थी, उतना ही खर्च होता था। कोई नहीं जानता था कि देवविग्रह के भोग-राग और उत्सवादि का खर्च कैसे कहाँ से चलता है। प्रतिदिन सैकड़ों वैष्णव साधु वहाँ आते थे और विदाई पाते थे। यह सारी व्यवस्था मानो किसी इन्द्रजाल के बल पर चल रही थी। यह सब उनकी ही कृपा थी।

एक बार ऐसा हुआ कि मठ में पैसा-कौड़ी का नितान्त अभाव हो गया, यहाँ तक कि भोजन का भी कोई जोगाड़ नहीं था। ललिता दासी और अन्यान्य भक्तजन चिन्ता में पड़े थे। उनलोगों ने चरणदासजी को इस अर्थ संकट की खबर दी। उन्होंने निर्विकार भाव से कहा, "तुमलोगों का यही कहना है कि तुमलोगों को बाजार-हाट करने के लिए पैसा नहीं है। यह तो मैं ने समझा किन्तु यह सब मुझसे कहने का क्या प्रयोजन है? जिसका यह संसार है, उससे कहो। तुमलोगों ने निताईचाँद से क्यों नहीं कहा?"

ललितादासी ने उत्तर दिया, "हमलोग प्रत्यक्ष को छोड़ कर अनुमान के पीछे कैसे दौड़ें, कहाँ खोजें? आप तो हमलोगों के समक्ष प्रत्यक्ष हैं। किन्तु जब आपकी ऐसी इच्छा है तो कृपाकर बता दीजिए कि कहाँ और कैसे हमलोग अपनी बात उनसे कहें?"

'यह कैसी बात है? मैं ने तो अनेक बार तुमलोगों से कहा है कि श्रीमूर्त्ति नित्य है, उनकी सेवा नित्य है और उनके सेवक भी नित्य हैं। तब फिर यह सब सोच विचार क्यों? यदि चाहो, तो मंदिर में जाकर ठाकुर से मेरा ही नाम लेकर कहो कि मैंने ही तुमलोगों को मंदिर की स्थिति बतलाने के लिए भेजा है। कहना कि 'प्रभु, आपके इस स्थान पर दोनों वेला प्रायः चार-पाँच सौ लोग

उपस्थित होते हैं । किन्तु बाजार करने के लिए पैसा नहीं है । इस स्थिति में जो कुछ करना है, आप ही कीजिए ।"

निर्देशानुसार ललितादासी ने श्रीविग्रह के सामने जाकर सारी बात कह दी किन्तु उनके मन की शंका नहीं जा रही थी । मुख पर अप्रसन्नता की स्पष्ट छाप थी । सोच रहे थे, बाबाजी के इस प्रकार उदासीन रहने से इस विराट मठ का खर्च, भक्तों और अभ्यागत अतिथियों की सेवा किस प्रकार चलेगी ?

कुछ देर बाद ललितादासी ने देखा कि बाबाजी के आगे एक दीन व्यक्ति दोनों हाथ जोड़े बैठा हुआ है । सामने में सौ से कुछ अधिक ही रुपये सजाकर रखे हुए थे । वह नवागत सज्जन कह रहे थे, ' महाराज, मेरी बड़ी इच्छा है कि मठ में समागत वैष्णवों और कंगालों की सेवा में ये रुपये व्यय हों ।"

अन्ततः प्रणाम कर वह व्यक्ति विदा हुआ । ललितादासी धीरे-धीरे बाबाजी के सामने आकर हाथ जोड़े खड़े हो गये । खेद-पूर्वक उन्होंने कहा, "महाराज, मैंने श्रीविग्रह के सामने वैसा-कुछ भक्ति-भाव से निवेदन नहीं किया था । जो कुछ निवेदन किया था, वह सामान्य भाव से ही । आपकी उदासीनता देख कर मेरे मन में किंचित क्रोध भी हुआ था । किन्तु यह क्या आश्चर्य हुआ । ठाकुर की कृपा में कोई कमी नहीं हुई ।"

बाबाजी ने हँसते हँसते कहा, "मेरे निताईचाँद तो इच्छा-कल्पतरु हैं । तुम्हीं बोलो, जब अवहेला पूर्वक कहने पर भी उनकी इतनी कृपा हुई तो श्रद्धा-विश्वास पूर्वक कहने पर क्या नहीं प्राप्त हो सकता है ? मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण है उनकी संकीर्ण बुद्धि और विश्वास का अभाव । समझ लो कि इस संकीर्ण बुद्धि के कारण भगवत विमुखता आती है और मनुष्य अकल्याण के मार्ग पर चल पड़ता है ।"

आश्रम में इष्टदेव की मूर्त्ति की सेवा में तनिक भी त्रुटि की गुंजाइश नहीं थी । बाबाजी महाराज की दृष्टि में मूर्ति चिन्मय थी, नित्य और स्वप्रकाश थी । इसलिए विग्रह सेवा में थोड़ी भी असावधानी को वे गुरुतर अपराध मानते थे । इस तत्व को उन्होंने एक दिन ललितादासी को उपलक्ष कर मठवासी सभी भक्तों के लिए स्पष्ट किया ।

संध्या का समय था । ललितादासी बरामदे में खड़े हाथ-पाँव धो रहे थे । पाँव के जल का छींटा असावधानीवश देव-विग्रह का प्रसादान्न रखनेवाले पात्र

पर पड़ रहा था। बाबाजी वहीं खड़े थे। ललितादासी स्वयं भी इस अनव-धानता के लिए लज्जित हुये। परन्तु बाद में वे इस घटना को भूल गये। उसी रात ललितादासी के दाहिने पाँव में तीव्र पीड़ा शुरू हुई। दिन-प्रतिदिन पीड़ा बढ़ने ही लगी। तीसरे दिन यह पीड़ा असह्य हो गई। उन्होंने तो जीवन की आशा ही छोड़ दी।

रोगी असह्य पीड़ा से छटपट कर रहे थे और डाक्टर रोग का निदान नहीं कर पाते थे। दवाओं से कोई लाभ नहीं था। मठ में रहनेवाले सभीलोग किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो रहे थे। उसी समय हठात् ललितादासी को उस दिन के पाँव धोने की घटना का स्मरण हो आया और पश्चाताप एवं अनु-सोचना से मन जलने-सा लगा। भाव उठता था कि उन्होंने उस दिन गुरुतर अपराध किया। विस्मय की बात हुई कि पश्चाताप के साथ-साथ पाँव की पीड़ा भी मिट चली। उसी दिन वे निरोग हो गये। ललितादासी ने समझ लिया कि किसी दवा से नहीं वल्कि पश्चाताप के परिणामस्वरूप उनकी प्राण रक्षा हुई है।

उन्होंने एकान्त में बड़े बाबाजी से सारी बातें कहीं। बाबाजी ने उत्तर दिया, "देखो, उस दिन के तुम्हारे सेवापराध की बात मुझे मालूम है। मैं पहले ही तुमसे कहता, किन्तु उससे तो तुम्हारे चित्त में पश्चाताप की आग नहीं जलती। यह जो कुछ तुम्हें हुआ, वह सब प्रभु का कृपादंड समझो। उस दंड को स्वीकार करने के अलावा अपराध का कोई दूसरा प्रायश्चित था भी नहीं।"

उस दिन बाबाजी महाराज ने भक्तों को वैष्णव सेवा तत्व समझाते हुये कहा, "तुमलोग सदैव स्मरण रखना कि श्रीविग्रह की सेवा के उपकरण परम पवित्र होते हैं। नित्य वस्तु प्रभु श्रीकृष्ण की सेवा में सहायक पात्रादि उपकरणों में इतने उच्च गुण होते हैं। इतना ही नहीं, प्रभु की सेवा के अनुकूल सभी पदार्थ चिन्मय होते हैं। वैष्णव-जन के लिए इन पदार्थों की अवज्ञा गुरुतर अपराध है।"

एक बार की बात है, चरणदासजी कलकत्ता के एक सीमावर्त्ती स्थान में निवास कर रहे थे। एक दिन वे भक्तजनों से घिरे बैठे थे कि एक सुपंडित ब्राह्मण आ उपस्थित हुये। वे एक सुप्रतिष्ठित धर्म-प्रचारक थे, नाम था श्री दीनबन्धु काव्यतीर्थ, वेदान्तरत्न। नाना तत्व प्रसंगोपरान्त बाबाजी ने कीर्त्तन आरंभ किया। सबलोग भावावेग के ज्वार में उच्छ्वसित हो गये। काव्यतीर्थ महोदय की भी समस्त सत्ता डूब गई। अर्धबाह्य अवस्था में उन्होंने बाबाजी के

पाँव पकड़ कर कहने लगे, "प्रभु, कृपया मुझे मंत्र दीक्षा दीजिए। मैं विद्याभिमानी घोर पापी हूँ।"

उनका स्नेहपूर्वक आलिंगन करके बाबाजी ने तत्काल उनके कान में एक मंत्र दिया। मंत्र का एक-एक वर्ण पंडित महोदय के कान में जैसे-जैसे प्रवेश करता जाता, वैसे-वैसे उनके शरीर में अश्रु-पुलक कम्पादि सात्विक भाव विकार प्रस्फुटित होते जाते। कुछ देर बाद पंडित दीनबन्धु बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े। लोग चटपट उन्हें उठाकर भीतर ले आये।

दूसरे दिन पंडितजी के मन में एक शंका जगी। वे सोचने लगे कि बाबाजी द्वारा प्रदत्त गौर मंत्र में व्याकरण की भूल है। यह संदेह उन्होंने अन्य लोगों को भी ज्ञापित किया। इस स्थिति में कई दिन बीत गये। एक बार चरणदासजी का कीर्त्तन-समारोह चल रहा था। वहाँ पंडित जी भी उपस्थित थे। उनका मुँह रक्तिम हो गया। आँखों में रसानुभूति के अश्रुकण ढ़लमल कर रहे थे। शरीर कम्पायमान था। बाबाजी के पाँव पकड़ कर रोते-रोते कहा, "प्रभु, मैं घोर पातकी हूँ। मैंने विद्याभिमानवश गौर मंत्र की शुद्धता पर संदेह किया है। पिछली रात मैंने स्वप्न में देखा कि आप मेरे सामने आये हैं। क्रोध से आपकी आँखें लाल हो रही हैं, मेरी भर्त्सना करते हुये कह रहे हैं, "अरे मूर्ख, मामूली दो पत्ता पोथी पढ़ कर तुम विद्याभिमान में मस्त रहते हो। प्रभु नित्यानंद द्वारा प्रदत्त मंत्र पर तुम्हें संदेह हो रहा है। अरे अभागे, अपना अभिमान छोड़ दे।" तत्पश्चात कृपा दंड रूप आपने मुझे एक तमाचा मारा। उसका चिह्न भी आप कृपया देखिये। इस अलौकिक दंड प्रहार के चिह्न देख कर उपस्थित लोग घोर विस्मित हो गये। लोगों ने देखा कि काव्यतीर्थ महोदय के गाल पर तमाचे का चिह्न प्रत्यक्ष है।

चरणदासजी के शिष्यों के लिए गुरु-निष्ठा और आत्मार्पण भाव में किसी प्रकार की त्रुटि की गुंजाइश नहीं थी। अन्तर्यामी गुरु की सतर्क दृष्टि शिष्यों की त्रुटियों को खोज-खोज कर प्रकट करती थी। तदुपरान्त उनलोगों का चैतन्य जगाने के लिए कठोर शासन और निष्करुण आघात का प्रयोग करने से भी नहीं चूकते थे। बाबाजी महाराज लोकोत्तर स्वतंत्र पुरुष थे। इसलिए साधारण भक्तों के लिए उन्हें हमेशा समझना कठिन था। साधारण बुद्धि के लिए उनके आचरण का अर्थ समझना सहज संभव नहीं था। एक बार ऐसा प्रयास करने के कारण शिष्यगण घोर विपत्ति में पड़ गये।

एक साल बाबाजी का विचार हुआ कि वे अपने पितृ पुरुषों का श्राद्ध करेंगे। श्राद्ध कर्म के लिए आवश्यक सामग्रियाँ संग्रहीत की गई। सब काम

विधिवत् संपन्न हुआ । किन्तु रामदास आदि शिष्यों के मन में संशय उठने लगा और वे लोग तर्क-वितर्क करने लगे कि बड़े बाबाजी को कर्मकांड के प्रति क्योंकर झोंक चढ़ा ? वैष्णव साधु का वेश ग्रहण करने के बाद पूर्वाश्रम का संपर्क रखना तो असंगत है । शिष्यों के मन में उठने वाले इन संशयों की बात अन्तर्यामी बाबाजी के लिए अज्ञात नहीं रही । एक दिन वे मठ के आंगन में बैठे हुए थे । रामदास प्रभृति शिष्यों को गुरु गंभीर स्वर में अपने निकट बुलाकर कहने लगे, "तुम लोगों के बीच यह कैसी निन्दा-समालोचना चल रही है ? कर्मकांड की ओर मेरे झुकाव और मेरे पतन की बातें तो चल रही थी न ? इस तरह मेरा पतन हुआ है तो मेरे-जैसे पतित प्राणी के साथ तुम लोग-जैसे महात्मा क्योंकर रह रहे हैं ? एक बार जब तुमलोगों ने मुझे गुरु रूप में वरण किया तो फिर मन में संदेह क्योंकर उठा ? यदि मन में संदेह जगा भी तो सीधे मुझसे प्रश्न क्यों नहीं किया ? पीठ पीछे निन्दा-आलोचना क्यों ? तुमलोग-जैसे चंचल चित्त वाले अनुगामियों का मैं मुख देखना नहीं चाहता । तुमलोग चले जाओ ।"

शिष्यों ने नाना प्रकार से अपना अनुताप प्रकट किया और क्षमा याचना की । तब जाकर वे निष्कासन से त्राण पा सके ।

नवद्वीप दास बाबाजी महाराज के अन्यतम शिष्य और अभिन्नहृदय भक्त थे । किन्तु बाबाजी महाराज उन्हें गुरु का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रचार करने से वर्जित करते रहते थे । नवद्वीप दास अपने गुरु बाबाजी महाराज को निताई-गौरांग के सम्मिलित रसमय रूप में देखते थे । इस बात का वे सर्वत्र प्रचार भी करते थे । किन्तु बाबाजी को यह बात सर्वथा नापसंद थी । इसलिए वे इनका तिरस्कार भी करते थे । अन्ततः विरक्त होकर उन्होंने नवद्वीप दास को अपने यहाँ से दूर भी कर दिया । किन्तु नवद्वीप दास अपना विश्वास और भाव कल्पना छोड़ने को राजी नहीं हुए । उन्होंने कहा, "मेरे बड़े भाई पहले रसमय विग्रह रूप थे—परम कृपालु, कोमल प्राण बालकवत् । उनके भीतर से निरंतर प्रेमानंद का रसधार प्रवाहित होता रहता था । आज वे महागंभीर, मर्यादास्वरूप निष्ठावान परम वैष्णव हो गये हैं । वे हमारे पुराने बड़े भाई नहीं हैं । इस समय वे गौर हरि दास महन्त के चेला हैं । अखाड़े के एक बाबाजी मात्र ।" चरणदासजी ने भी स्पष्ट स्वर में कहा, "ऐसी दशा में, तुम्हीं लोग बताओ, मैं कैसे इसे स्वीकार करूँ ।" यह नवद्वीप दास पहले मेरे सुख में सुखी रहता था । आज वह आत्म-सुख में लीन है । तात्पर्य यह कि वह मुझे अवतार रूप में खड़ा करके अपनी अभिलाषा पूरी करना चाहता है । वह अपना तत्व-विचार और

मतवाद सर्वत्र प्रचारित कर रहा है । निश्चय ही वह मेरा पुराना नवद्वीपदास नहीं है ।"

इस प्रकार बाबाजी ने अपनी कठोर नियमानुवर्त्तिता और इष्ट निष्ठा का ध्यान रखकर अपने कलेजे के टुकड़े नवद्वीप दास का परित्याग कर दिया ।

वैष्णवीय भजन के संवन्ध में चरणदासजी का त्याग और दैन्य विधान अत्यन्त कठोर था । एक वार वे कुछ दिनों के लिए वृन्दावन में वास कर रहे थे । एक दिन वे राधा कुंड और श्याम कुंड की परिक्रमा करके प्रसिद्ध साधक हरिचरण दासजी की भजन कुटिया में गये । बड़े बाबाजी के वहाँ पहुँनने की खबर चारो ओर फैल गई । पूर्वाचार्यों की त्याग-निष्ठा और कृच्छ्रव्रत के संबंध में बोलते समय उन्होंने हरिचरणदासजी से कहा, "भाई, तुम्हारा श्रीकुंड पर निवास, मधुकरी वृति और निष्किचन भाव देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है । किन्तु एक कलसी दूध में एक बूंद गोमूत्र पड़ने से जैसे सब भ्रष्ट हो जाता है, वैसी ही कुछ तुम्हारी दशा है । इससे मुझे बड़ी व्यथा हुई है ।"

हरिचरणदास व्याकुल होकर बोले, "भैया मैं तो कुछ भी नहीं जानता । आपही कृपा कर मुझे मेरे दोषों और त्रुटियों से अवगत कराइये ।'

'भाई, तुम तो स्वयं सुपंडित हो, तुम्हें मैं क्या बतलाऊँ ? तुम मधुकरी माँगने श्री विनोद मदिर गये थे । मुझे यह देखकर दुःख हुआ कि वहाँ तुमने एक दोना अन्न और एक दोना तरकारी ली । किन्तु एक स्थान से इतना आहार लेना क्या साधक के लिए उचित है ? मधुकरी वृत्ति का यह अर्थ तो नहीं है । मधुमक्खी की तरह अनेक स्थानों से भिक्षा लेनी होती है । उदररूपी झोला और हाथरूपी पात्र लेकर किसी तरह आहार ग्रहण करना मधुकरी वृत्ति के लिए नियम है । इसके अलावा जिस घर में तुम्हारी प्रतिष्ठा है, वहाँ से मधुकरी लेना उचित नहीं । वह वैष्णव की भिक्षा नहीं है । तुम क्या नहीं जानते हो कि स्वयं प्रभु इस संबंध में क्या कह गये हैं ?"

वैष्णव का जीवन-व्रत प्रधानतः निष्किंचन कंगाली का व्रत है । इस बात को उस दिन बड़े बाबाजी महाराज ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लोगों को समझाया ।

साधना की सर्वांगीण तैयारी के लिए—देह, मन और अध्यात्म सत्ता के विकास-साधन पर बाबाजी महाराज सदैव अत्यधिक जोर देते थे । तत्वोपदेश करते समय वे इस बात पर विशेष रूप से प्रकाश डालते थे ।

वृन्दावन में एकबार दाऊजी के मंदिर के सामने मौलश्री वृक्ष के नीचे सो रहे थे और भक्त श्यामदास उनके पाँव दबा रहे थे। अकस्मात सेवानिरत श्यामदास चौंक पड़े; उन्होंने बाबाजी की ओर अपनी दृष्टि फेरी। देखा कि उनकी देह से ज्योति-धारा निकल रही है। जिससे उनकी (श्यामदासजी की) आँखें चौंधिया रही हैं। विस्मय-विह्वल भक्त श्यामदास की गोद से बाबाजी के पैर नीचे गिर गये और श्यामदासजी रोने लगे। बाबाजी की विभूति का दर्शन करके उनके मन में उथल-पुथल मच गया। वे रोते-रोते अस्थिर हो गये और बार-बार बड़े बाबाजी से अनुरोध करने लगे कि मुझे निताई गौरांग का दर्शन करा दो दीजिए, आप महान् शक्तिधर हैं, यह तो मैंने अपनी आँखों ही देख लिया है।

बाबाजी ने उन्हें समझाया, "देखो, निताई गौरांग और राधाकृष्ण को पाना असंभव बात नहीं है। वे तो निरन्तर तुम्हारे चारों ओर घूमते-फिरते रहते हैं। अगर हृदय में उपयुक्त आसन नहीं है, तो तुम उन्हें बैठाओगे कहाँ? पहले अपना आधार तैयार करना आवश्यक है। अपनी तैयारी पूरी नहीं है तो उस रस का आस्वादन कैसे करोगे? यह समझ लो कि आचार्यों ने जो साधन-भजन का उल्लेख किया है, वह केवल देह और मन को तैयार करने के लिए। योग्य देह होने पर तत्क्षण कृष्ण-दर्शन होगा ही। भगवत कृपा पाने के पूर्व चाहिए साधन-भजन की तैयारी।" उस दिन की बात अनुगत शिष्य श्यामदास के मन में अच्छी तरह बैठ गई।

वैष्णव भक्त के संबंध में बाबाजी की दृष्टिभंगी उदार और सर्वजनीन थी। साधनार्थी भक्तों को वे प्रायः कहा करते थे, "देखो, नवद्वीप लीला भी नित्य है और नीलाचल लीला भी नित्य है। जिसको जो उपासना प्रिय है, वह वही उपासना करे। किन्तु किसी लीला विशेष को नहीं मानने से वैषम्य-दोष होता है। इष्टदेव के अनेक नाम, अनेक धाम होते हैं। जिसकी जिसमें रुचि हो, उसको वही ग्रहण करने में क्या असंगति है? मैं जिसको भजता हूँ, वह मेरे ही लिए सर्वश्रेष्ठ है—यह उदार भाव रखने की आवश्यकता है।"

गौड़ीय वैष्णव साधकों का एक दल था, जो नागर चूड़ामणि रसमय गौड़ किशोर की मूर्त्ति छोड़कर अन्य कुछ को मानते ही नहीं थे। इनलोगों को बड़े बाबाजी समझाते थे, "स्वयं नागर भाव का अवलंबन करके नागरियों का रसास्वादन करना श्रीकृष्ण का ही स्वाभाविक भाव है। किन्तु श्रीगौरांग के प्रति इस भाव को आरोपित करने की क्या आवश्यकता है? बल्कि, श्रीमती राधिका का भाव अंगीकार करके श्रीकृष्ण का परमोर्ध माधूर्य का आस्वादन

करना ही गौरांग महाप्रभु के आविर्भाव का मुख्य उद्देश्य था। यदि हमलोग तदनुरूप भाव से उसको नहीं भजते हैं तो क्या हमारे भजन से उसको वास्तविक आनन्द होगा ?"

चरणदासजी का मत था कि केवल नागरेन्द्र गौड़ किशोर को ही नहीं वल्कि संन्यासी श्रीचैतन्य को, कृष्णविरही श्रीचैतन्य को भी मानना होगा। लीला को खंडित करके देखने से क्या लीलामय को देखना हुआ ? श्रीचैतन्य महाभाव से भावित थे। जो परिकर उनके इस महाभाव में सहायक थे, वे ही उनके अन्तरंगतम थे। स्वरूप दामोदर और राय रामानन्द से अधिक कौन उनका प्रिय था ? जब कभी चैतन्यदेव राधाभाव से उद्वेलित होते थे, तो ये दोनों ही उन्हें प्रवोधित करते थे।

बाबाजी ने आगे कहा, "ऐसा कोई भाव नहीं जो श्रीगौरांग में नहीं था। इस भाव वैचित्र्य की मूल बात यही है कि भावनिधि गौरांग में नाना भावों का मेल था, किन्तु उनमें सर्वाधिक प्रवल राधाभाव था। जो साधक अपनी सिद्ध देह में गोपी भाव का आरोप करके श्रीराधागोविन्द के लीला क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते हैं, वे यदि राधाभाव विभावित श्रीगौरांग को अपने ध्यान में नहीं रखते हैं, उनके लिए उस लीला क्षेत्र में प्रवेश कठिन होता है। महाप्रभु स्वयं भक्तभाव स्वीकार कर संसार के लिए आदर्श स्थापित कर गये हैं। उनकी पूर्वलीला की अपेक्षा उत्तर-लीला के माधुर्य की अधिक तीव्रता और व्याप्ति है—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वैष्णवों के धाम के संबंध में बाबाजी का अपना विशिष्ट मत था। उनका मत था कि वृन्दावन को केवल माधुर्य धाम मानना ठीक नहीं है। पूतना-बध से लेकर कालीय-दमन और गोवर्धन-धारण तक ईश्वरीय विभूति का जो प्रकाश हुआ था, उसकी ओर भी वैष्णव साधकों का ध्यान आकृष्ट करते थे।

गौड़ीय वैष्णवों के आराध्य धाम के संबंध में भी उनका मत बिल्कुल स्पष्ट था। वे कहते थे, "गौड़ उपासकों के लिए नीलाचल धाम सर्वोपरि है। इसके अलावा स्वयं श्रीगौरांग इस धाम को और धामेश्वर को जिस भाव से देखते, स्पर्श और अनुभव करते थे, वैसा ही उनके अनुगामी भक्तों को करना चाहिए। इस धाम में महाप्रभु अठारह वर्षों तक महाभाव में विह्वल रहे और स्वरूप एवं राय रामानन्द के साथ व्रज-रस का आस्वादन किया था। वह रस हमलोगों के लिए भी आस्वादनीय है। इसलिए उस धाम में निवास करने और महाप्रभु की अनुगतिता स्वीकार करने से ही तो परम-वस्तु की सहज ही प्राप्ति

संभव है ! महाप्रभु के अनुगामी वैष्णव-भक्तों के लिए महाप्रभु का प्रेमलीला क्षेत्र ही श्रेष्ठ धाम है ।"

एकबार, जिन दिनों वे कलकत्ता में रहते थे, चरणदासजी गिरीश घोष के निमन्त्रण पर नाटक देखने गये । इस नाटक में चैतन्य-लीला का प्रदर्शन था । चरणदासजी प्रेमानन्द में विभोर होकर नाटक देख रहे थे । दृश्य में जब दिखलाया जा रहा था कि मधाई काना हाथ से कलसी उठाकर निताई को मारने को उद्यत है, बाबाजी अपने को स्थिर नहीं रख सके । भावावेग में वे अस्थिर होकर बेहोश हो गये । दर्शकों में हो-हल्ला मच गय । तत्पश्चात् लोगों ने बाबाजी की अलौकिक शक्ति का दर्शन किया । वे तो बेहोशी में भूमि पर लोट रहे थे और जो कोई भी उनके शरीर का स्पर्श करता, वही प्रेमानन्द में नाचने लगता । लोग यह अपूर्व दृश्य देखकर विस्मित-चकित थे ।

बाबाजी महाराज को किसी प्रकार उठाकर होश में लाया गया । गिरीश घोष ने हाथ जोड़कर कहा, "प्रभु, मेरे मन में अभिमान था कि मैंने इस नाटक में समस्त चैतन्य-लीला की खूब अच्छी तरह व्याख्या करके इस नाटक में प्रदर्शित किया है । आपका कृपा-संग पाकर आज मैंने जाना कि लीला को मैंने कुछ भी नहीं समझा है ।"

बाबाजी के कलकत्ता निवास काल में शिशिर कुमार घोष अक्सर उनका दर्शन करने आते थे । उनके साथ उनका छोटा पौत्र भी आता था । बाबाजी ने एक दिन हँसते-हँसते कहा, "शिशिर बाबू, जब भी आप आते हैं, आपके साथ गाँठ-जोड़ पौत्र भी आता है ।"

घोष महाशय ने उत्तर दिया, "महाराज, असल बात यह है कि आपके निकट आने पर मुझे अपने घर-परिवार का बोध नहीं रहता है । मन में भाव आता है कि सब कुछ को छोड़-छाड़ कर मैं निकल पड़ूँ । इसीलिए इस लड़के को साथ लाता हूँ कि इसके खिंचाव से घर की याद बनी रहे ।" ऐसा था बाबाजी के व्यक्तित्व का प्रभाव !

नीलाचल धाम चरणदास महाराज का परम प्रिय स्थान था । धामेश्वर श्री जगन्नाथदेव के साथ उनका निविड़तम सम्पर्क था । नीलाचल धाम में अनेक उत्सवों पर, विशेषत: रथयात्रा के अवसर पर, यह निविड़तम मधु संबंध अलौकिक रूप से व्यंजित हो उठता था ।

दारु ब्रह्म जगन्नाथ देव के रथारोहण करते ही बाबाजी आनन्दमत्त हो जाते थे । रथ के साथ वे नृत्य-कीर्त्तन करते चलते थे । ये कई दिन वे राजपथ

पर ही व्यतीत करते थे। एक बार चारों ओर अपूर्व साज सज्जा और पत्र-पुष्पों से अलंकृत समारोह चल रहा था और उत्सव-मत्त भीड़ के बीच से रथ चलता था। चरणदास बाबाजी प्रेम विह्वल कंठ से स्व रचित पद-कीर्त्तन करते चल रहे थे :

"रसमय, गुणधाम कृष्ण हिलते-डोलते आ रहे हैं। नौसिखुए नर्त्तक की तरह उनके पैरों का थाप पड़ रहा है। और चरणों के नूपुर मधुर स्वर में बज रहे हैं। उनका परिधान पीले रंग का है और कमर में बंधी किंकिणी का कनन-रणन स्वर गूँज रहा है। रसिक नागर कृष्ण के गले में वनमाला शोमायमान है।"

इस कीर्त्तन-नर्त्तन की अलौकिक शक्ति को देखकर भक्त और दर्शनार्थी-गण मुग्ध थे। लोग देख रहे थे कि चरणदासजी कीर्त्तन करते हुए तेजी से पाँव बढ़ाते हैं तो रथ की गति भी तेज हो जाती है। जब वे सदल-बल विश्राम करते या भावावेग में होश खो बैठते और राजपथ पर गिर पड़ते तो रथ की गति भी रुक जाती।

नीलाचल का भक्त-समाज इस रहस्य को जानता था। उन दिनों पुरी के मैजिस्ट्रेट थे मि० ब्लैक उड। बाबाजी की अलौकिक शक्ति की बात उनके कानों तक पहुँची। रथ के खींचे जाने के पूर्व उन्होंने बाबाजी से कहा, "बाबाजी, आप रथ के आगे-आगे नृत्य कीर्त्तन करते चलिए। मैंने देखा है कि आपके कीर्त्तन-दल की गति के साथ जगन्नाथ के रथ की गति भी बढ़ती-घटती है।"

बाबाजीने हँसकर कहा, "साहब, यह मेरे कीर्त्तन का प्रभाव नहीं है, यह मेरे इष्टदेव निताईचाँद की एक लीला है।"

चरणदासजी ने जब झांझपीटा मठ की सेवा का भार ग्रहण किया था, उस समय उनकी धारणा थी कि मठ की कोई सम्पत्ति नहीं है। उनकी तरह का कंगाल वैष्णव तो यही चाहता था। किन्तु धीरे-धीरे उन्हें मालूम हुआ कि मठ की सम्पत्ति है और उस पर कर्ज भी है।

एक दिन कातर होकर उन्होंने देव-मूर्त्ति को पुकार कर कहा, "हे प्रभु, मैंने तो समझा था कि तुम सचमुच ग्वाला के लड़के हो और मेरी तरह ही अकिंचन हो। किन्तु अब देख रहा हूँ कि ऐसी बात नहीं, तुम तो छोटा-मोटा एक जमीन्दार हो। यह अच्छी बात है। अपनी जमीन्दारी का तुम बैठे-बैठे स्वयं भोग करो। मैं तो चिरकाल का कंगाल वैष्णव हूँ, मुझसे जमीन्दारी

का काम-काज चलाना संभव नहीं है। आश्रम पर जो कर्ज है उसको चुकाने तक की मेरी जिम्मेदारी रही। उसके वाद तो मेरी छुट्टी।"

दो-तीन विशिष्ट गृहस्थ भक्तों ने सानंद मठ का सांसारिक उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया और वावाजी मुक्त विहंग की तरह चारों ओर भ्रमण करने लगे। धीरे-धीरे उनके जीवन-नाटक का पट-परिवर्त्तन होने लगा। रागानुगा भक्ति का जो रस अव तक संचित होता रहा था, वह अव उपचने लगा। दिव्योन्माद और महाभाव के माध्यम से उनका रूपान्तर जन-समाज के सम्मुख प्रकट होने लगा।

इन प्रेमसिद्ध महावैष्णव की समस्त सत्ता एक अपार्थिव आनन्द से तरंगायित हो रहा था। प्रेमानंद के उत्ताल सागर में उव-डूव करते थे। कभी तो डोरी-कोपीन धारण कर घूमते-फिरते थे और कभी सर्वथा उल्लंग अवस्था में रहतेथे।

वड़ा नगर में रहते समय एक वार वे अपने समस्त शरीर में विष्ठा लपेट कर चुपचाप बैठ गये। भक्त गोविन्द यह दृश्य देखकर घवरा गये और चिल्लाना शुरू किया। बावाजी हँसते-हँसते वोले, "हाँ रे गोविन्द, देख तो विष्ठा कहाँ है ?" सव लोग उनके निकट जाकर खड़े हो गये। त्योंही उनके शरीर से चन्दन की मनोरम सुगन्ध निकलने लगी।

एक वार वावाजी अत्यन्त उद्भ्रान्त अवस्था में थे। कई दिनों तक उनकी ऐसी मनोदशा थी कि भक्तों और दर्शनार्थियों की सोने की घड़ी, चेन, अंगूठी आदि जो भी मूल्यवान वस्तु पाते, उसे पास के ही एक तालाब में फेंक आते।

उनके शिष्य काव्यतीर्थ महाशय बड़े चिन्तित थे कि पता नहीं, बावाजी की उन्मत्तता कब घटेगी। ये तो सभी मूल्यवान वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं। मालूम नहीं, अन्य लोग क्या सोचते होंगे।

उन्मत्त अवस्था में रहने पर भी बाबाजी काव्यतीर्थ महाशय के मनोभाव समझ गये। वोले, "क्या जी काव्यतीर्थ, ये सव मूल्यवान वस्तु बर्बाद जा रही है ? इससे तुम्हारे मन में बड़ा दुःख है न ? अच्छी बात है।"

यह कह कर उन्होंने उस तालाव में डुबकी लगाई और जब ऊपर आये तो तालाब में उन्होंने जो कुछ फेंका था सब साथ लेते आये। वावाजी ने अपने इच्छानुसार उन चीजों को तालाब में कोई एक जगह तो फेंका नहीं था। किन्तु आश्चर्य की वात थी कि सब वस्तुओं को उन्होंने एक स्थान से ही बाहर निकाला।

इस दिव्योन्माद की अवस्था में बाबाजी का करुणाघन रूप भी प्रकट हुआ। केवल मुमुक्षु भक्तों का ही नहीं, बल्कि बहुतेरे पाखंडियों का भी उन्होंने उद्धार किया। इनके स्पर्शमात्र से उनलोगों के शरीर में नाना प्रकार के सात्विक विकार प्रकट होने लगे। कितनों के दुरारोग्य रोगों को भी दूर किया।

एक दिन एक भक्त बहुत-सा कागज लेते आये, जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में भगवान कृष्ण का नाम छपा था। पता नहीं, बाबाजी के मन में क्या भाव आया, उन्होंने आदेश देकर सब कागज को पास के एक तालाब में फेंकवा दिया। वहाँ परिव्राजक गोविन्द दास खड़े थे। उस अद्भुत कांड को देखकर उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने बाबाजी से कहा, "बाबा तो नाम-माहात्म्य के श्रेष्ठ प्रचारक हैं और आज आपने ही नाम को जल में डुबा दिया।" महापुरुष ने हँसते-हँसते उत्तर दिया, "हाँ जी, नाम अगर चिन्मय है तो उसका नाश कैसे होगा ? नाम क्या कभी जल में डूब सकता है ?"

दूसरे दिन सुबह में बाबाजी अपने भक्त संगी-साथियों के साथ बैठे थे। गोविन्दानन्दजी के साथ पिछले दिन की बातचीत का उन्हें स्मरण हो आया। वे हठात् बोल पड़े, "अरे गोविन्द, एक बार घाट पर जाकर देख तो आ कि नाम नित्य, सत्य और अखंड है या नहीं ?"

सबलोग झटपट तालाब की ओर दौड़े। उनलोगों ने एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा। कृष्ण नामांकित जिन कागजों को उन्होंने जल में डुबा दिया था, वे सब तालाब के किनारे आ लगे थे।

भगवद्नाम के धारक और प्रचारक के रूप में चरणदासजी का आविर्भाव हुआ था और नाम का प्रचार करते हुए उनका तिरोधान भी हुआ था।

साधन पथ के रूप में नाम-कीर्त्तन की जो शिक्षा और प्रेरणा महावैष्णव बाबाजी ने दी उससे बंगाल का जन-जीवन अत्यन्त संजीवित हुआ। आज भी अनेक भक्त-साधक उनके द्वारा निर्देशित साधना-मार्ग का आश्रय लेकर चल रहे हैं।

अब बाबाजी के देह-त्याग का परम लग्न आ गया था। नित्य-लीला-क्षेत्र में उनके प्रवेश करने में अधिक विलंब नहीं था। ऐसे समय में चरणदासजी एक दिन ध्यान-आसन से उठकर अपने भक्तों को निकट बुलाया।

इन करुणासागर-महासाधक के मुख-मंडल से स्वर्गीय प्रकाश फूट रहा था। भावाविष्ट होकर उन्होंने जन-कल्याण के लिए तत्वोपदेश दिया। बोले, "याद

रखना, प्रेमाभक्ति, रासलीला और रास-विलासादि साधारण जनों के लिए नहीं है। अधिकारी भेद से इन सब तत्वों को नहीं बतलाने से अनर्थ ही घटित होगा। ये सब निगूढ़ तत्व की बातें गुरु के मुख से ही सुनना चाहिए। सब समय और सबलोगों का एक मात्र मार्ग है केवल नाम जप—नाम, नाम और नाम !

महर्षि रमण

महर्षि रमण

'अरुणाचल—अरुणाचल' इस नाम में कौन-सा इन्द्रजाल आवृत्त है, किसे मालूम ? बालक वेंकटरमण के कान में हठात् उस दिन इस शब्द का झंकार प्रवेश कर गया और उसकी अद्भुत प्रतिध्वनि से वेंकटरमण का हृत्प्रदेश उद्वेलित हो गया।

यह अरुणाचल कहाँ है ? इसका माहात्म्य क्या है—कुछ भी तो मालूम नहीं है। और न उसने एक बार भी यह सब जानना चाहा। किन्तु अरुणाचल नाम की यह छन्दोमयवाणी आज उसके निद्रित जीवन को अग्नि-प्रकाश से आलोकित कर दिया, उसकी समग्र सत्ता को जड़-मूल से। इसीलिए तो सर्व-त्यागी होकर वह आज तिरुवन्नामलै में उपस्थित है।

भोर होते न होते तीर्थ-यात्रियों वाली गाड़ी स्टेशन पर पहुँच गई। वेंकटरमण गाड़ी से उत्तर गया। सामने पवित्र अरुणगिरि पर्वत था जो बाल सूर्य की रक्तिम छटा से रंजित हो रहा था। नीचे अरुणाचलेश्वर का सहस्र स्तंभोंवाला मंदिर खड़ा था। मानों प्रकृति और मनुष्य—दोनों का कृतित्व पास-पास विराजमान था।

विस्मय-विमुग्ध बालक रमण बार-बार अरुणाचल की इस मायापुरी को देखता रहा। उसका हृदय आज अपार तृप्ति से भर गया था। यही तो वह भूमि है जहाँ उसके जीवन-प्रभु का निवास स्थान है !

ई० सन् १८९५ का तारीख १ सितम्बर। इस तिथि ने संसार-त्यागी वेंकटरमण के जीवन में नया अध्याय उन्मोचित किया। उसका जीवन आज सफल हुआ। उसके आनन्द की सीमा नहीं थी। उसने द्रुतपद मंदिर में प्रवेश किया। आज मंदिर का बहिर्द्वार, गर्भगृह का द्वार सब उसके लिए उन्मुक्त था। मंदिर के विराट मंडप की भीड़ कहाँ थी ? कहीं कोई एक आदमी भी नहीं था। क्या स्वयं अरुणाचलेश्वर ने अपने पुत्र के साथ निभृत एकान्त में भेंट करने के लिए यह व्यवस्था की थी ?

साश्रुनयन वेंकटरमण ने हाथ जोड़कर भगवान अरुणाचल के चरणों में अपनी प्रणति निवेदित की और चिरकाल के लिए आत्म समर्पण किया।

उत्तर जीवन में उस दिन का यह गृहत्यागी बालक एक महाज्ञानी, तपस्वी साधक के रूप में प्रसिद्ध हुआ और उसका नाम हुआ महर्षि रमण। अपनी तपस्या के बल पर उन्होंने जो आलोक--शिखा प्रज्वलित की उससे प्राच्य और पाश्चात्य देशों के अनेक मुमुक्षुओं के जीवन में परम कल्याण का अवतरण हुआ।

अगले दिन गोकुलाष्टमी का पर्व था। बालक रमण को राह में कुछ प्रसाद और मिठाई मिल गई थी। इधर-उधर घूमने के पश्चात् आहार का ठोंगा लिए हुए रमण आइना कुलम सरोवर के तट पर पहुँचा। वहाँ अचानक उसके मन में विचार आया, इस तुच्छ देह के लिए इतना कुछ उपयोगी खाद्य पदार्थ की क्या आवश्यकता है ? इन सब में से कुछ को भी संचित करके रखा ही क्यों जाय ? ठोंगे को तो उसने तत्काल पानी में फेंक दिया।

राह खर्च के नाम पर उसके पास मात्र तीन रुपये थे, जो अभी भी बचे थे। इनकी भी क्या आवश्यकता थी ? अरुणाचलेश्वर मंदिर के किसी कोने में चामत्कारिक रूप से आश्रय तो मिल ही जायगा। भोजन का जोगाड़ भी हो जायगा भिक्षाटन से। उपाधान का काम दोनों हाथों से चल जायगा। तब फिर पैसा-कौड़ी का क्या प्रयोजन ? तत्काल रुपयों को पानी में फेंक दिया।

गले में पवित्र जनेऊ है। किन्तु वैरागी वेंकटरमण के लिए वह भी तुच्छ है। उसे भी सरोवर के जल में भसा दिया। शरीर पर जो वस्त्र था, उसे भी फाड़ कर कोपीन बना लिया। शेष वस्त्र को सड़क पर ही फेंक दिया; अब तो एकदम अकिंचन साधु का वेश था।

वेंकट रमण मंदिर की ओर लौट रहा था। उस समय एक सज्जन पुरुष उसके सामने आकर खड़े हो गये। वेंकट रमण से पूछा, "बाबा, तुम क्या मुंडन कराना चाहते हो ? तब तुम मेरे साथ आओ।"

चकित बालक रमण के मन में भाव आया, ठीक ही तो है, मेरे घुंघराले, उलझे बालों का अब प्रयोजन ही क्या रहा ? इसे काट फेंक कर एक जंजाल से छुटकारा पा लिया जाय।

इसलिए वह मुंडन के प्रस्ताव पर राजी हो गये। किन्तु यह अपरिचित सज्जन अद्भुत व्यक्ति थे। रमण के सिर के बाल को लेकर वे क्यों पीड़ा-पीड़ी कर रहे थे ? उन्होंने अपने खर्च से रमण का मुंडन करा दिया। इसे क्या कहा जाय ? सुन्दर सुगठित शरीर और मुंडित-मस्तक, बालक दंडी स्वामी लगता था।

शास्त्र-विधान के अनुसार मुंडन के बाद स्नान करना होता है। किन्तु वेंकट रमण के मन में उस समय वैराग्य की तीव्र भावना जग रही थी। अब तो उसके लिए सब कुछ निष्प्रयोजन हो रहा था। वह सोच रहा था कि इस नश्वर देह के लिए यह स्नान का विलास क्यों ?

किन्तु स्वयं अरुणाचलेश्वर ने ही मानो स्नान शुद्धि की व्यवस्था कर दी। रास्ते में ही हठात् मूसलाधार वृष्टि होने लगी। मंदिर-मंडप में आने पर लोगों ने देखा कि उसका सारा शरीर भींगा हुआ है, खूब पानी चू रहा है।

मंडप के बीच में पत्थर का चबूतरा था। उसी पर रमण ने ध्यान-आसन लगा लिया। मूल मंदिर में न जाकर मंडप को ही उसने अपना आश्रय-स्थल बना लिया। तीन वर्ष बीतने पर केवल एक बार मंदिर के भीतर जाकर उसने देव-विग्रह का दर्शन किया।

आसन पर बैठते ही रमण ध्यानस्थ हो गये। कब दिन हुआ, कब रात आई, इसका भी भान नहीं रहा। संसार का कोई आलोड़न-विलोड़न उसके निकट पहुँचता नहीं था। परम शांतिपूर्वक ध्यान की गंभीरता में अहर्निश निमग्न रहता था।

मौन आत्म समाहित यह कौन किशोर साधक है ? उसको देखकर मंदिर में आये दर्शनार्थी लोगों के कुतूहल की सीमा नहीं थी। उन दिनों साधारण लोगों के बीच उसका परिचय ब्राह्मण स्वामी मात्र था। उसके निकट कोई स्वजन-परिजन नहीं था। फिर इस सदा ध्यानाविष्ट साधक की देख भाल-कौन करता था ?

इस कार्य के लिए आगे आये शेषाद्रि स्वामी। ये मनमौजी संन्यासी तिरुवन्नामलै की सड़कों पर घूमा करते थे। उस दिन हठात् उस किशोर साधक को देख कर उसके हृदय में ममता का उद्रेक हो आया। उस समय से शेषाद्रि स्वामी उस बालक की सेवा परिचर्या करने लगे।

अब वेंकट रमण के साधन जीवन में नाना प्रकार के बाधा-विघ्न उपस्थित होने लगे। वह दूर देश से आया था। यहाँ उसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं था। मौका देखकर शैतान लड़के उसे पीड़ा पहुँचाने लगे। कभी ढेला मारते, कभी और तरह के उत्पात मचाते।

मंडप के निकट ही एक अंधकारमय गुफा जैसा था। उसका नाम था पाताल लिंगम। दुर्वृत्त लड़कों से पीछा छुड़ाने के लिए बालक वेंकट रमण उसी जगह जाकर ध्यानस्थ हो गया। वह भू-गर्भ गंदा, अंधकारपूर्ण और वायुहीन-सा था। चारों ओर कीड़ा-मकोड़ा, चूहा-छछुन्दर आदि का साम्राज्य था। वे वेंकट रमण पर निरन्तर आक्रमण किया करते। किन्तु इस ओर वेंकट रमण का ध्यान ही नहीं था। जहरीले कीड़ों के काटने से उसकी पीठ में घाव हो गया। उससे दर-दर खून निकलता था। किन्तु ध्यान के गंभीरतम स्तर पर रहने वाले बालक साधक को इन बातों की कोई परवाह नहीं थी। शुभाकांक्षी लोग आ-आकर बार-बार अनुरोध करते किन्तु उस भू-गर्भ आसन से उसे डिगाना सम्भव नहीं हुआ।

अन्ततः दुष्ट लड़के यहाँ भी धावा करने लगे। एक दिन उनका उपद्रव चरम सीमा पर पहुँच गया। उस दिन इन शतान लड़कों ने शेषाद्रि स्वामी और वेंकट रमण के ऊपर बड़े-बड़े ईंट-पत्थर फेंकने लगे। खूब शोरगुल हो रहा था। उस समय वेंकटाचल मुदालियर नामक एक सज्जन देव दर्शन के लिए आये थे। वे इन उपद्रवी लड़कों का उत्पात दमन करने के लिए तत्पर हुये।

सामने जाने पर जो कुछ देखा, उससे वे विस्मित रह गये। देखा, अन्धकार-आच्छन्न गुहा-गर्भ में एक दिव्यकांति नवीन साधक आँख मुँदे ध्यानस्थ बैठा हुआ है। कीड़े-मकोड़े का तीव्र दंश, दुष्ट लड़कों का निर्यातन कुछ भी उसका ध्यान तोड़ नहीं रहा है। कोई वाह्यज्ञान नहीं है। सारा शरीर निष्पंद है।

मुदालियर कई लोगों की सहायता से वेंकट रमण की देह को गुहा गर्भ से बाहर निकाल लाये। निकट ही सुब्रह्मण्य मंदिर था। वहीं रमण को रख दिया। दोनों पाँव जाँघ तक कीड़ों के काटने से क्षत-विक्षत थे। रक्त और पीव घाव से बह रहे थे। आश्चर्य की बात यह थी कि इतना कुछ होने पर भी किशोर साधक का ध्यान टूटा नहीं था। इस अद्भुत दृश्य को देखने के लिए भीड़ लग गई।

मंदिर गर्भ से बाहर निकलने के बाद वेंकट रमण के जीवन का एक नया अध्याय खुला। लोकालय में यह महर्षि रमण का अभ्युदय था।

प्रायः आधी शताब्दी तक इन आत्मज्ञानी महासाधक ने मुक्त हस्त से अपनी आध्यात्मिक संपदा का वितरण किया और अनेक मुमुक्षु साधकों के जीवन में रूपान्तर की सृष्टि की।

जिस आध्यात्मिक उपलब्धि और अभिज्ञता के आधार पर महर्षि रमण का जीवन गठित हुआ उसकी कहानी बड़ा कुतूहलपूर्ण है। तिरुचुझि के बालक वेंकट रमण के जीवन में उस दिन जिस प्रकाश की झलक देखी गई, वही उनके परवर्ती जीवन-काल में ज्योतिर्मय प्रकाश के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

मदुरा शहर से कोई ३० मील दूर घोर देहात में एक गाँव है तिरुचुझि। यहाँ सुन्दरम् अय्यर नामक एक अवस्थापन्न ब्राह्मण थे। वे स्थानीय फौजदारी कचहरी में कानून का कारोबार करते थे। उनका कारोबार काफी फैला हुआ था। भक्तवत्सलता, अतिथि वत्सलता के लिए सुन्दरम् अय्यर और उनकी पत्नी आलागम्माल की उस इलाके में अच्छी प्रतिष्ठा थी। इन्हीं दम्पति के पुत्र वेंकट रमण परवर्ती काल में विश्व विश्रुत महर्षि रमण हुये।

उस दिन आरुद्र दर्शन का उत्सव था। इस कारण तिरुचुझि में भी खूब आनन्द समारोह था। प्रति वर्ष इस अवसर पर बड़े धूम-धाम से शिव-विग्रह की शोभा-यात्रा निकाली जाती है। घंटा-ध्वनि, झांझ-करताल की आवाज, शंख-ध्वनि से वातावरण गूँजता है, दिवाली सजाई जाती है, ढेर की ढेर फूल माला की सुगन्ध से हवा गमकती रहती है। प्रचुर आनन्द उल्लास के बीच देवाधिदेव महादेव की पूजा अनुष्ठित होती है।

ई० सन् १८७९ के ३० दिसम्बर को, ऐसे ही पुण्यमय दिन को अपने माता-पिता के द्वितीय पुत्र के रूप में वेंकट रमण का जन्म हुआ। उस दिन सारे गाँव के लोग शिव मंदिर में वापस लौट आये थे। उसी समय सुन्दरम् अय्यर के घर में मांगलिक शंख-ध्वनि गूँज उठी।

शिवोत्सव के दिन आविर्भूत यह दिव्य बालक शिव का अंश लेकर उत्पन्न हुआ था। उत्तर-काल में शिव की ज्ञानमय सत्ता के अनुरूप ही उसकी भूमिका रही।

शिक्षा के लिए बालक वेंकट रमण को स्थानीय पाठशाला में भेजा गया। उसके बाद वह प्रायः एक वर्ष तक डिन्डीगुल के स्कूल में रहा। बारह वर्ष की अवस्था में उसको दुर्भाग्य का निर्मम आघात झेलना पड़ा। पिता सुन्दरम अय्यर का हठात् एक दिन देहान्त हुआ। तिरुचुझि का वह सुन्दर बसेरा छिन्न-भिन्न हो गया।

वेंकट रमण को अपने बड़े भाई नागस्वामी के साथ अपने चाचा सुबैया के यहाँ मदुरा भेजा गया। वहाँ वह कई वर्षों तक हाई इगंलिश स्कूल में पढ़ता रहा; किन्तु कॉपी-किताब लेकर जाने से क्या होता, स्कूल की पढ़ाई की ओर उसकी विन्दुमात्र भी अभिरुचि नहीं थी। वह सचमुच आसाधारण मेधावी था; किन्तु उससे क्या होता, वह अपनी मेधाशक्ति का उपयोग तो कर नहीं रहा था। वह नाम-मात्र की पढ़ाई-लिखाई करके ही संतुष्ट था। शरीर उसका सुगठित, सुदृढ़ था। खेल-कूद में प्रचुर उत्साह भी था।

सुन्दरम् अय्यर के परिवार की एक विशिष्टता थी। स्थानीय लोग जानते थे कि बीस-तीस वर्ष के अन्तर पर इस घर का कोई-न-कोई व्यक्ति गृहत्यागी संन्यासी हो जाता है। सुन्दरम् के एक चाचा ने घर छोड़ कर संन्यास ग्रहण किया था। बाद में उनके एक बड़े भाई भी संन्यासी हो गये। फिर कौन जानता था कि सुन्दरम् के पुत्रों में से कोई एक कब गेरुआवस्त्र-धारी गृह-त्यागी होगा ? इस दुश्चिंता की काली छाया यदा-कदा माता आलागम्माल के मन पर पड़ती थी।

यह आशंका एक दिन सच होकर रही और यह घटित हुआ उनके द्वितीय पुत्र के जीवन में।

हँसी-खुशी और खेल-कूद में वेंकट रमण का जीवन व्यतीत हो रहा था। अचानक पता नहीं कैसे, उनके मन में वैराग्य का तीव्र आलोड़न आया।

मदुरा में चाचा के घर एक दिन कोई-एक आत्मीय स्वजन आये। बातचीत के दौरान कुतूहली वेंकट रमण पूछ बैठा—आप कहाँ से आये हैं ? यह नितान्त साधारण-सा प्रश्न था। उत्तर भी वैसा ही साधारण मिला—अरुणाचल से।

किन्तु क्या आश्चर्य की बात। क्षणभर में इस नाम की झंकार से वेंकट रमण का अंतर्मन गूंज उठा; पता नहीं, किस दिवालोक का स्पर्श था ! इस शब्द में कौन सा मंत्र चैतन्य था ?

अज्ञात अव्यक्त भावरस मे रमण का मनप्राण आप्लावित हो उठा और सभी सात्विक संस्कार जग पड़े। अरुणाचल का स्वरूप स्पष्ट दीख पड़ा। यह क्या ? यह तो तेजोलिंगम महादेव का स्थूल रूप है। उनका ही पवित्र प्रतीक है।

उत्फुल्ल मन से वेंकट रमण ने फिर प्रश्न किया—"अरुणाचल ? यह अरुणाचल कहाँ है ?"

आत्मीय संबंधी ने फिर उत्तर दिया, "यह कैसी बात है? तुमने क्या तिरुवन्नामलै का नाम नहीं सुना है? वहीं तो अरुणाचल है।"

किशोर मन में उद्दीपना तो होती है, किन्तु टिकती नहीं है। स्वर्गीय आलोक की एक झलक में अरुणाचल दिखाई पड़ा, किन्तु दूसरे ही क्षण वह कहाँ अन्तर्हित हो गया?

इस तरह कई महीने बीत गये। तमिल भाषा का प्रसिद्ध धर्मग्रंथ पेरिया पुराणम् एक दिन वेंकट रमण के हाथों में पड़ा। इस ग्रंथ ने प्रथमवार उसको आत्मिक जीवन का परिचय दिया। इस ग्रंथ में अनेक सिद्ध पुरुषों की अमृतमय जीवन-कथा वर्णित है। वेंकट रमण ने एकाग्रमन से सब पढ़ डाला। अलौकिक जीवन का गोपन रहस्य बार-बार इंगित दे रहा था। सिद्ध पुरुषों का वह अतीन्द्रीय राज्य कहाँ है? भाव-विह्वल अवस्था में बैठे-बैठे रमण सोचा करता और मन चील की तरह डैना फैलाकर वहीं उड़ जाना चाहता।

प्रेम, वैराग्य और आत्म-निवेदन के मार्ग से इन महापुरुषों का आना-जाना होता था। भगवान के साथ इनलोगों का मधुर योग-बन्धन था। बालक वेंकट रमण के मानस-पटल पर इन महात्माओं की छवि बार-बार स्पष्ट हो उठती थी। मन बड़ा चंचल हो जाता था।

कुछ दिनों बाद की कथा। एक अद्भुत अनुभूति के माध्यम से उसके जीवन में आध्यात्मिक सत्ता का प्रकाश प्रस्फुटित हुआ और उसका जीवन ही परिवर्तित हो गया। यह परिवर्त्तन जितना ही अप्रत्याशित रूप से घटित हुआ, उतना ही विप्लवकारी भी था।

उस दिन मृत्यु की कराल छाया उसकी समस्त सत्ता पर उतर आयी थी, और उसमें अखंड जीवन का परम तत्व स्फुरित हो रहा था।

बालक वेंकट रमण उस दिन मदुरावाले घर के दो-तल्ले पर एक एकान्त कमरे में बैठा था। अकस्मात् उसे अनुभूति हुई कि मृत्यु की छाया उसके मन, प्राण, देह और समग्र सत्ता पर तीव्र गति से उतरी आ रही है और अभी ही उनका प्राण छूट जायगा। क्षण भर में उनके मन में विचार आया—डाक्टर, स्वजन, सगे-संबंधी आदि को बुलाने से भी क्या होगा? इस संकट से त्राण का उपाय भी उसने तत्काल ढूढ़ लिया। मन-ही-मन संकल्प स्थिर करते ही विचार-बुद्धि और समस्त चिन्तास्रोत अन्तर्मुखी हो गया। श्वास का कुंभक करके वेंकट रमण अपनी समस्त चिन्ताधारा को चरम सत्य के अनुसंधान में लगा दिया। अनुभूति स्वच्छ और प्रकाशोज्वल हो गयी। भीतर ही भीतर एक तत्व स्फुरित

हुआ—कौन-सी वह वस्तु है जो प्राण-हीन, निष्पन्द है। श्मशान में इसे ले जाकर जला दिया जायगा।

वेंकट रमण ने अपनी चेतना को आत्म-सत्ता की गंभीरता में ठेल दिया। उसके बाद विचार करने लगा, "इस देह की मृत्यु के साथ देह में स्थित 'मैं' का भी विनाश होगा क्या ? मैं तो मृत्यु के सामने खड़ा होकर आत्म-सत्ता की शक्ति और स्पन्दन उपलब्ध कर रहा हूँ। अतः यह 'मैं' एक अध्यात्म-कर्त्ता है जो देह का अतिक्रम करके वर्त्तमान है। देह का वस्तुभाग अवश्य विनष्ट हो जायगा, किन्तु देहोत्तर आत्मा तो मृत्यु की स्पर्शसीमा के बाहर है। इसलिए यह प्रकृत 'मैं' एक मृत्युंजयी सत्ता है।" (सेल्फ रियालाजेशन : नरसिंह स्वामी)।

"इस मृत्यु-भावना के साथ-साथ बालक वेंकट रमण का सत्यानुसंधान भी चल रहा था। किन्तु इस सत्यानुसंधान को मनोविश्लेषण या विचार-चिन्तन मानना भूल होगा। उत्तर-काल में महर्षि अपने इस अनुभव के संबंध में कहा करते थे, "यह तत्व मेरी चेतना के सामने एक जीवन्त-सत्य के रूप में उद्‌भासित हो उठा। इसको मैंने उसी मुहूर्त्त में उपलब्ध किया। फिर तो किसी व्याख्या-विश्लेषण की आवश्यकता रही नहीं। यह प्रकृत 'मैं' एक वास्तविक सत्य है। मेरी देह के साथ संलिष्ट सभी कर्म और आचरण इसी प्रकृत आत्म-सत्ता के बीच केन्द्रीभूत हो गया है। तत्पश्चात् जीवन का समस्त आकर्षण इस आत्मा के ऊपर निबद्ध हो गया। मृत्यु का भय रहा नहीं। इस नव जाग्रत आत्म चैतन्य के बीच मेरे जीवन का सब कुछ विलीन होने लगा। आज भी उसका अन्त नहीं हुआ है। दूसरी चिन्ता या तत्व बार-बार मेरे अन्तर में उठता और विलीन भी हो जाता। किन्तु प्रकृत 'मैं' या आत्मबोध अविच्छिन्न भाव से मेरे जीवन में वर्त्तमान है। मानो संगीत की नाना ध्वनि और मूर्च्छना के बीच में एक अचंचल मूल सुर हो। इसके बाद से तो यह देह जो कोई भी कार्य क्यों न करे, प्रकृत 'मैं' उस अन्तर्निहित आत्म-बोध के केन्द्र में अधिष्ठित है।" (रमण महर्षि : ए. ओसबोर्न)

उस दिन की अनुभूति का फल किशोर वेंकटरमण के जीवन पर सुदूर प्रसारी सिद्ध हुआ। चिन्ताधारा बार-बार खोजने लगा, जीवन का उद्‌गम कहाँ है ? नित-नवीन चेतना का उन्मेष होने लगा।

उस दिन का यह मृत्यु-बोध और संकट का कारण खोज पाना कठिन है। यह किसी रोग या स्वास्थ्य-ह्रास की प्रतिक्रिया नहीं थी। वेंकटरमण खेल-कूद में दक्ष था। प्राणवन्त शरीर से सुन्दर स्वास्थ्य की आभा फूट पड़ती थी।

इसलिए मृत्यु की छाया उसकी देह और मन में स्वाभाविक भाव से क्योंकर पड़ेगी !

इस मानस-संकट के बीच वेंकटरमण के जीवन में उस दिन आत्मतत्व अचानक स्फुरित हुआ। इसके लिए उसे किसी प्रकार का प्रयास, अनुसंधान या तैयारी नहीं करनी पड़ी। प्रारब्ध का अनिर्वाध ज्वार था, जिसके पीछे जन्म-जन्मान्तर की संचित सात्विक संस्कार-राशि का वेग सिर उठा रहा था और ला रहा था मुक्ति की प्रेरणा।

वालक वेंकटरमण में कुछ भी अस्वाभाविक नहीं था। उसका आचार-आचरण अन्य बालकों की तरह ही बिलकुल स्वाभाविक था। आत्म-चिन्तन की कोई विशेष अभिरुचि उसमें नहीं थी। उसमें किसी प्रकार की विशेषता थी तो उसकी प्रगाढ़ निद्रा। बाल्यकाल में उसकी प्रगाढ़ निद्रा कितनी अस्वाभाविक थी, इसका वर्णन वे उत्तरकाल में भक्तों के बीच किया करते थे। इसी वर्णन से, निद्राकालीन प्रच्छन्न ध्यानावेश का इंगित मिलता है :—

"मेरी नींद साधारणतः बड़ी गहरी होती थी। उन दिनों डिन्डीगुल के स्कूल में पढ़ता था। एक दिन मैं गहरी नींद में था, किसी प्रकार भी जग नहीं रहा था। बहुत-से लोग मेरे सोने के कमरे के सामने खड़े थे और मुझे जगाने का प्रयास कर रहे थे। उनके जोर-जोर से चिल्लाने और दरवाजा पीटने पर भी नींद नहीं टूटी। किसी प्रकार दरवाजा ठेलकर वे भीतर आये और मेरे शरीर को खूब झकझोरा तब जाकर कहीं मेरा वाह्य ज्ञान लौटा। मध्य रात्रि में अनेक बार अद्भुत निद्रावेश होता था। यह अर्ध-वाह्य-ज्ञान की स्थिति होती थी। खेल-कूद के दुष्ट संगी-साथी दिन में मुझे छेड़ने का साहस नहीं करते थे। लेकिन रात में, जब मैं सोया रहता वे मेरे ऊपर उपद्रव किया करते। अनेक बार तो मुझे सोये में उठाकर खेल के मैदान में रख आते और मुझ पर तरह-तरह से प्रहार करते, फिर मुझे उठाकर बिछावन पर सुला जाते थे। इतना कुछ होने पर भी मेरा वाह्य ज्ञान सहज ही नहीं लौटता।"

उस दिन के मृत्यु-संकट की अनुभूति ने वेंकटरमण के समग्र जीवन में एक अद्भुत परिवर्त्तन ला दिया। पढ़ने में मन नहीं लगता था, भोजन के लिए रुचि और उत्साह नहीं रहा। बन्धु-बान्धव और सगे-संबंधियों का आकर्षण एकबारगी शिथिल पड़ गया। व्यक्ति सत्ता की जड़ में एक प्रचंड आघात लगा था। क्रीड़ा-चंचल, पौरुषदीप्त किशोर के जीवन में उस दिन से नम्रता और विनय का भाव आ गया। एक अपूर्व लावण्य-श्री उसके आँख-मुख से प्रस्फुटित हो रही थी।

अबसे वेंकटरमण जब भी निर्जन एकान्त में होता, उसका समय प्रायः ध्यानावेश में ही कटता। बड़े भाई नागस्वामी कभी-कभी व्यंग-विद्रूप की भाषा में कहते, "हे ज्ञानी पुरुष, जो कुछ मैं देख रहा हूँ, उससे तो यही प्रतीत होता है कि प्राचीन ऋषियों की तरह, तुम्हारा वन में चला जाना उचित होगा।"

किन्तु वेंकटरमण उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं देता। अपने ही भाव में उसका समय कट रहा था।

पास में ही मीनाक्षी-सुन्दर का मंदिर था। यह मंदिर ही अब से वेंकट-रमण का आश्रय स्थल बना। इसके पहले मदुरा के इस सुप्रसिद्ध मंदिर में वह यदा-कदा ही जाता था। अब मालूम पड़ता था कि मंदिर के आकर्षण ने उसे पकड़ लिया था।

प्रतिदिन वह संध्या समय भक्तिभाव से सिर झुका कर मंदिर के प्रांगण में जाकर खड़ा होता। मीनाक्षी, नटराज एवं शैव सिद्धाचार्य की मूर्त्ति के समक्ष जाकर खड़ा होते ही उसके हृदय में अपूर्व भावावेश का उन्मेष होता रहता और इसका उसे भान भी नहीं रहता।

उस समय की भावानुभूति और मनोभाव का वर्णन करते हुए रमण महर्षि कहते, हैं "भावावेग की तरंग मुझे धीरे-धीरे गहरे तल में ले गयी थी। देहात्मबोध लुप्त हो गया था। जो आत्म-सत्ता अब तक देह का अवलम्ब या आश्रय लेकर चल रही थी, वह भी छूटना चाह रही थी। वह एक नूतन आश्रय खोज रही थी, इसीलिए मंदिर में आना-जाना हो रहा था। तभी तो आत्मा का बंधन मुक्त प्रवाह अश्रुधारा के रूप में उछल रहा था। यही तो जीव और ईश्वर के खेल या लीला का प्रकृत रूप है। जो विश्व ब्रह्मांड का भाग्यविधाता है, जो सर्व-शक्तिमान और सर्वज्ञ है, उस ईश्वर के सम्मुख मैं जाकर खड़ा होता और उसकी कृपा के लिए प्रार्थना करता ताकि शैव सिद्धाचार्य की भांति मेरी भी भक्ति और निष्ठा बढ़े। किन्तु मैं प्रायः ही कोई निर्दिष्ट प्रार्थना वहाँ नहीं करता था। मैं केवल अन्तर की गंभीरतम सत्ता को बाहर की महासत्ता के साथ एकाकार कर देता था और चुपचाप बैठा रहता था।"

रमण के भीतर का मनुष्य जग उठा था। किन्तु उस समय कोई तीव्र सुख या दुःख का उसे बोध नहीं था। वैराग्य, मुक्ति प्रभृति बातों का उसके निकट कोई अर्थबोध नहीं था। संसार, ब्रह्म आदि का मर्म उसके लिए अज्ञात था। किन्तु मीनाक्षी, सुन्दरेश्वर के मंदिर के प्रांगण में जाकर खड़ा होते ही आँखों से अविरल अश्रुपात होने लगता। सभी सुख-दुःख के ऊपर अन्तरात्मा की किस अव्यक्त वाणी को यह अश्रुधारा प्रकाशित करना चाहती थी?

वेंकट रमण प्रतिदिन ही देव-विग्रह के सामने आकर खड़ा होता था और अन्तर की प्रार्थना बार-बार निवेदित करता था।

उत्तर-काल में एक ज्ञानपंथी साधु ने महर्षि रमण से प्रश्न किया, "महर्षि, मृत्यु की अनुभूति के मध्य आपको तो आत्मस्वरूप का बोध हो चुका था, तब फिर देवमूर्ति से प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता थी?"

महर्षि ने उत्तर दिया, "उस दिन की मृत्यु अनुभूति से मुझे यह ज्ञान हुआ कि मैं देह नहीं हूँ। शुद्ध मन से यह ज्ञान मुझे उपलब्ध हुआ किन्तु वह शुद्ध मन विलुप्त नहीं हुआ था। उसे एक नवीन अवलम्बनकी आवश्यकता थी, इसीलिए मैं मंदिर में देव-विग्रह के सामने जाता था।"

वेंकट रमण की उदासीनता के कारण पारिवारिक जीवन में कटुता आने लगी। चाचा और बड़े भाई के तिरस्कार के साथ-साथ स्कूल के शिक्षकों द्वारा कठोर शासन शुरू हुआ। वे लोग सोचते, "यह लड़का कितना मेधावी और प्राणवन्त है; इसका भविष्य कितनी संभावनाओं से भरा हुआ है। किन्तु अपनी मूर्खता से यह सब कुछ नष्ट कर रहा है। इन शुभाकांक्षियों से प्राप्त धिक्कार और गंजन दिनानुदिन बढ़ता ही गया।

वेंकट रमण के लिए घर-संसार सर्वथा अर्थहीन हो गया था। किन्तु परिवार के लोग कुछ दूसरी तरह सोचते थे। वे विचारते थे, लड़का पढ़े-लिखे, अर्थोपार्जन करे। इस प्रकार दो विपरीत विचारा धाराओं में टकराव अवश्यंभावी था।

वेंकट रमण एक दिन अपने कमरे में बैठे स्कूल का कोई पाठ लिख रहे थे। कुछ क्षण बाद सहसा मन में विचार आया, इस अर्थहीन गतानुगतिक काम में क्यों कालक्षेप किया जाय? पोथी-पत्रा एक ओर हटाकर वे ध्यान में बैठ गये।

बड़े भाई नागस्वामी की नजर इस ओर पड़ी। वे व्यंग्यपूर्वक बोले, "जिसकी ऐसी भावभंगी और आचरण है, उसे घर में रहने की क्या जरूरत?"

यह कोई नयी बात नहीं थी। वेंकट रमण कई बार ऐसी बात सुन चुके थे। किन्तु आज बड़े भाई की इस बात से उसके मर्मस्थल पर गहरा आघात पहुँचा। सोचा, बात भी ठीक है, संसार में कुछ भी सार पदार्थ नहीं है। तब फिर घर में इस तरह बैठे रहने का क्या प्रयोजन? वेंकट रमण की सारी दृष्टिभंगी ही बदल गयी।

इस विचारधारा के बीच ही हठात् अरुणाचल की बात याद आयी। प्रथम बार ही सुनने पर इस शब्द ने उनकी अन्तर सत्ता को झंकृत कर दिया था। वही शब्द आज उनकी चेतना को उद्दीपित करने लगा। जो सभी शक्ति के आधार हैं, सभी ज्ञान के उद्गम-स्थल हैं, उसी भगवान का आह्वान उस नाम में निहित है। उसी में वेंकट रमण ने अपने लिए परम पिता का निदेश ढूंढ़ लिया। उसने तय कर लिया कि वह गृह त्याग कर अरुणाचल की राह लेगा। मन में हुआ कि घर के लोग उसका पीछा करेंगे। इसलिए सबसे छिप कर घर से निकलना पड़ेगा।

शुरू में उसने एक छलना का आश्रय लिया। अपने बड़े भाई को बुलाकर कहा, "मुझे अभी स्कूल जाना है।" भाई ने कहा, "ठीक है, चले जाओ, अच्छी बात है। जाने के समय पांच रुपये लेते जाना। आज मुझे कालेज का दरमाहा देना है, तुम्हीं दे देना।"

वेंकट रमण के लिए यह अप्रत्याशित सुयोग था। कृपालु भगवान ने राह-खर्च का जोगाड़ भी कर दिया है। उसने उसी दिन अरुणाचल—तिरुवन्नामलै के लिए प्रस्थान किया। बड़े भाई के कालेज की फीस के पाँच रुपये में से तीन रुपये अपने राह-खर्च के लिए निकाल लिया। प्रस्थान करने से पूर्व बड़े भाई के नाम एक पत्र रख गया—"अपने पिता से मिलने के उद्देश्य से यह यात्रा प्रारंभ कर रहा हूँ। इस कार्य के लिए मुझे उनका आदेश भी मिल गया है। मैं पुण्य कार्य के लिए जा रहा हूँ। इसमें किसी को दुःख करने की कोई बात नहीं है। इसलिए 'इसकी' खोज-खबर लेने के लिए व्यर्थ खर्च करने की आवश्यकता नहीं है। मैंने तुम्हारे कालेज की फीस जमा नहीं की है। उसमें से दो रुपये रखे जा रहा हूँ।"

पत्र के नीचे कोई हस्ताक्षर नहीं था। किन्तु लेखक के मन का हस्ताक्षर तो ठीक ही था। 'मैं,' 'मेरा' आदि से पत्र आरंभ हुआ लेकिन आगे चलकर अपने लिए उसने 'इसकी' का प्रयोग किया था।

नीचे हस्ताक्षर नहीं करने का भाव था— जो देहात्म बुद्धि का त्याग करके जा रहा था, वह क्यों-कर अपना परिचय ज्ञापित करने जाय ? पत्र लिखने या हस्ताक्षर करने का प्रयोजन तो उसने पहले ही छोड़ दिया था।

मदुरा स्टेशन पहुँच कर वेंकटरमण को पता चला कि ट्रेन के आने का समय तो बहुत पहले ही बीत गया है। पता नहीं चला कि इतना विलम्ब क्यों हो रहा है ? इस वैरागी बालक के लिए किसी ने पहले से ही राह-खर्च और परिवहन की व्यवस्था कर रखी थी।

ई० सन् १८६५ के २६ अगस्त मे वें-टरमण के जीवन का नया अध्याय प्रारंभ हुआ। वह अब एक नया मनुष्य था! यह रूपान्तर प्रभु अरुणाचल की कृपा से हीं संभव हुआ।

गाड़ी की भीड़ और शोरगुल का बालक वेंकटरमण के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। अगले दिन क्या होगा, इसकी चिन्ता नहीं थी। गंतव्य स्थान की बात लेकर भी मन में कोई उद्वेग नहीं। वह गाड़ी के एक कोने में, ध्याना-वेश में आत्म विस्मृत होकर बैठा था।

ट्रेन के कमरे में प्रवेश करने के पश्चात वेंकटरमण ने सुना कि अरुणाचल जाने के लिए भेलुपुरम में गाड़ी बदलनी पड़ती है। गाड़ी शेष रात्रि में भेलुपुरम पहुँची और वेंकटरमण गाड़ी से उतर गया। यहाँ उसे दूसरी गाड़ी में चढ़ना था।

वह सबेरे स्टेशन के बाहर आया। बड़ी भूख लगी थी, और पास में केवल १० पैसे थे। निकट ही के एक होटल में भोजन करने गया।

इस सुदर्शन किशोर की आँखों में मालूम नहीं कौन-सा आकर्षण था। होटल का मालिक उसे बार-बार देखता था। वह बालक के उदास आचरण को लक्ष्य कर रहा था। भोजन करने के बाद वेंकटरमण उसे पैसे देने गया किन्तु पता नहीं क्यों होटलवाले ने पैसे लौटा दिए।

लौटाये हुये पैसे से वेंकटरमण ने एक टिकट खरीद लिया। सोचा, यह ट्रेन जितनी दूर आगे जाय उतना ही अच्छा! यह टिकट माम्बलपेट तक का था। वहाँ पहुँचने के बाद वह पैदल ही चल पड़ा। संध्या हो रही थी। एक मील चलने के बाद वेंकटरमण आरियानी-नेलूर पहुँचा। सामने पहाड़ पर अतुल्य-नाथ का मंदिर था। वहाँ से दूर क्षितिज पर उसके मानस विग्रह अरुणाचलेश्वर की चोटी दिखाई पड़ती थी।

श्रद्धावनत वेंकटरमण ने अतुलेश्वर के मंदिर में प्रवेश किया। मूर्ति के सम्मुख बैठते ही वह ध्यानाविष्ट हो गया। तरुण-साधक की अन्तर्सत्ता में अलौ-किक आनन्दमय अनुभूति जग पड़ी। उसने देखा संपूर्ण मंदिर एक अपरूप-ज्योति से प्लावित हो रहा है। इस स्वर्गीय ज्योति का उद्गम कहाँ है? इसका तात्पर्य क्या है? वह यह कुछ समझ नहीं सका। किन्तु उसने अनुभव किया कि अपार आनंद की तरंगें उसके संपूर्ण देह मन को भसाये लिये जा रही हैं। प्रभु अरुणाचलेश्वर ने इस पार्थिव आलोक धारा के मध्य अपना स्नेहिल स्पर्श भेजा था।

यह अलौकिक आलोक राशि मंदिर के चतुर्दिक बिखर रही थी। वेंकट-रमण सोचने लगा, तब क्या यह प्रकाश देवविग्रह मे निःसृत हो रही है ?

व्यग्र-भाव से वह मंदिर के गर्भ-गृह में घुस गया और देवमूर्त्ति के सम्मुख जा खड़ा हुआ। किन्तु तब तक प्रकाश का निस्सरण रुक गया था। इसलिए यह नहीं मालूम हुआ कि प्रकाश कहाँ से निकला है। वह मंदिर एक कोने में ध्यानस्थ बैठ गया।

बहुत देर बाद उसका वाह्यज्ञान लौटा। कानों में पुजारी का कंठ-स्वर पड़ा—"मंदिर के एक कोने में कौन ऐसे बैठा हुआ है ? बाहर चले आओ, दरबाजे में ताला लगाना है।"

वेंकटरमण होश में आ गया था। याद आयी, वह सारा दिन निराहार ही रह गया है। भूख-प्यास से शरीर अवसन्न था। उसने पुजारी से कुछ खाने के लिए माँगा।

इस मंदिर में भोग-प्रसाद की कोई व्यवस्था नहीं थी। दूसरे, रात में यहाँ किसी को सोने नहीं दिया जाता था। पुजारी ने बताया, पास में ही विराटेश्वर का मंदिर है, तुम वहीं चले जाओ। वहाँ आहार और आश्रय, दोनों मिलेगा।

विराटेश्वर की पूजा-आरती चल रही थी। वेंकटरमण मंदिर के एक कोने में जाकर बैठ गया। भूख से जान जा रही थी। दो-एक लोगों से उसने आहार की याचना की। मंदिर का बादक दूर खड़ा नवागत किशोर को देख रहा था। इतनी छोटी आयु में ऐसी भावतन्मयता। उसने अपने भाग का प्रसाद वेंकट-रमण को दे दिया।

आहार तो मिल गया लेकिन भोजन कैसे हो ? पानी का प्रबन्ध तो था नहीं। पास में ही एक ब्राह्मणशास्त्री का घर था। वहाँ गये बिना जल मिलना संभव नहीं था। किन्तु भूख और थकावट से वेंकट रमण मृतप्राय हो रहा था, चलने की शक्ति नहीं थी। थोड़ी ही दूर चलने पर वह सज्ञाहीन होकर सड़क पर गिर पड़ा। लोगों की भीड़ जमा हो गई। होश आने पर वेंकट रमण ने देखा, भोजन तो मिट्टी में गिर गया है। भूख की ज्वाला ऐसी थी कि मिट्टी में से उठाकर उसी अन्न को वह खाने लगा।

प्रभु अरुणाचलेश्वर ने हाथ के इशारे से उसे घर के बाहर निकाला था और आज उसे दीन-हीन भिक्षुक कर दिया। रास्ते पर बिखरे अन्न को खिलाकर ही प्रभु शान्त हुये।

भोर होते न होते यात्रा शुरू हुई। गंतव्य स्थान था तिरुवन्नामलै, यहाँ से २० मील दूर। पास में एक पैसा भी नहीं था। सारी राह पैदल ही जाना होगा। दृढ़तापूर्वक पाँव बढ़ाते हुये वेंकट रमण आगे बढ़े।

किन्तु रास्ता ठीक-ठीक मालूम नहीं था। शरीर में थकावट भी आ रही थी। बार-बार मन में विचार उठता था, यह राह ट्रेन से ही कटता तो अच्छा होता। दूसरे, राह में खाने-पीने का जोगाड़ नहीं होने पर राह चलना कठिन होगा। लेकिन पास में कानी कौड़ी नहीं थी। तभी सहसा स्मरण हुआ, कानों में पतले-पतले सोने के कुंडल तो हैं। इन्हें बँधक रख कर कुछ रुपयों का जोगाड़ तो हो सकता है। लेकिन रुपया देगा कौन? इस इलाके के किसी को तो वह जानता नहीं था।

इधर भूख की ज्वाला असह्य हो रही थी। आगे बढ़ने पर एक धनी गृहस्थ का घर दीख पड़ा। मालिक का नाम था मुथुकृष्ण भागवतार। उनके द्वार पर जाकर वेंकट रमण ने कुछ भोजन की याचना की। उस दिन गोकुलाष्टमी का पर्व था। इस दिन भक्तगण श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाते हैं। इस गृह में भी उस पर्व का समारोह था। भोजन का प्रचुर प्रबन्ध था। ऐसे दिन द्वार पर एक सुन्दर ब्राह्मण किशोर अतिथि रूप में खड़ा था। घर की मालकिन श्री भागवतार की पत्नी के आनन्द की सीमा नहीं थी। वह यत्नपूर्वक वेंकटरमण को भोजन कराने बैठी। इतना ही नहीं, अत्यन्त आत्मीयता और स्नेहपूर्वक कुछ मिठाई भी वेंकटरमण की पोटली में बाँध दी।

उसने इस नये परिचय का लाभ उठाया। उसे ट्रेन-भाड़ा का प्रबन्ध करना था। इसलिए थोड़ा छल का प्रयोग किया। भागवतार महाशय से उसने कहा कि रास्ते में पास का सब कुछ खो गया है और वह घोर विपत्ति में पड़ गया है। इसलिए वह कान के दोनों कुंडलों को बँधक रख कर चार रुपये प्राप्त करना चाहता है। यद्यपि इसका दाम २० रु० से कम नहीं होगा।

भागवतार ने तुरत चार रुपये दे दिये। एक चिरकुट पर दोनों कुंडलों के पाने की रसीद भी दे दी। ताकि रुपये लौटाने पर उसके कुंडल उसे लौटा दिये जायँगे।

वेंकटरमण थके पाँव रेलवे स्टेशन की ओर चला। राह में ही भागवतार से प्राप्त हुई रसीद को फाड़कर फेंक दिया। कौन आवेगा कुंडल लौटा लेने।

तिरुवन्नामलै वाली गाड़ी ने किशोर साधक को उसके स्वप्नलोक अरुणाचलगिरि के पदमूल तक पहुँचा दिया। यह था १८९५ ई० का १ सितम्बर। यह

दिन केवल वेंकटरमण के लिए ही नहीं, बल्कि अगणित लोगों के अध्यात्म जीवन के लिए चिरस्मरणीय रहेगा। तिरसठ वर्षों की अविराम तपस्या के फलस्वरूप उस दिन का किशोर साधक रमण महर्षि के रूप में परिवर्तित हो गया। देश विदेश के शत-शत मुमुक्षु स्त्री-पुरुष इन महापुरुष की करुणा-वारि से अभिसिंचित हुये।

प्रायः दो महीने तक वेंकटरमण सुब्रह्मण्यम मन्दिर में रहा। घर में अंतर्लीन भाव से बैठा रहता। इसमें ही दिनानुदिन ध्यानतन्मयता चलती रहती। कभी तो वह अर्धवाह्य अवस्था में रहता और कभी निष्पन्द, चैतन्यहीन दशा में।

भोजन आदि दैहिक प्रयोजनों के लिए उसे कोई होश नहीं था। मन्दिर में उमा की मूर्ति के अभिषेक-स्नान के लिए दूध-केला, हल्दी, चीनी के मिश्रण से एक तरल पदार्थ तैयार किया जाता था। इसीमें से कुछ अंश अर्धचेतन किशोर साधक के मुँह में लोग डाल देते थे। भूख-प्यास, रुचि-अभिरुचि आदि का प्रश्न उसके लिए सर्वथा निरर्थक हो गया था। इसके अलावा अन्यत्र एक-दो जगह और भी वेंकटरमण आसन डालकर बैठता था। स्थानीय लोग उसे ब्राह्मण स्वामी कहने लगे। श्रद्धा और प्रीतिवश भक्तों और दुःखी लोगों की भीड़ उसके निकट जुटने लगी। कार्तिक के उत्सव के दिन इस तरुण साधक के सामने विशेष रूप से भीड़ लग जाती थी। 'ज्योतिर्लिंगम' अरुणाचल की परिक्रमा करने लोग आते और सुयोग मानकर इस मौनी तपस्वी को प्रणाम करते।

ऐसा ही अरुणाचल उत्सव का एक दिन था। किशोर साधक वेंकटरमण एक पेड़ के नीचे बैठा था। दूर-दूर से आनेवाले दल-के-दल तीर्थ-यात्री श्रद्धा-भाव से उसे प्रणाम करने आ रहे थे। ऐसे समय में हठात् उद्दण्डी नयनार तरुण साधक ब्राह्मण स्वामी—रमण महर्षि—के प्रथम सेवक शिष्य हुए।

वन्दीवास के निकट एक गाँव में त्यागी साधक नयनार का जन्म हुआ था। अल्प अवस्था में ही एक छोटा-सा मठ स्थापित कर वे साधना कर रहे थे। उस साधना से उन्हें आज तक सिद्धि नहीं मिली थी। अन्तर की अतृप्ति को अन्तर में ही छिपाकर व्याकुल भाव से सद्गुरु की खोज में इधर-उधर भटक रहे थे।

रमण के प्रशान्त मुख को देखकर नयनार आत्म-विस्मृत हो गये। एक विचित्र अनुभूति उनमें जग पड़ी वह अस्फुट स्वर में बोल उठे, "प्रभु, यह कैसा अपूर्व विस्मय है? ऐसे ही व्यक्ति को तो मैं इतने दिनों से खोज रहा था। इस

तपस्वी में ही तो मैं अपनी आकांक्षित शान्ति को रूपायित देख रहा हूँ। इस महापुरुष में साक्षात् आत्म-स्वरूप प्रतिष्ठित है।"

नयनार वहीं रुक गये। किन्तु रमण पूर्ववत् मौनी और निर्विकार रहे। तत्व-उपदेश, साधना-निर्देश आदि कुछ भी तो वह अपने भक्त को नहीं देता था। उसके प्रशान्त, गंभीर नेत्रों से केवल शांति की अमृतधारा निस्सृत होती रहती थी। ऐसी शांति, ऐसा आनन्द नयनार को कहीं नहीं मिला था। उनका जीवन आज धन्य था।

इसके बाद आये अन्नामालाई तम्बीरन। उन्होंने तरुण साधक रमण में कौन-सी दिव्य वस्तु देखी, वे ही जानें।

तम्बीरन स्वयं विषय-विरक्त संन्यासी थे। वे दिन-रात भक्ति रस से ओत-प्रोत तेवरम संगीत गाते हुये दिन काट रहे थे। द्वार-द्वार भिक्षाटन करते हुये जो कुछ मिलता उसे दुःखी-दरिद्रों की सेवा में खर्च कर डालते। तत्पश्चात् सांझ होते, अरुणाचल लौट आते। इमली वृक्ष की छाया में, किशोर गुरु की छाया में बैठकर अपना जो कुछ प्रश्न या निवेदित करते। रमण की बड़ी-बड़ी आँखों से स्निग्ध ज्योति की धारा उनके देह-मन-पर पड़ती रहती। तम्बीरन ने अपने अध्यात्म जीवन का परम आश्रय प्राप्त कर लिया था।

तिरुवन्नामलै के उपान्त में गुरुमूर्त्तम गाँव में तम्बीरन का घर था। वे बड़े आग्रह पूर्वक रमण को वहाँ ले गये। रमण भी भीड़ से बचना चाहते थे। इसलिए कई महीने गुरुमूर्त्तम में रहने में उन्हें आपत्ति नहीं हुई। यहाँ भी उनका कृच्छ्र व्रत और तन्मयता पूर्ववत चलती थी।

किन्तु गुरुमूर्त्तम मंदिर में कष्ट कुछ कम नहीं हुआ। चींटी और कीड़ों का अत्याचार अविरत चलता था। दर्शनार्थीगण क्षण भर भी वहाँ रुक नहीं सकते थे। किन्तु आत्म समाहित रमण निर्विकार रहते थे। दिन-रात एक ही आसन पर बैठे रहते थे।

भक्तगण व्याकुल हो उठे। कीड़ों के काटने से उन्हें कैसे बचाया जाय? मंदिर के एक कोने में एक चौकी रख दी गई और जलपात्र में उसके पौवे रख दिये गये। सबलोग निश्चिन्त थे कि स्वामीजी को अब कीड़ों से त्राण मिल गया। किन्तु आत्म-विस्मृत साधक ने अपने लिए स्वयं विपत्ति सिरज ली। ध्यान तन्मय स्थिति में उनकी देह मंदिर की दीवार से टिक जाती थी और चींटियाँ सारी देह पर छा जाती थी। कीड़े जहाँ भी काटते, वहाँ से खून बहने लगता और उसका दाग भी दीवार पर लग जाता। यह दाग वर्षों तक मिटा नहीं।

आगे चल कर महर्षि रमण के भक्तगण यह स्थान देखने आते थे।

किशोर साधक के आत्म समाहित भाव को देख कर सभी लोग अवाक् रह जाते थे। देहात्मक बुद्धि उनको विलुप्तप्राय थी। स्नान करने का कोई होश ही नहीं था। शरीर पर मैल की तह जम गई थी। अंगुलियों के बड़े-बड़े नख, सिर के बढ़े हुये रुखे बाल को देखकर लगता था, प्राचीन युग का कोई तपस्वी है। शीघ्र ही उस क्षेत्र में उनकी ख्याति बढ़ गई और गुरुमूर्त्तम में भक्तों और दर्शनार्थियों की भीड़ जुटने लगी।

भक्तों ने देखा कि अब यहाँ रमण की तपस्या बड़ी तीव्र हो गई है। ध्यानावेश में ही अधिकांश समय कट जाता था, दिन-रात का कोई बोध नहीं था। प्राण रक्षा के निमित्त कुछ पेय पी लेते थे। कृच्छ्र साधना के कारण शरीर अत्यन्त दुर्बल और क्षीण हो गया। दूसरे की सहायता के बिना अपने से उठना बैठना भी संभव नहीं था।

आहार-संयम और मौनव्रत में रमण कठोर तो थे किन्तु उन्होंने इन सबको धर्माचरण का अंग कभी नहीं कहा। परवर्त्ती काल में इस संबंध में कहा करते थे, "मौन अवलम्बन का मेरा कोई संकल्प नहीं था। आहार के संबंध में इस देह को विशेष प्रयोजन नहीं था। इसलिए मेरा यह आहार संयम था। इसके अलावा, किसी से बातचीत करने की आवश्यकता यह देह अनुभव नहीं करती थी। इसलिए मौन अवलंबन किया था।"

मौनव्रत में कोई आनुष्ठानिक बात नहीं थी, फिर भी वे इस संयम पर कम जोर नहीं देते थे। इसका परिचय उस समय की एक घटना से मिलती है।

गुरुमूर्त्तम् के एक बगीचे में वे एकान्त में ध्यानस्थ बैठे थे। आसपास में इमली के अनेक वृक्ष थे। उस दिन इमली चुराने चोरों का एक दल बगीचे में घुसा। तरुण साधक बगीचे के एक कोने में ध्यानस्थ बैठे थे। चोरों में से एक बोला, "देखता हूँ, यह बालक साधु ढोंग करके मौनी बना बैठा है। यह बोलता है या नहीं—यह देखना होगा। इसकी आँखों में थोड़ा विष डाल दो कि यह अंधा हो जाय। विष की ज्वाला से इसके मुँह से आवाज निकलेगी ही।

ऐसा करना उनलोगों के लिए कठिन नहीं था। वे लोग तो कठिन से कठिन गर्हित कर सकते हैं। आश्चर्य की बात यह थी कि रमण निर्विकार भाव से बैठे रहे। इस संकट काल में उनके मुख से एक शब्द भी नहीं निकला।

चोरों ने अन्ततः क्या सोचा, कौन बतावे ? बाद में उनलोंगो ने बालकसाधु की ओर ध्यान देना छोड़ दिया। वे अपने काम में शीघ्रता पूर्वक लग गये।

इधर रमण नीरव, निष्पन्द, ध्यानस्थ थे। चोरों ने सभी पेड़ों को उजाड़ कर दिया। मानों कोई क्षति ही नहीं हुई। वैसे ही जैसे दोनों आँखें फोड़ देने में कुछ आताजाता नहीं। इसलिए इस सामान्य काम के लिए वे क्यों व्यस्त हों। या मौन भंग ही क्यों किया जाय।

रमण का मन सर्वथा अन्तर्मुखीन हो रहा था। ध्यान की गंभीरता में जितना ही गहरे में जा रहे थे, चलना-फिरना, बातचीत करना आदि वहिरंग जीवन के कार्यकलाप निरर्थक, निष्प्रयोजनीय हो रहे थे। इसीलिए उस दिन दोनों आँखे जाने की आशंका होने पर भी उनका मुख नहीं खुला। यह हर्ष की बात हुई कि उस दिन कोई दुर्घटना नहीं हुई। अपना दुष्कर्म जल्दी-जल्दी पूरा कर चोर बगान से निकल गये।

गुरुमूर्त्तम में रमण के एक और शिष्य आ जुटे। उनका नाम पलानी स्वामी था। वे मलयाली थे। उनकी निष्ठा असाधारण थी। विनायक विग्रह की सेवा में वे दिनरात मत्त रहते थे।

एक दिन उनके एक शुभाकांक्षी ने पुकार कर कहा, "अरे भाई, तुमने सारा जीवन इस पत्थर के स्वामी को लेकर काट दिया। उससे क्या लाभ हुआ? बल्कि जाओ गुरुमूर्त्तम में जहाँ जीवन्त स्वामी है। उसे देख आओ। पुराण वर्णित ध्रुव की तरह उसकी अद्भुत तपस्या है। मन-प्राण से उसकी ही तपस्या में लग जाओ, जीवन सफल हो जायगा।

बात अत्यन्त साधारण-सी थी किन्तु पलानी स्वामी मर्म विद्ध हो गये। बहुत दिनों से पाषाण मूर्त्ति की सेवा करते आ रहे थे। आज उनका मन जीवन्त विग्रह का आश्रय खोज रहा था। पुरातन लंगर जिससे वे बंधे थे आज टूट जाना चाहता था। वे उसी दिन तरुण साधक के पास जाने के लिए चल पड़े। दर्शन करने मात्र से उनके हृदय में एक अपूर्व भावतरंग उठ गयी। अन्तरात्मा से आवाज उठी, "अरे यही तो तेरा जीवन्त विनायक है।

इन किशोर साधक के चरणों में उन्होंने अपने को पूर्णत: समर्पित कर दिया। लगभग २१ वर्षों तक उनकी सेवा में पलानी स्वामी रहे।

सभी भक्त उनकी सेवा के लिए सतत उन्मुख रहते थे। किन्तु सेवा ग्रहण करने में रमण अत्यन्त सतर्क रहते थे। वैराग्य का जो कठोर रूप इन ज्ञान-तपस्वी में दिखाई पड़ता था, वही उनके शिष्यों में आत्म प्रकाश करता था।

शिष्य तम्बीरन भावुक, भक्त थे। रमण के प्रति उनकी श्रद्धा अपरिसीम थी। गुरुमूर्त्तम में रहते समय उन्होंने संकल्प लिया कि वे रोज शास्त्रानुसार गुरु की

पूजा करेंगे। इस पूजा में भोगराग, आरती प्रभृति पूजा के किसी भी अंग की त्रुटि नहीं होगी। तम्बीरन ने सभी वस्तुओं का प्रबंध कर लिया। किशोर साधक रमण के जीवन में यह नयी परीक्षा की घड़ी थी।

तम्बीरन की भावकल्पना और भक्ति का उच्छ्वास उन्हें आज गलत रास्ते पर ले जा रहा था। वे शुद्धा भक्ति के स्थान पर वाह्य उपचार को प्रमुखता दे रहे थे। इस भ्रम से उनकी रक्षा करना आवश्यक था। इसीलिए रमण सतर्क दृष्टि से सब कुछ देख रहे थे।

तम्बीरन गुरु के लिए भोगान्न लेकर आ रहे थे। मंदिर में प्रवेश करते ही उनकी दृष्टि दीवार पर पड़ी और वे चौंक पड़े। दीवार पर रमण ने कोयला से लिख दिया था कि इस देह के लिए केवल भोजन मात्र की आवश्यकता है।

तामिल भाषा में और कई वाक्य लिखे थे, जिनसे लेखक के संकल्प और दृढ़ चित्त का परिचय मिलता था। स्पष्टतः लिखा था कि देह धारण के लिए जितना कुछ सामान्य आहार आवश्यक है, उसके अलावा कुछ भी लेने को वे राजी नहीं हैं। इन वाक्यों को पढ़ते ही तम्बीरन का चैतन्य जागृत हो गया और उन्होंने रमण की पूजा करने का संकल्प त्याग दिया।

उन लिखे हुए वाक्यों से एक मूल्यवान तथ्य प्रकाशित होता था। प्रथम, भक्तों को ज्ञात हो गया कि रमण अच्छी तमिल भाषा लिखना जानते हैं। तब, क्या उनकी मातृभाषा तमिल है? अगर तमिल है तो उनका पूर्वाश्रम का घर कहाँ है?

भक्त वेंकटराम नयनार, उस दिन इस तथ्य को जानने के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठे। उन्होंने रमण से स्पष्ट शब्दों में कहा, "स्वामी, आपका परिचय मुझे आज जानना ही होगा। अन्यथा यहाँ से मैं एक पग भी नहीं टलूँगा। कोई मुझे भोजन भी नहीं करा सकेगा। यह मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है।"

नयनार बड़े ही सिद्ध भक्त थे। उनकी यह प्रतिज्ञा रमण को डिगा गयी। अपना परिचय ज्ञापित करते हुये अंग्रेजी अक्षर में लिख दिया "वेंकट रमण, तिरुचुझि।"

इस क्षीण परिचय-सूत्र को पकड़ कर रमण का पूरा समाचार लोगों को मालूम हुआ।

रमण के निकट दर्शनार्थियों की भीड़ बढ़ चली थी। स्थिति ऐसी हो गई कि भीड़ को नियंत्रित करने के लिए चारों ओर बाँस का मजबूत घेरा बना दिया गया।

भक्तों की चिन्ता बढ़ गई कि भीड़ को कैसे टाला जाय। स्वामी घोर तपस्या में लीन हैं। उनको किसी एकान्त स्थान में न ले जाने पर घोर विपत्ति होगी। भक्त नयनार ने प्रस्ताव किया क्यों नहीं उनके आश्रम के बागीचे में स्वामी को ले जाया जाय ? रमण ने स्वीकृति दे दी। तय हुआ कि नयनार के बगीचे में जो दो छोटे-छोटे कमरे हैं उसीमें स्वामी और उनके सेवक शिष्य पलानी स्वामी रहेंगे। माली को आदेश हुआ कि पलानी स्वामी के आदेश के बिना स्वामी से कोई आदमी भेंट नहीं कर सकेगा।

प्रायः छः महीने तक रमण उसी ग्राम के बगीचे में रहे। वह स्थान अत्यन्त एकान्त था। वहाँ एकान्त में साधन-भजन करने के अलावा शास्त्र पाठ करने का भी उपयुक्त अवसर मिला। आगे चलकर देश-विदेश के अनेकानेक मुमुक्षु उनसे मिलने आवेंगे, उस दिन के आचार्य-जीवन की तैयारी यहाँ शुरु हो गई।

पलानी स्वामी को ज्ञान की बड़ी चाह थी। वे उस एकान्त में धर्मशास्त्र और दर्शन के अनेक ग्रन्थ पढ़ते थे। उनमें से अधिकांश तमिल भाषा में थे। किन्तु इस भाषा का उन्हें वैसा ज्ञान नहीं था। इसलिए बड़े कष्ट से उन्हें ये सब ग्रंथ पढ़ने पड़ते थे।

पलानी स्वामी के कष्ट को देखकर रमण का मन आर्द्र हो उठता था। वे पलानी स्वामी की सहायता के लिये अग्रसर हुये। यद्यपि उन्हें स्वयं कभी शास्त्र अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं हुई। वे तमिल के उन ग्रंथों को पढ़कर पलानी स्वामी को सुनाते और अपनी साधनोज्ज्वल बुद्धि के बल से उनकी सहज व्याख्या भी करते चलते।

इधर रमण की खबर उनके स्वजन-परिजनों तक पहुँच गयी थी। इस बीच उनके बड़े चाचा, सुबैया की मृत्यु हो गयी थी। छोटे चाचा नेलियाप्पियार खबर पाते ही तिरुवन्नामलै आ पहुँचे। नयनार के बागीचे में जाकर वेंकट रमण का रूप देखते ही चकित रह गये। कृच्छ्रव्रती, मौनी रमण के शरीर पर एक मात्र कोपीन था, सरके बाल जटा बन गये थे। पत्थर की मूर्त्ति की तरह वे निष्पन्द बैठे थे। उनकी दृष्टि आसपास की चीजों पर नहीं थी। बल्कि किसी अज्ञात दुर्ज्ञेय लोक में केन्द्रित हो गयी थी।

नेलियाप्पियार वकील थे किन्तु अपने इस मौनी भतीजे के सामने उनकी समस्त तर्क बुद्धि विलुप्त हो गयी। उन्होंने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि उनके वेंकट रमण की जीवन धारा बिलकुल ही बदल गयी है और उसे घर लौटा ले

जाना संभव नहीं है। घर लौटकर उन्होंने सारी बात रमण की माँ को समझाकर कहा।

अब रमण ने नयनार के बागीचे को छोड़ दिया। उन्हें चिरकाल तक दूसरों की सेवा लेने में वितृष्णा थी। उन्होंने निश्चय किया, वे स्वयं द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँग कर आहार संग्रह करेंगे। अपने शिष्य पलानी स्वामी को कह दिया कि अब दोनों का साथ रहना संभव नहीं होगा। भिक्षा संग्रह भी दोनों अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल इधर-उधर घूमकर करेंगे।

यह कैसी निष्ठुर बात हुई! शिष्य पलानी स्वामी के लिए तो सिर पर आकाश ही फट पड़ा। इस तरुण तपस्वी में उन्होने अपना एकमात्र आश्रय ढूढ़ लिया था। अब वे क्या करें?

सारा दिन इधर-उधर घूमने के बाद रात में पलानी स्वामी रमण के निकट लौट आये। आँखों से निरन्तर आँसू बह रहे थे।

भक्त की रुलाई देखकर रमण को अपना संकल्प शिथिल करना पड़ा। पलानी स्वामी पूर्ववत रमण के साथ रहने लगे, किन्तु रमण अपने भिक्षाव्रत पर अटल रहे।

उनकी भिक्षा माँगने की रीति भी निराली थी। गृहस्थ के द्वार पर जाकर खड़े हो जाते। सर्वदा मौन रहने के कारण मुँह से कुछ बोलते नहीं थे। ताली बजाकर घरवालों का ध्यान आकृष्ट करते थे। भिक्षा अपनी अँजुरी में लेते। कितना भी अनुनय-विनय कोई क्यों न करे, वे घर के अन्दर कभी न जाते। रास्ते में ही खड़े-खड़े भिक्षान्न मुँह में डालते थे। फिर झटपट आकर अपने आसन पर बैठ जाते थे।

अपने पुत्र की खबर सुनकर माता आलागम्माल का चित्त स्थिर नहीं रहा। पुत्र को घर लौटाने के उद्देश्य से वह पागल की तरह तिरुवन्नामलै चली आईं। उस समय रमण अरूणाचल के बगल में ही पहाड़ी की चोटी पावाझाकून्रु पर साधन-आसन डालकर बैठे थे। साधुवेशी अपने पुत्र को पहचानने में उन्हें लेश-मात्र भी विलम्ब नहीं हुआ, और शुरू हो गया उनका रोना-धोना। वे बार-बार कहती थीं, इस प्रकार के कठोर साधु जीवन से उनका क्या प्रयोजन? इस कोमल देह से इतना कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता? अपना प्राण रहते हुए, वे अपने नयन-मणि पुत्र को वहाँ छोड़कर घर नहीं जायँगी। किन्तु माँ व्यर्थ ही आँसू बहा रही थी। माँ की बातों की ओर रमण का किंचित भी ध्यान नहीं था। वे निर्विकार, प्रस्तर-मूर्त्ति की तरह निश्चल थे। माँ का अश्रुवर्षण उनकी

प्रशान्ति और मौन भंग नहीं कर सका। किन्तु माता भी अपने पुत्र को सहज ही छोड़नेवाली नहीं थी। दिन-पर-दिन पुत्र को समझाती। नाना प्रकार के रूचिकर भोजन बनाकर पुत्र को खिलाती। किन्तु रमण पूर्ववत निर्विकार रहे।

कई दिन बाद की बात है, माँ के धैर्य का बाँध टूट गया — पुत्र का यह कैसा भाव ? क्षोभ और दुःख से विह्वल होकर रमण के भक्तों से कहने लगीं, क्या तुम लोग में से कोई भी मेरी सहायता नहीं करेगा ? क्या मेरे आँचल के धन को घर ले जाने नहीं दोगे ?

माँ का रोना बड़ा मर्म-स्पर्शी था। अनेक भक्तों का हृदय पिघल गया। वे रमण से अनुनय-विनय पूर्वक कहने लगे, "माँ इतना रो रही हैं, इतना अनुरोध कर रही हैं। 'हाँ' या 'न' कोई उत्तर तो उन्हें देना चाहिए। यह रहा कागज–पेन्सिल। अपना विचार तो माँ के लिए स्पष्ट कर दीजिए।" उन्होंने जो कुछ लिख कर दिया, वह किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं था। उन्होंने लिखा था, "जीव के भाग्य, प्रारब्ध या संचित कर्म-फल का नियंत्रण विश्व नियंता भगवान करते हैं। जो होनेवाला नहीं है, कितना कुछ करने पर भी नहीं होगा और जो होनेवाला है वह किसी भी प्रयास से रुकनेवाला नहीं है। यह सर्वथा निश्चित है। इसलिए सबसे अच्छा है मौन—रहना।"

वे घर लौटेंगे या नहीं—इस संबंध में 'हाँ' या 'न' का कोई उल्लेख नहीं था।

माँ आलागम्माल और भाई नागस्वामी ने समझ लिया कि उनका वेंकट रमण बिल्कुल बदला हुआ मनुष्य है। उसको घर लौटाना संभव नहीं है। दुःखी मन से दोनों घर वापस चले आये।

तिरुवन्नामलै आये कोई ढ़ाई वर्ष हो गये थे। इन ढ़ाई वर्षों में रमण का जीवन विशिष्ट रूप से गठित हो गया था। कृच्छ्र-व्रत, त्याग-निष्ठा और ध्यान-धारणा में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत हुआ था। वे धीरे-धीरे ध्यान की गंभीरता में, आत्मा की गंभीरता के अतल-तल में डूबते चले गये थे। कभी किसी पेड़ के नीचे, कभी मंदिर के किसी एकान्त कोने में उनकी निगूढ़ साधना चलती।

इन दिनों की दशा के प्रसंग में वे परवर्त्तीकाल में भक्तों से कहा करते, "दिन और रात की खबर यह (देह) नहीं रखता था। किसी-किसी दिन भावावेश होने पर आँख मल कर देखता —सुबह हुई है। किसी दिन दिखाई पड़ता –संध्या हो रही है। सूर्योदय कब हुआ, कब सूर्यास्त हो रहा है, इन बातों की खबर रखने की अवस्था इसकी (इस देह की) नहीं थी।"

इस कठोर साधना का फल भी शीघ्र प्राप्त हुआ। रमण का आध्यात्मिक रूपान्तर हो गया और सिद्धि मिली। उन्होंने कृच्छ्र-साधना और निभृत तपस्या को छोड़ दिया और जीवन के प्रकाशित राजपथ पर आ खड़े हुये। लोगों से संपर्क रखने की इच्छा नहीं रही। दर्शनार्थियों और भक्तों के सामने घंटों बैठे रहने का अभ्यास हो गया था। अनशन अथवा अर्ध अनशन का झोंक इन दिनों नहीं रहा। वे नियमित रूप से आहार करते थे। तपस्या-युग के बाद प्रारंभ हुआ उनका आचार्य-जीवन।

माँ के चले जाने के कुछ दिनों बाद उन्होंने अरुणाचल पहाड़ के एक कोने में आश्रय लिया। इस पवित्र पर्वत में स्थान-स्थान पर साधन गुहाएँ थी। समय-समय पर इन गुहाओं में रहा करते थे। उनके साथ उनकी भक्त-मंडली रहती थी।

देवतात्मा अरुणाचल! इनकी महिमा अनिर्वचनीय है। अलक्ष्य ही इनकी मौन आशीर्वाणी युग-युग से लोगों को प्राप्त होती रही है। भक्त साधकों क जीवन में परम कल्याण हुआ था।

आचार्य शंकर ने मेरू पर्वत कह कर अरुणाचल की व्याख्या की थी। स्कन्द पुराण में इसका वर्णन शिव के हृदय-स्थल के रुप में आया है। अनेक ब्रह्मज्ञ साधकों और शैव-साधकों की तपस्या से यह पर्वत पवित्र हुआ था। परवर्त्तीकाल में महर्षि रमण अरुणाचल के संबंध में भक्तों को बताते थे, "युग-युगान्तर से परंपरा है कि इसकी गुफाओं में सिद्धगण रहते थे और आज भी रहते हैं।"

दक्षिण के पुराण में अरुणाचल की महिमा का अनेक वर्णन आया है। साधकों के कल्याणार्थ स्वयं महेश्वर यहाँ अवतीर्ण हुये थे। उनका ज्योतिर्मय लिंग स्तंभ के रूप में प्रकट हुआ है। यह ज्योति-स्तंभ आदि अंतहीन है। इसके ओर-छोर का पता लगाने में ब्रह्मा, विष्णु दोनों ही असमर्थ रहे। इस ज्योति-स्तंभ की उज्ज्वल आलोक छटा को देखने से आँखे चौंधिया जाय, देव या दानव कोई इसकी ओर दृष्टिपात नहीं कर सके। अंत में महेश्वर की करुणा जगी और उन्होंने अरुणाचल के आकार का नयन ग्राह्यरूप धारण किया।

"महेश्वर ने कहा, इस महातीर्थ में अपने भजनकर्त्ता साधकों और सिद्धों की सुविधा के लिए मैंने यह आकार धारण किया है। यह अरुणाचल नश्वर संसार में प्रणव स्वरूप है। प्रत्येक कार्तिक उत्सव में मैं पराशांति के उत्स-रूप में इस पर्वत के शिखर पर आविर्भूत होऊँगा।"

अद्वैतवादी साधकों के लिए यह पवित्र पर्वत प्रिय तीर्थ है। शैवाचार्यों के साधनस्थल के रूप में भी इस पर्वत की प्रसिद्धि है। आत्मज्ञानी महासाधक रमण ने अपने ध्यानवन अरुणाचल की प्रशस्ति में गाया है :—

"हे प्रभु ! अपनी महा सत्ता में मिला लो, नहीं तो अपनी अश्रु-नदी में मैं डूब मरूँगा और उसी जल धारा में यह शरीर गल जायगा।"

१८९५ साल का पूवार्ध भाग था। अरुणाचल की विरूपाक्ष गुफा में रमण ने अपना आसनविछा लिया था। प्रणव अक्षर के आकार की यह गुफा है। इसकी महत्ता भी कुछ कम नहीं है। तेरहवीं सदी के सिद्ध साधक विरूपाक्ष देव का देहावशेष यहाँ सुरक्षित है। इसलिए सिद्ध साधकगण इस गुफा को परम पवित्र मानते हैं।

ऐसी बात नहीं कि यहाँ केवल शिवरात्रि या कार्तिक उत्सव के अवसर पर ही भीड़ होती थी। बल्कि पूरे वर्ष भर इस गुफा में तरुण स्वामी के दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती थी।

यह गुफा स्थानीय विरूपाक्ष मंदिर के संचालनाधीन थी। विशेष-विशेष उत्सव के दिन वहाँ लोगों की भीड़ हो जाती थी। किशोर तपस्वी को देखने के लिए भी दल के दल लोग आते थे। मठ के संचालकगण ने सोचा, आमदनी बढ़ाने का अच्छा अवसर है। इस अवसर को छोड़ना नहीं चाहिए। उनलोगों ने दर्शनार्थियों पर दर्शनी टिकट लगा दिया।

रमण को इस बात की जानकारी हुई। गरीब लोगों पर अत्याचार उनके लिए असह्य हो गया। प्रतिवाद में वे तत्काल गुफा से निकल आये। इसबार मठाध्यक्ष को बोध हुआ। उन्होंने देखा कि तरुण स्वामी के स्थान त्याग करने से दर्शनार्थियों की संख्या कम हो गई है। उन्होंने तत्काल दर्शनी टिकट की प्रथा उठा दी और रमण को वापस लौटा लाये।

दर्शनार्थी और भक्तगण जो फल-मूल और दूध का चढ़ावा चढ़ाते, वही रमण और उनके सेवक भक्तों का आहार था। जिस दिन जितना चढ़ावा आता, उसे बराबर-बराबर भाग करके वे लोग खाते।

भक्तों का आगमन प्रतिदिन समान संख्या में नहीं होता। कमलोग आने पर भेंट चढ़ावा भी कम ही आता। दूसरे, इधर गुहा स्थित आश्रम में रहने वालों की संख्या बढ़ गई थी।

इतने लोगों की आहार की व्यवस्था करना कम दायित्वपूर्ण नहीं था। इसलिए पलानी स्वामी आदि लोग भिक्षार्थ पहाड़ के नीचे उतर आते थे। शंख बजा-बजा कर शहर में अन्न संग्रह करते थे।

एक भक्त ने एक दिन रमण से अनुरोध किया कि शहर में भिक्षा माँगने के लिए वे एक भक्ति-संगीत बना दें। रमण राजी हो गये और उनके प्रसिद्ध प्रार्थना संगीत, अक्षर-मन मलाई की उस दिन रचना हुई। इसमें प्रभु अरुणाचलेश्वर के चरणों में प्राणों का निवेदन था। भाव कल्पना और भक्तिरस की दृष्टि से रचना अपूर्व है।

अरुणाचल का एक इशारा बालक रमण को घर से बाहर खींच लाया। उन्हीं अरुणाचल की गोद में रमण की किशोरावस्था और युवावस्था की वैराग्यमय तपस्या चलती थी।

मौनी महाशिव दक्षिणामूर्त्ति का ही एक तेजोमय रूप है अरुणाचल। साधक रमण की दृष्टि में यह रूप उत्तरोत्तर उद्भासित होता रहा था। इसलिए इस पर्वत की परिक्रमा को वे एक व्रत मानते थे। परवर्त्ती दिनों में वे इस परिक्रमा संबंधी एक अलौकिक कहानी कहते थे :

एक बूढ़े भक्त अरुणाचल की परिक्रमा करने आये थे। किन्तु वे दोनों पाँवों से लंगड़े थे। वे लाठी के सहारे समतल रास्ते से किसी तरह चलते थे। पंगु होने के कारण उन्हें अनेक कष्ट था। एक दिन उन्होंने तय किया कि परिक्रमा शेष होने पर वे चिरकाल के लिए घर छोड़ कर चले जायँगे। घर वालों पर बोझ बनकर रहना ठीक नहीं है।

राह चलते-चलते उनके सम्मुख एक ब्राह्मण आया। सुन्दर, सुगठित शरीर था उसका। शरीर से दिव्य कांति प्रस्फुटित हो रही थी। नजदीक आकर वह ब्राह्मण एक अद्भुत आचरण कर बैठा। उसने बेचारे पंगु भक्त के हाथ की लाठी को लेकर फेंक दिया और बोला, "अरे भाई यह सब फेंक दो। इसकी तो तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है।" पंगु बेचारा चकित रह गया। किसी दुर्ज्ञेय जादूगरी से देखते-देखते, उसके दोनों पाँव स्वस्थ हो गये। किसी ने उसके अंतर में कहा—अरुणाचल की कृपा से तुम्हारा लंगड़ापन छूट गया और दैहिक कष्ट से तुम्हें मुक्ति मिली। वह सदा के लिए तिरुवन्नामलै में ही रह गया।

प्राचीन पुराण-गाथा में अरुणाचल के अधिष्ठाता रूप में अरुण गिरि नामक योगी का उल्लेख आया है। ये पर्वत पर एक विशाल वट वृक्ष के नीचे सूक्ष्म देह से आज भी ध्यानस्थ बैठे हैं। युग-युगान्तर से इनकी मौन दीक्षा अरुणाचल के साधकों को प्राप्त होती रही है और उनलोगों के आत्मज्ञान की साधना पूरी होती है। पुराण, शास्त्र और जनश्रुति में यह बात चिरकाल से प्रचारित है।

साधक रमण के जीवन में भी यह कहानी वस्तुतः सत्य सिद्ध हुई। महायोगी अरुण गिरि की करुणा धारा से वे अविभूत हुये।

१९०६ ई० सन् की बात है।[1] रमण महर्षि एक दिन पहाड़ पर घूम-फिर कर रहे थे। हठात् उन्होंने देखा कि निकट ही बट-वृक्ष का एक बहुत बड़ा पत्ता पड़ा हुआ है। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। यह क्या अद्भुत कांड है? अरुणाचल पर तो कहीं बट-वृक्ष नहीं है। तब फिर यह पत्ता कहाँ से आया?

कुतूहलवश वे आगे बढ़े। रास्ता दुर्गम और कंटकाकीर्ण था। कुछ दूर जाने पर जो कुछ देखा, उससे वे अत्यन्त चकित हो गये। सचमुच थोड़ी दूर जाने पर एक विशाल बट-वृक्ष है। आश्चर्य की बात यह भी थी कि वह वट-वृक्ष एक चट्टान पर उगा था। ऐसी जगह पर वनस्पति का कैसे आविर्भाव हुआ? यह कैसा रहस्य है? वृक्ष को लक्ष्य करके रमण आग्रह पूर्वक आगे बढ़े। किन्तु कुछ ही दूर जाने पर रुक जाना पड़ा। पता नहीं, कहाँ से एक झोंक लाल चींटे उनके पाँव से लिपट गये और काटने लगे। किसी पत्थर की ओट में उन कीटों का भीटा था जिस पर उनका पाँव पड़ गया था। मन ही मन वे समझ गये कि अरुणाचलेश्वर की इच्छा नहीं है कि कोई उस अलौकिक वट-वृक्ष के निकट जाये।

वे लौट आये और अपने भक्तों को विस्तार से यह कहानी सुनाई। सुनते ही अनेक भक्त उस वृक्ष को देखने के लिए उत्सुक हो उठे। किन्तु अनेक चेष्टा करने पर भी उनलोगों को उस बट-वृक्ष का पता नहीं चला। जिस तरह बट-वृक्ष हठात् आविर्भूत हुआ था, वैसे ही अन्तर्धान भी हो गया।

क्या महायोगी अरुण गिरि ही उस अलौकिक वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुये थे? क्या वे रमण को मौन-दीक्षा दे गये?

अरुणाचल की परिक्रमा के लिए रमण का बड़ा आग्रह रहता था।

टेढ़ा-मेढ़ा निर्जन रास्ता पहाड़ के किनारे-किनारे चला गया था। प्रायः ही वे हाथ में लाठी लेकर आनंदपूर्वक इस रास्ते पर चला करते थे। पहाड़ की सभी गुफाओं, शिखर और पत्थर के ठोकों से उन्हें बड़ी आत्मीयता थी।

एक दिन रमण पहाड़ी रास्ते से चल रहे थे। चारों ओर वन-जंगल था। सड़क के किनारे खड़ा होकर उन्होंने देखा, निकट ही एक बूढ़ी स्त्री सूखी लकड़ियाँ बटोर रही थी। शरीर पर फटी-चिटी, मैली साड़ी थी। जिसको लोग नीच जाति कहते हैं, वैसी किसी जाति की वह स्त्री प्रतीत होती थी। जैसे ही

---

१. महर्षि रमण : आसबोर्न

रमण उसके निकट पहुँचे, वह जोर-जोर से उन्हें गाली देने लगी। प्रसिद्ध महात्मा होने से क्या होता है ? वह स्त्री उन्हें अपनी ही जाति का आदमी समझकर गाली देती गई। इस आचरण में उसे किसी प्रकार का भय या संकोच नहीं था। गाली देने के बाद उसने जो दो-चार बातें कही, उसे सुनकर रमण हतवाक् रह गये।

उन्हें धमकाते हुये उस स्त्री ने कहा, "क्यों रे, क्या यम तुम्हें छूता नहीं है ? श्मशान में जाकर जल-मर नहीं सकते हो ? बोलो तो, इस धूप में तुम क्यों घूमते-फिरते हो ? क्या तुम किसी एक जगह बैठ नहीं सकते हो ?"

यह कौन रहस्यमयी बूढ़ी स्त्री है ? परम हितैषिणी का अधिकार लेकर वह गालियाँ दे रही थी। वह तपस्वी रमण को अधिक घूमने-फिरने से वर्जित कर रही थी। सर्वजन श्रद्धेय महापुरुष को कड़ी बात कहने में उसे तनिक भी संकोच नहीं हुआ। यह बहुत ही अद्भुत आचरण था।

रमण के मुख से यह घटना सुनकर भक्तों को बड़ा कुतूहल हुआ। वे लोग बार-बार पूछने लगे, वह स्त्री कौन थी ? रमण ने कहा, "वे साधारण स्त्री नहीं थीं। परन्तु वह कौन थीं, कौन बतावे। किन्तु भक्तों ने मान लिया कि यह अरुणाचलेश्वर की ही कोई लीला थी। आश्चर्य की बात तो यह रही कि इस घटना के बाद महर्षि रमण ने पहाड़ पर जाने का अभ्यास छोड़ दिया। उस वृद्धा की बात को उन्होंने अरुणाचलेश्वर की कल्याणमय वाणी के रूप में लिया।

बचपन में मृत्यु की अनुभूति ने एक दिन रमण के जीवन में अध्यात्म साधना का द्वारा खोल दिया। वैसी अनुभूति उनके जीवन में और भी कई बार हुई और उनकी आत्म-सत्ता के गंभीरतर स्तर पर उनकी समग्र चेतना को पहुँचा दिया था।

१९१८ साल की बात है। स्निग्ध प्रभात-वेला थी। रमण अपने कई भक्तों के साथ पाचायम्मान कयेंल नामक स्थान से अपनी गुफा की ओर लौट रहे थे। हठात् किसी अज्ञात कारणवश उनका सारा शरीर शिथिल, अवसन्न हो गया। रमण कहते हैं :—

"बाह्य जगत का सारा दृश्य लुप्त हो गया। आँखों के आगे एक पर्दा आ गया। उससे मेरी दृष्टि अवरुद्ध हो गयी। बात क्रमशः आगे बढ़ रही थी, यह मैं अच्छी तरह देख रहा था। यह पर्दा आगे चलकर सामने के दृश्य को कुछ-कुछ ढँक दिया। मैं थमक गया। ठोकर खाकर मैं गिर पड़ूँगा—यह विचार

कर मैं खड़ा हो गया। इस प्रकार वह तरंग चली गयी। मैं फिर आगेबढ़ने लगा। तत्पश्चात मेरी आँखों के आगे घना अंधकार छा गया। वाह्य-ज्ञान धीरे-धीरे जाने लगा। यह अवस्था कटे, उसके पहले ही एक प्रस्तर-खंड का सहारा लेकर मैं बैठ गया।

"अब तीसरी बार चेतना अवलुप्त होने लगी। पत्थर के किनारे मैं बैठ गया। उस सादे पर्दे ने मेरे दृष्टि-पथ को पूरी तरह ढ़ंक दिया। उस समय मेरी श्वास क्रिया और शरीर का रक्त संचालन भी रुद्ध हो गया। शरीर का रंग हो गया कृष्ण-नील। मेरे साथी वासुदेव शास्त्री ने समझा कि मैं अब बचूँगा नहीं। दोनों हाथों से मुझे पकड़ कर वे रोने लगे।

"किन्तु इस अवस्था में मेरी चेतना की धारा अखंडित थी। देह की अवस्था देख कर मुझे किंचित् भी भय या दुःख नहीं हुआ।

मैं अपना अभ्यस्त आसन मार कर बैठ गया। प्रस्तर खंड पर टिक कर बैठने की आवश्यकता नहीं हुई। रक्त-स्रोत और श्वास-प्रश्वास रूद्ध था। आसन में बैठे थे किन्तु शरीर को कोई असुविधा नहीं थी।

"इस हालत में करीब पन्द्रह मिनट कट गया। उसके बाद सारे शरीर में तीव्र कंपन की अनुभूति हुई। साथ ही जोरों से रक्त-संचालन और श्वास क्रिया चलने लगी। प्रत्येक रोमकूप से खूब पसीना निकलने लगा। उसके बाद शरीर का रंग भी स्वाभाविक हो गया। एक साथ ही रक्त-संचालन और श्वास का अवरोध होने की अनुभूति मेरी देह में प्रथम वार ही हुई थी।"

इस अनुभूति का वास्तविक तात्पर्य समझना सहज नहीं है, किन्तु संदेह नहीं कि रमण के जीवन पर इसकी गहरी प्रतिक्रिया हुई। मृत्यु की इस अनुभूति को लेकर भक्त-मंडली में तरह-तरह का अनुमान लगाया जाने लगा। किन्तु उनके तर्क-वितर्क को बंद करते हुये रमण ने कहा, "देखो, यह अनुभूति मेरी इच्छा से नहीं हुई है। मृत्यु होने पर इस देह की क्या अवस्था होती है, यह जानने के लिए भी मैंने प्रयास नहीं किया था। ऐसी अनुभूति मुझे पहले भी बीच-बीच में होती रही है। किन्तु इस बार की अनुभूति की तीव्रता और गंभीरता पहले से अधिक, बहुत अधिक थी।"

तत्पश्चात् रमण के जीवन में परम सत्ता का प्रकाश प्रज्वलित हो उठा। आत्मज्ञान की साधना में सिद्ध-काम हो गये। धीरे-धीरे मुक्तिकामी साधकों का एक दल इन महापुरुष के चरण-प्रान्तर में आ जुटा। इनलोगों के प्रति कृपा-

वर्षण करने के क्रम में महर्षि रमण के परवर्त्ती जीवन-काल में उनकी अनेक लीलाएँ प्रकट हुईं।

इन भाग्यवान साधकों में शेषैया अन्यतम थे। उनकी ज्ञान-पिपासा दूर करने के लिए महर्षि को अनेक तत्त्वोपदेश देना पड़ा। उन्हीं दिनों आचार्य शंकर के 'विवेक चूड़ामणि' के कुछ अंशों का उन्होंने तामिल में अनुवाद किया था।

शिव प्रकाशम पिल्लई एक निरभिमान, पवित्रचेता साधक थे। उनके जीवन में एक जटिल समस्या आ गयी। उनकी स्त्री हठात् मर गयीं। उन्हें बराबर संन्यास लेने का झोंक चढ़ता था। किन्तु स्त्री के मरणोपरान्त वे निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि संन्यास लें या पुनः विवाह कर घर-संसार बसावें और धर्म-कर्म एक साथ चलावें। इसलिए वे महर्षि के निकट दौड़े आये। कई दिन बीत गये; किन्तु अपना प्रश्न महर्षि को सुनाने का उन्हें सुयोग ही नहीं मिल रहा था।

एक दिन पिल्लई स्वयं ही निर्णय कर बैठे कि उन्हें पुनः विवाह करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। जब संसार बंधन टूट ही गया है तो उसे पुनः बाँधने की क्या आवश्यकता है। स्वयं महर्षि का जीवन ही दृष्टान्तरूप से उनके सामने था।

उन्होंने निश्चय कर लिया कि देर करने की आवश्यकता नहीं, शीघ्र अपने गाँव लौट जाना चाहिए। उस दिन पिल्लई अन्यान्य भक्तों के साथ रमण महर्षि के सामने बैठे थे। अचानक उन्हें एक अलौकिक दृश्य दिखाई पड़ा। उन्होंने देखा, महर्षि के मुख-मंडल के चतुर्दिक एक ज्योति-छटा विकीर्ण हो रही है। यह दृश्य देखकर तो वे अवाक् रह गये। महर्षि के शिरोदेश से एक स्वर्णकांति शिशु निकलता है और पुनः भीतर प्रवेश कर जाता है। पिल्लई ने यह दृश्य दो-तीन बार देखा।

यह अलौकिक दर्शन क्यों? इसका तात्पर्य क्या? पिल्लई कुछ नहीं समझ पाये। लेकिन शक्तिधर महापुरुष के आश्रम में हैं और उनकी सभी समस्याएँ उनके ऊपर ही है। तब फिर यह दुश्चिन्ता क्यों? उनके जैसा सौभाग्य कितने लोगों का है? वे भावावेश में अधीर होकर रोने लगे।

पिल्लई ने और भी दो दिन रमण स्वामी की दिव्य मूर्त्ति का दर्शन किया। एक दिन देखा भस्मावृत्त एक संन्यासी का कृपाधन रूप। एक अन्य दिन उन्हें देखा रजतगिरि सदृश देवमूर्त्ति के रूप में। इन दिव्य दर्शनों के पश्चात् पिल्लई

की जीवनधारा ही परिवर्त्तित हो गई। त्याग-तितिक्षा और ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर वे साधना पथ पर अग्रसर हुये।

लक्ष्मीमियाम्मल नामक एक महिला महर्षि की पुरानी शिष्या थीं। सब लोग उसे एचाम्मल कहकर सम्बोधित करते थे। वह सुखपूर्वक अपना घर-संसार चलाती थी। अचानक दुर्दैव का आघात आया। एक-एक कर पति, पुत्र, कन्या सब मर गये। दुःख में होश-हवाश खो बैठी। अनेक तीर्थों का भ्रमण किया किन्तु दुःख की ज्वाला शांत नहीं हुई। अन्ततः अरुणाचल आयी महर्षि का दर्शन करने। कल्याणरूप महर्षि के सम्मुख आकर खड़ी हो गई। महर्षि की आँखों से अपार स्नेह और करुणा की ज्योति धारा फूट पड़ी। अद्भुत उनकी शक्ति थी। उनकी आँखों की ओर देखते ही दुःखिता एचाम्मल का सारा शोक अन्तर्हित हो गया। उसने रमण महर्षि की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया।

महर्षि की सेवा करने में उसे असीम उत्साह था। प्रतिदिन वह नाना प्रकार की भोज्य सामग्री तैयार कर पहाड़ पर ले आती थी। महर्षि को भोजन कराना उसका दैनिक व्रत था। किन्तु वे तो अकेले कुछ खाते नहीं थे। भक्त, अभ्यागत सभी के साथ बैठकर खाते थे। इसलिए एचाम्मल सब के लिए भोजन तैयार कर लाती थी। बहुत दिनों तक उसने इस दायित्व का निर्वाह किया।

महर्षि की अनुमति लेकर वह महिला एक लड़की का प्रतिपालन करती थी। खूब धूमधाम से उसका विवाह भी कर दिया। किन्तु दुर्भाग्यवश इस पालिता कन्या की भी मृत्यु हो गयी। इसकी खबर एचाम्मल को मिली।

महर्षि के सिवा उसका दूसरा कौन आश्रय था! रोते-रोते वह आश्रम आयी और महर्षि को उस दुःसंवाद का पत्र दिया। करुणा से महर्षि की आँखें भींग गयी। पालिता कन्या का पुत्र एचाम्मल के घर में ही रहता था। उसे महर्षि की गोद में रखकर वह अभागिन महिला रोने लगी। महर्षि भी रोने लगे। उनकी आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। सर्वत्यागी, आत्मज्ञानी महापुरुष ने उस दुःखिनी का सारा शोक हर लिया।

एक-एक कर स्वामी, पुत्र, कन्या आदि सबको खोकर एचाम्मल पागल हो रही थी। किन्तु महर्षि की स्नेह-छाया में सब शोक-दुःख सह्य हो गया। किन्तु पालिता कन्या की मृत्यु का शोक उसे विशेष रूप से मथित कर रहा था। इसलिए करुणाघन गुरु ने शिष्या की अश्रुधारा में अपने आँसू मिलाकर उसका सारा शोक-संताप मिटा दिया।

शक्तिधर महापुरुष के स्पर्श से एचाम्मल शांत और अन्तर्मुखी हो गयी ।

इस घटना में सब लोगों के सामने महर्षि का मानवीय रूप प्रकट हुआ ।

भोजन लेकर एचाम्मल प्रतिदिन विरुपाक्ष गुहा में जाती थी । एक दिन वह पहाड़ पर चढ़ रही थी कि हठात् देखा पहाड़ के पदतल में, रास्ते के किनारे महर्षि किसी अपरिचित व्यक्ति से धीरे-धीरे बात कर रहे हैं । उस बातचीत में व्याघात नहीं पहुँचाने के विचार से एचाम्मल कुछ नहीं बोली और एक किनारे से ऊपर जाने लगी । महर्षि ने हँसते हुये उसे पुकार कर कहा, "अच्छा बताओ तो इतना कष्ट सहकर क्यों ऊपर जाती हो ? मैं तो यहीं नीचे हूं ।"

एचाम्मल किंचित थमक गई, किन्तु कुछ बोली नहीं, आगे बढ़ गयी । क्योंकि महर्षि अभी भी उस अपरिचित व्यक्ति से बात कर रहे थे । दूसरे उसे काम भी बहुत करना था । गुफा में जाकर सबके भोजन की व्यवस्था करनी थी ।

किन्तु गुफा में प्रवेश करते ही वह विस्मित-चकित रह गयी । देखा, उत्तर भारत के एक दर्शनार्थी पंडित के साथ महर्षि प्रशान्त भाव से बातचीत कर रहे हैं । यह कैसा आश्चर्य है ? अभी तो उसने नीचे महर्षि को किसी व्यक्ति से बात करते देखा था । वह बेचारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गयी, शरीर थर-थर काँपने लगा ।

रमण ने स्मित हास्य से पूछा, "क्यों री, आज तुम्हारा ऐसा भाव क्यों है ? क्या हुआ है, साफ-साफ क्यों नहीं कहती हो ?"

एचाम्मल ने कंपित कंठ से कहा, "भगवान, आपको अभी नीचे देख आयी हूं । एक सज्जन से खड़े-खड़े बात कर रहे थे । मैं निकट से ही यहाँ चली आई हूं । देखने में मुझसे रत्ती भर भी भूल नहीं हुई है । तो, यह कैसी अविश्वसनीय बात है ! आप क्या दो स्थानों पर एक साथ रहते हैं ?"

अभ्यागत पंडित ने अनुयोगपूर्वक कहा, "महर्षि, यहाँ आप इतनी देर से, इस गुफा में मुझसे बात करते रहे हैं, किन्तु इसी समय इस शिष्या को पहाड़ के नीचे दिखाई पड़े । मुझ पर कुछ कृपा कीजिए ।"

महर्षि कुशलतापूर्वक बात को टाल गये । बोले, "यह एचाम्मल दिन-रात मेरे बारे में बात करती रहती है । मेरा ही ध्यान करती है । इसलिए उसने देखा है ।"

एकबार एक यूरोपियन दर्शनार्थी महर्षि के आश्रम में आया । भोजन और विश्राम के पश्चात् वह पहाड़ी रास्ते से भ्रमणार्थ बाहर गया । इस विख्यात

पवित्र पर्वत पर जो कुछ दर्शनीय है, वह सब देख लेना चाहता था। बहुत देर तक घूमने के बाद वह रास्ता खो गया। आश्रम में लौटने का कोई उपाय नहीं रहा। धूप बड़ी तेज थी। थकावट से वह अवसन्न हो रहा था।

इधर उसके नहीं लौटने से आश्रम के लोग अलग चिन्तित थे। नया आदमी है, पता नहीं कहाँ रास्ता खो बैठा!

लौटने पर उस यूरोपियन ने एक अद्भुत कहानी सुनायी। कहने लगा, "रास्ता भूल जाने पर समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ। इतने में देखा कि रमण महर्षि मेरे साथ-साथ कहीं जा रहे हैं। उन्होंने ही आगे बढ़ कर रास्ता बता दिया। इसलिए लौट पाया हूँ।"

शिष्य लोग एक-दूसरे को देखने लगे। सब लोग जानते थे कि महर्षि सुबह से ही शिष्यों से घिरे आश्रम में ही बैठे हुए हैं। एक क्षण के लिए भी तो बाहर नहीं निकले हैं।

किन्तु ज्ञान-तपस्वी महर्षि रमण अपने शिष्यों को अलौकिक घटनाओं या दर्शनादि के प्रति उत्सुक रहने से रोकते थे। उनका आदर्श था आत्मानुसंधान और आत्म ज्ञान। उसी ओर उनके शिष्यगण अपनी साधना को केन्द्रीभूत करें, यही वे चाहते थे।

आत्मज्ञानी महापुरुष रमण निरन्तर आत्मा के गंभीर तल में अवस्थित रहते थे। उनके लिए प्रपंचमय संसार नाट्याभिनय मात्र था। उन्होंने अपने जीवन के प्रत्येक स्तर पर इस तत्व को स्थापित कर लिया था। इसलिए बहिरंग जीवन की कोई बाधा, कोई दुःख इन देहात्मबोधहीन महान् तपस्वी को चंचल नहीं कर पाता था।

बहुत दिन पहले की बात है, किशोर रमण विशिष्ट साधक के रूप में अरुणाचल में प्रसिद्ध हो चले थे। उनके निकट दर्शनार्थियों और भक्तों की भीड़ लगी रहती थी। बालानन्द नामक एक दुष्ट साधु रमण की इस लोकप्रियता का लाभ उठाना चाहता था। उसने यह देख लिया था कि वह कितना भी उपद्रव क्यों न करे, यह देहात्मबोधहीन साधक बाधा नहीं देंगे।

रमण के निकट आनेवाले दर्शनार्थियों के प्रति बड़ी-बड़ी बातें करता था। उसकी उद्धतता यहीं तक सीमित नहीं थी। रमण प्रायः मौन रहा करते थे, आँखें मूँदे ध्यानस्थ रहते थे। उनके सामने ही खड़ा होकर बालानन्द कहा करता, "देखो, यह बच्चा मेरा ही शिष्य है। इसको तुमलोग भोजन दो, भेंट चढ़ाओ।"

वह दिखलाना चाहता था कि वह रमण का अभिभावक है और रमण उसका एक आज्ञाकारी बालक साधक मात्र है। ऐसी ही धृष्टता वह बराबर दिखलाता था। किन्तु रमण तो मौनी, निर्विकार थे। बालानन्द की बातों का एक बार भी प्रतिवाद नहीं करते थे।

दर्शनार्थियों के चले जाने के बाद वह धीरे-धीरे रमण से कहता, "मैं इसी तरह सबसे कहूँगा कि मैं तुम्हारा गुरु हूँ। भेंट-चढ़ावा रूप में उनलोगों से रुपया-पैसा वसूल करूँगा। इससे तुम्हें तो कोई हानि नहीं है। तुम केवल मेरी बातों का प्रतिवाद नहीं करना, नहीं तो सब बिगड़ जायगा।"

रमण इन बातों की ओर कान नहीं देते। उस दुर्वृत्त के सभी अत्याचार को परम शांतिपूर्वक सहन करते जा रहे थे।

भक्तगण प्रायः नाराज तो होते थे किन्तु उस भंड साधु का दमन करने की शक्ति उनलोगों में नहीं थी। क्योंकि उसकी इन दुष्कृतियों के बावजूद रमण स्वयं शांत, अचंचल थे।

अन्ततः पलानीस्वामी को धैर्य नहीं रहा। एक दिन उन्होंने उस भंड साधु से झगड़ा कर लिया। भंड साधु बालानन्द क्रोध से पागल हो गया और सबको गन्दी गन्दी गाली देने लगा। इतना ही नहीं रमण के शरीर पर थूक दिया। उस दिन भी रमण में किसी प्रकार की चंचलता नहीं आयी।

भक्तगण अत्यन्त उत्तेजित हो उठे और बालानन्द को निकाल बाहर किया। गुफा में पुनः शांति आ गई।

परवर्त्ती काल की एक और कहानी है। उन दिनों रमण पर्वत के ढलवान पर अपने आश्रम में रहते थे।

एक रात एक दल दुर्धर्ष-चोर आये और खिड़की-दरवाजा तोड़ने लगे। शिष्य लोग लाठी-सोंटा लेकर तैयार हुए। किन्तु रमण प्रशान्त कंठ से बोल उठे, "चुप रहो, बाधा देने की कोई जरूरत नहीं। वे लोग जो काम करते हैं, करने दो। हमलोगों का कर्त्तव्य है सहन करना। सबकुछ क्षमा कर दो।"

चोरों को बुलाकर कहा, "तुमलोग घबराओ नहीं। स्वच्छन्द भाव से भीतर आ जाओ। कोई बाधा नहीं देगा और जो कुछ जिन्स-पत्र चाहो, ले जाओ। तुमलोगों को कोई कुछ नहीं कहेगा।"

किन्तु चोरों का दल सहज भाव से बात क्यों समझेगा। उनलोगों ने समझा कि यह साधु का छल है, घर में घुसने पर जाल में फँसा लेंगे। इसलिए बार-बार बुलाने पर भी वे सामने दरवाजे से भीतर नहीं आ रहे थे। तब रमण ने

उच्च स्वर से कहा, "हम सबलोग आश्रम छोड़ कर जा रहे हैं, खाली घर में तुमलोग बिना किसी डर-भय के भीतर आ सकते हो।"

सबसे पहले उन्होंने आश्रम के पालित कुत्ते (कारुप्पन) को एक निरापद स्थान पर बैठा दिया ताकि चोर उसे मारे नहीं।

सबलोगों को साथ ले रमण बाहर जा रहे थे, उसी समय एक चोर ने उनके पाँव में जोर से लाठी मार दी। किन्तु महर्षि ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। शांत स्वर से उन्होंने कहा, "यदि इतने से भी संतोष नहीं हुआ है, तो दूसरे पाँव में भी मार सकते हो।"

शिष्य रामकृष्ण स्वामी गुरु को बचाने के लिए तेजी से सामने आये। पास के ही एक घर में जाकर रमण और उनके शिष्यगण बैठे। इधर चोरलोग एक-एक कर सभी जिन्स-पत्र खोज रहे थे। उनलोगों ने सबकुछ इधर-उधर कर दिया। आश्रम घर में पूर्ण अंधकार था। रोशनी के अभाव में उन्हें कठिनाई हो रही थी। एक चोर ने आकर कहा, "भाई तुमलोग जल्दी से एक लालटेन का जोगाड़ कर दो।"

उनका दुःसाहस असीम था। एक भक्त तो मारपीट के लिए उद्यत हुए किन्तु रमण के आदेश पर शीघ्र ही एक लालटेन की व्यवस्था की गयी। आश्रम में विशेष कुछ था नहीं, जो कुछ सामान्य रुपया-पैसा था, लेकर चोरलोग खिन्न भाव से चले गये।

चोरों की लाठी के आघात से कुछ शिष्यों की देह कट-फट गयी थी। रमण ने उनलोगों से मलय चन्दन शीघ्र लगाने को कहा। किन्तु शिष्यगण गुरु के लिए बेचैन थे। उन्होंने पूछा, "स्वामी, आपको जो चोट लगी है, उसके लिए क्या व्यवस्था की जाय ?" रमण ने कौतुक पूर्वक कहा, "हाँ जी, मुझे भी तो उनलोगों की कुछ पूजा मिली है।"

किन्तु इस पूजा का फल बड़ा मर्मान्तिक रहा। उस घात से रमण की जाँघ कट गयी थी। रक्त बह रहा था। यह देखकर एक शिष्य अधीर हो गया। उसने लोहे का एक डंडा लेकर कहा, "भगवान आप एकबार आदेश दीजिए, मैं उन दुष्टों को उपयुक्त शिक्षा देकर आता हूँ।"

रमण ने कहा, "देखो हमलोग साधु हैं। हमलोग किसी दशा में अपना धर्म नहीं छोड़ेंगे। तुम अगर लोहे के डंडे से उसे मारोगे, तो कोई न कोईमारा जायगा। उसके लिए लोग चोरों को दोष नहीं देंगे, दोष देंगे हम साधुओं को ही। वे लोग पथभ्रष्ट हैं, अज्ञानवश अभागे लोग हैं। दुर्भाग्यवश उन्हें अच्छे-बुरे का

विचार नहीं है। ऐसा विचार तो हमलोगों को करना है । नीति और आदर्श को जकड़ कर पकड़े रहना हमलोगों का ही धर्म है । यह भी विचार कर देखो, किसी असतर्क क्षण में तुम्हारे दाँत से तुम्हारी जीभ कट गयी तो क्या तुम अपना दाँत उखाड़ दोगे ?"

सत्-असत्, अच्छा-बुरा सब कुछ इन महाज्ञानी के लिए एकाकार हो गया था । संपूर्ण संसार को वह एक ही आत्मसत्ता से ओतप्रोत देखते थे । साधु और चोर उनकी आँखों में एक ही सत्ता के पृथक-पृथक रूप थे ।

काव्यकंठ गणपति शास्त्री महर्षि रमण के एक अन्यतम शिष्य थे । ईश्वर-कृपा से अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और प्रतिभा के बल उन्होंने प्रसिद्धि भी अर्जित की थी । वेद, वेदान्त, पुराण एवं काव्य-अलंकार प्रभृति में उन्हें विशेष प्रवेश था । भगवत् दर्शन के लिए भी शास्त्रीजी ने कम साधना-भजन नहीं किया था । बहुत दिनों तक कृच्छ्र साधना भी की थी ।

बाल्यकाल से ही संस्कृत में काव्य-रचना करने की शास्त्रीजी की दक्षता का परिचय लोगों को था । उनकी १४ वर्ष की आयु में ही उनकी प्रतिभा से विद्वद्-समाज चमत्कृत था । साहित्य और धर्मशास्त्र में उनके पांडित्य की अच्छी प्रसिद्धि थी । परवर्त्ती काल में नवद्वीप के पुरी-समाज ने उनको प्रतिभा से मुग्ध होकर 'काव्यकंठ' की उपाधि से उन्हें विभूषित किया था ।

इतने दिनों तक शास्त्र-पाठ, जप-तप और तीर्थ-भ्रमण करने पर भी उन्हें अध्यात्म जीवन की सार्थकता नहीं मिली थी । अंतर में अशान्ति की अग्नि प्रज्वलित थी ।

पवित्र कार्तिक उत्सव का दिन था । गणपति शास्त्री के अंतर में एक अव्यक्त व्यथा घुमड़ रही थी । जिस शांति को पाने के लिए वे सारा जीवन इधर-उधर भटकते रहे, उसका पता नहीं मिला । तब क्या यह जीवन व्यर्थ जायगा ? वे कहाँ जाएँ, किसका आश्रय लें ? कोई कूल-किनारा नहीं दिखायी पड़ता था ।

सहसा अरुणाचल की कन्दरा में बैठे किशोर तपस्वी की याद आयी । सर्वदा ध्यानावेश में आत्म समाहित अवस्था में उनका समय कटता है । क्या उनसे ही आकांक्षित वस्तु प्राप्त होगी ? निश्चय ही वह तपस्वी सिद्धकाम है । आज उनसे पूछ लूँगा कि उनकी जीवन तपस्या सफल होगी या नहीं ।

गणपति शास्त्री उस दिन चिन्तित मन से विरूपाक्ष गुहा में पहुँचे । रमण महर्षि के पाँव पकड़ कर रोते हुए कहने लगे, "प्रभु, धर्मशास्त्र का यथासाध्य

पाठ किया, जप-तप भी कुछ कम नहीं किया है। किन्तु अमृत ज्योति का एक कण भी मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए आज मैं आपके चरणाश्रय में आया हूँ।

रमण नीरव, निष्पलक दृष्टि से करीब १५ मिनट तक पंडित गणपति शास्त्री की ओर देखते रहे। तत्पश्चात् प्रशान्त स्वर से बोले, "एकान्तभाव से यदि कोई अनुसंधान करे कि कहाँ से 'मैं' का भाव उदित होता है, फिर मन क्रमश: उसी में विलीन हो जाय—वही सच्ची तपस्या है। यदि कोई जप और मंत्र के मूल स्रोत की खोज करे और मन उसी में विलीन हो जाय—उसी को सच्ची तपस्या कहते हैं।"

शास्त्र वाक्य और धर्मोपदेश तो शास्त्रीजी ने बहुत सुना था। वह सब उनके समान शास्त्रज्ञ, सर्व शास्त्र विशारद और प्रतिभा संपन्न व्यक्ति के लिए अंजाना नहीं था। किन्तु तरुण तपस्वी रमण की वाणी तो चैतन्यमय थी। उसने शास्त्रीजी की समस्त सत्ता को जड़मूल से हिला दिया। एक अपार्थिव आनंन्द धारा उनके मन-प्राण में प्रवाहित होने लगी। वह धारा रमण की देह से निस्सृत हो रही थी।

गणपति शास्त्री संस्कृत भाषा के सुपंडित थे। अब से वे अपनी बहुतेरी रचनाओं में रमण की प्रशस्ति का गान करने लगे। रमण के भाव और आदर्शों की व्याख्याएँ भी की। बल्कि 'भगवान रमण' और 'रमण महर्षि' नाम भी उनका ही दिया हुआ है। रमण स्वामी इन्हीं दो नामों से देश-विदेश में प्रसिद्ध हुए।

एक वर्ष बाद की बात है, रमण महर्षि की कृपा, गणपति शास्त्री के जीवन में हठात् एक अलौकिक लीला के माध्यम से प्रकाशित हुई। तिरुवत्तियूर के गणपति मंदिर में उस रात शास्त्रीजी ध्यान-जप में तल्लीन थे। उस समय हठात् उनके हृदय में रमण महर्षि का दर्शन करने की तीव्र इच्छा जग पड़ी। उनकी यह इच्छा बड़े विस्मयकारी रूप से पूर्ण हुई।

शास्त्रीजी ने देखा कि रमण महर्षि मंदिर में आविर्भूत हैं। इतना ही नहीं, शास्त्रीजी ने महर्षि के देह-स्पर्श का भी अनुभव किया। वे आनन्द से विह्वल हो गये। शास्त्रीजी ने जैसा कहा, रमण महर्षि ने अपनी ऊँगली से उनके सिर का स्पर्श किया और शास्त्रीजी का संपूर्ण शरीर एक दिव्य रस से तरंगायित हो गया।

तिरुवन्नामलै आने के बाद से रमण महर्षि एक दिन के लिए भी बाहर नहीं गये। जीवन में कभी तिरुवत्तियूर नहीं गये।

कुछ दिन के बाद शास्त्रीजी जब महर्षि से मिलने आये तो उन्होंने विस्तार से उस घटना का विवरण दिया। इसके उत्तर में महर्षि ने कहा, "कई वर्ष मैं अरुणाचल की गुफा में सो रहा था। उसी समय अचानक अनुभव हुआ कि मेरी देह उर्ध्व आकाश में उठती जा रही है। दृश्यमान वस्तु जगत क्रमशः अन्तर्हित हो गया। तब चतुर्दिक रह गया एक शुभ्र ज्योति-मंडल।

"कुछ क्षण बाद मेरी देह धीरे-धीरे नीचे आने लगी। तत्पश्चात् यह वस्तु जगत दृष्टिगोचर हुआ। मैंने मन ही मन कहा, शायद इसी तरह सिद्धगण आविर्भूत और अन्तर्हित होते हैं। उस समय मेरी धारणा हुई कि मैं तिरुवत्तियूर में आ पहुँचा हूँ। एक बड़े रास्ते से मैं आगे बढ़ा। उस रास्ते के किनारे कुछ दूर पर गणपति का मंदिर था। मैं मंदिर के भीतर चला गया। वहाँ मैंने क्या किया या क्या कहा—कुछ भी याद नहीं है। तत्पश्चात हठात् मेरा बाह्य ज्ञान लौट आया। देखा, मैं विरुपाक्ष गुफा में सो रहा हूँ। मैंने उसी दिन यह सारी बात पलानी स्वामी को बता दी। वे उन दिनों निरन्तर मेरे साथ रहते थे।"

शिष्यों की अध्यात्म साधना के लिए या उनकी आर्त्त पुकार पर महर्षि का इस प्रकार आविर्भाव होता था। किन्तु इस प्रकार से अपनी विभूति का प्रदर्शन उन्हें पसन्द नहीं था। जो कुछ भी अलौकिक घटना हठात् प्रकाशित हो जाती, उसे वे लोगों से छिपाकर ही रखना चाहते। जाना-जानी हो जाने पर कुतुहली भक्तों के पूछने पर महर्षि केवल इतना ही कहते, 'क्या पता? मालूम होता है, अरुणाचल के सिद्धगण ही ऐसा कुछ करा देते हैं।'

अपने शिष्यों को साधना की जिस गहराई में रमण महर्षि ले जाना चाहते थे, उस मार्ग पर चलना गणपति शास्त्री के लिए संभव नहीं था। स्वदेश की स्वतंत्रता-प्राप्ति और धर्म संस्कृति का पुनरुज्जीवन उनकी चिन्ता के मुख्य विषय थे। इस चिन्ता को वे कदापि छोड़ना नहीं चाहते थे। इसलिए अध्यात्म साधना पथ पर उनके लिए बाधा उपस्थित हो गयी।

१९३६ में रमण के इन प्रतिभा सम्पन्न शिष्य की मृत्यु हो गयी। रमण से शिष्यों ने पूछा कि शास्त्री जी को जीवन-काल में आत्म साक्षात्कार हुआ या नहीं? रमण ने कहा, "यह कैसे संभव होता? यह संकल्प तो अन्त समय तक उनके मन में रह ही गया था।"

भक्त राघवाचारियर अपने जीवन की एक अद्भुत कथा कहा करते थे। महर्षि रमण एक दिन अनेक भक्तों से घिरे बैठे थे। वहाँ राघवाचारियर भी उपस्थित थे। उनके मन में एक तीव्र आकांक्षा जग उठी कि वे आज महर्षि का लोकोतर रूप देखेंगे और उनकी कृपा प्राप्त करेंगे।

महर्षि उनके सामने बैठे थे। उनके पीछे की दीवार पर दक्षिणामूर्ति का चित्र टँगा था। राघवाचारियर ने देखा कि सशरीर महर्षि और दक्षिणामूर्त्ति का चित्र दोनों ही धीरे-धीरे एक वारगी लुप्त हो गये। दीवार भी लुप्त हो गयी और उसके आगे दीख पड़ा सीमाहीन विस्तार।

उसके वाद वह दृश्य वदल गया। राघवाचारियर ने देखा वहाँ शुभ्रवर्णी मेघों का जमघट हो रहा है। कुछ क्षण के बाद देखा रमण महर्षि की देह और दक्षिणामूर्ति का चित्र—दोनों अपने-अपने स्थान पर हैं। महर्षि के चारों ओर एक दिव्य ज्योति का मंडल है।

यह सब देखकर राघवाचारियर हतवाक् हो गये। वे महर्षि को साष्टांग प्रणाम कर कम्पित हृदय से कमरे से बाहर निकल गये।

एक महीने के बाद उन्हें महर्षि से भेंट हुई। वे उस दिन के दृश्यों का तात्पर्य जानने के लिए व्यग्र थे। उनके प्रश्न के उत्तर में रमण ने कहा, "उस दिन तुम मेरा प्रकृत रूप देखना चाहते थे। इसलिए तुमने मेरा अन्तर्धान होना देखा है, क्योंकि मैं आकारहीन हूँ। उसके बाद भी जो कुछ देखा है, वह है तुम्हारे गीता पाठ से उद्भूत। तुम्हारी तरह गणपति शास्त्री को भी एक अलौकिक दर्शन हुआ था। उनसे तुम पूछ लेना। किन्तु इस प्रकार की उत्सुकताओं को छोड़ कर 'मैं कौन हूँ' का पता लगाने की चेष्टा करो। इस परम तत्व की खोज ही असली साधना है।"

रमण महर्षि के प्रारंभिक जीवन के शिष्यों में एक शिष्य था जिसका नाम किसी को मालूम नहीं था। उस पर महर्षि की अपार करुणा और स्नेह था। विरुपाक्ष गुफा में ५ दिनों तक उस भक्त का आगमन होता रहा। उसके बाद वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। उस पर रमण महर्षि की कृपा अकृपण भाव से बरसती थी। अनेक भक्तों की भीड़ में भी वह दीख जाता और महर्षि की अमृतमय दृष्टि उस नवागत शिष्य को विशेष रूप से अभिसिंचित करती। उन्होंने तामिल भाषा में महर्षि को लक्ष्य कर एक सुन्दर प्रार्थना भी रची थी।

उन्होंने 'रमण सद्गुरु' नामक एक मनोरम संगीतमाला की रचना की थी। एक गुफा में बैठकर एक दिन एक शिष्य विशेष सुर-ताल-लय से उसे गा रहा

था। रमण महर्षि का भी मन उस दिन खुल गया था। वे भी उस भक्त के साथ सुर-ताल मिलाकर प्रार्थना गाने लगे। सब लोग विस्मित थे।

यह कांड देखकर एक भक्त को कौतुहल हुआ। परिहास करते हुए उसने कहा, "भगवान, अपने मुँह से अपनी प्रशस्ति गाने का उदाहरण मैंने अपने जीवन में पहली बार देखा है।"

सद्गुरु ने तुरत उत्तर दिया, "यह कैसी बात है? क्या तुमलोग रमण को इस छः फीट की आकृति में बाँधकर देखते हो? वह तो सर्वजनीन और सर्व-व्यापक सत्ता है।"

शेषाद्रि स्वामी महर्षि के शिष्य तो नहीं थे, किन्तु उनके गुणग्राही भक्त थे। उन्होंने पहले ही शक्ति मंत्र की दीक्षा ली थी। थोड़ी-बहुत अलौकिक विभूतियाँ भी अर्जित की थी। कई स्थानों पर तपस्या करने के उपरान्त वे तिरुवन्नामलै आकर रहने लगे थे। हठात् एक दिन अरुणाचलेश्वर मन्दिर में रमण का दर्शन किया। उस दिन से अविचल श्रद्धा के साथ सर्वत्यागी तपस्वी का घूम-घूम कर जयगान करने लगे। उनके उत्साह और प्रेरणा से अनेक लोंगों ने महर्षि रमण की कृपा पायी थी।

कोई एक व्यक्ति शेषाद्रि स्वामी का स्नेह-भाजन था। शेषाद्रि स्वामी चाहते थे कि वह महर्षि रमण का आश्रय ग्रहण करे। बार बार कहने पर भी वह जाता नहीं था। एक दिन शेषाद्रि स्वामी ने उत्तेजित होकर कहा, "यह क्या बात है कि तुम महर्षि रमण के निकट नहीं जाते हो? तुम्हें क्या मालूम नहीं कि उनके निकट नहीं जाने से तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप लग रहा है।"

वह व्यक्ति डर गया और महर्षि के निकट जाकर रोने लगा। महर्षि ने शेषाद्रि स्वामी के तिरस्कार वाक्य का विश्लेषण कर दिया। बोले, "तुम ब्रह्म-हत्या कर रहे हो—इसका अर्थ हुआ, तुम स्वयं ब्रह्म हो और तुम्हें अबतक इस सत्य की उपलब्धि नहीं हुई है। इसी अर्थ में शेषाद्रि स्वामी ने ब्रह्महत्या शब्द का प्रयोग किया है। तुम किसी प्रकार का भय नहीं करो।"

तरुण अँग्रेज एफ० एच० हम्फ्रिज के जीवन में रमण महर्षि का प्रभाव एक लोकोत्तर लीला के माध्यम से संचारित हुआ। यह एक विस्मयकारी कहानी है। पुलिस विभाग के उच्च पदस्थ कर्मचारी के रूप में हम्फ्रिज साहब वेलोर में पदस्थापित थे। अरुणाचल से यह शहर मात्र कई मील दूर है। वे अपने अधीनस्थ मुंशी नरसिंहैया से तेलगु सीख रहे थे।

एक दिन सहसा वे अपने तेलगु शिक्षक से पूछ बैठे, "तुम क्या इस अंचल में किसी साधु-महात्मा को जानते हो ? मुंशी इस प्रश्न से चौंक उठा और बोला "नहीं सर, ऐसे किसी महात्मा को मैं नहीं जानता हूँ ।"

दो दिन बाद की बात है। भोर के समय नरसिंहैया अपने शिष्य को पढ़ाने आया। किन्तु साहब की बात सुनकर चकित रह गया। हम्फ्रिज साहब ने कहा, "तुमने कहा था कि तुम किसी महात्मा को नहीं जानते हो। लेकिन मैंने तुम्हारे गुरु को देख लिया है। प्रात: काल नींद टूटने के पहले मैंने स्वप्न में दर्शन किया है। मेरे निकट बैठकर उन्होंने बहुत कुछ कहा, लेकिन मैं समझ नहीं पाया।"

यह कैसी अद्‌भुत कहानी है ? नरसिंहैया सुनकर चुप था। कुछ देर बाद साहब बोले, "मुंशी, क्या तुम जानते हो कि वेलोर के जिस आदमी को मैंने बम्बई में रहते दिनों में सर्वप्रथम देखा था, वह तुम हो ?"

वेलोर में योगदान देने के पूर्व बम्बई में वे बहुत बीमार थे। इलाज के लिए अस्पताल में भरती थे। एक दिन अपने बिछावन पर वे चुपचाप पड़े थे। मन में वेलोर जाकर कार्य-स्थल पर योगदान देने की चिन्ता थी। साथ ही एक अलौकिक जानकारी भी मन में हो रही थी। किसी एक अदृश्य शक्ति की कृपा से सूक्ष्म देह से वह भ्रमण कर रहे थे। उसी समय उन्होंने वेलोर के मुंशी नरसिंहैया को देखा !

इस अलौकिक भेंट की कथा सुनकर नरसिंहैया कोई उत्तर नहीं दे सका। संदेह में चित्त दोलायमान था। किन्तु उसका संदेह अधिक दिनों तक नहीं रहा। इस तरुण अंग्रेज अफसर ने उसे एक दिन और अधिक चकित कर दिया। नरसिंहैया के हाथ में कुछ चित्र थे। हम्फ्रिज ने उत्साह पूर्वक चित्रों को उसके हाथ से झटक लिया और उन चित्रों में से नरसिंहैया के गुरु महर्षि रमण का चित्र झटपट निकाल लिया, मानो वे उनसे चिर परिचित हों।

और भी अधिक विस्मयकर बात यह थी कि एक दिन हम्फ्रिज साहब ने पेंसिल से एक चित्र बनाया और उसमें महर्षि रमण और उनकी आश्रय-गुफा का चित्र अंकित था। हँसते हुये उन्होंने मुंशी से कहा कि उस दिन स्वप्न में यही दृश्य देखा था।

तत्पश्चात हम्फ्रिज रमण महर्षि का दर्शन करने आये। उस साक्षात्कार के संबंध में उन्होंने लिखा है—"पर्वत-गुफा में प्रवेश करते ही चुपचाप महर्षि के चरणों के समीप जाकर बैठ गया। बहुत देर तक बैठा रहा और उतने समय तक

मुझे मालूम होता था कि मैं अपनी देह सत्ता से ऊपर उठ कर उर्ध्व में जा पहुँचा हूँ। मैं करीव आधे घंटे तक महर्षि की आँखों की ओर देख रहा था। किन्तु क्षण मात्र के लिए भी उनकी भाव-तन्मयता नहीं टूटी। मैं अनुभव करने लगा उनकी देह ईसा मसीह का मंदिर विशेष है। ऐसा भी बोध हो रहा था कि सम्मुख बैठी हुई देह किसी मनुष्य की नहीं, वल्कि भगवान का यंत्र विशेष है। यह देह नीरव, निष्पन्द प्राणहीन है, जिससे दिव्य ज्योति चतुर्दिक फैल रही है। उस समय की मेरी मनोदशा सचमुच अवर्णनीय है।

हम्फ्रिज उच्च शिक्षित आदर्शवादी युवक थे। वह मानव कल्याण के आदर्शों के प्रति उन्मुख थे। उन्होंने व्यग्र भाव से महर्षि से पूछा, "भगवान, बहुत दिनों का मेरा संकल्प है कि मैं संसार की सेवा करूं। क्या मैं कभी यह कर सकूंगा ?"

महर्षि ने उत्तर दिया, "हाँ कर सकोगे, यदि उसके पूर्व अपनी प्रकृत सहायता कर सको। यह मत भूलो कि संसार तुम्हें धारण कर रहा है। यही नहीं यह विश्व सृष्टि तुम्हारी अपनी नहीं हो, यह सृष्टि भी तुमसे ओतप्रोत है।

अलौकिक विभूतियों के प्रति हम्फ्रिज का विशेष आकर्षण था। महर्षि के साथ रहने से उसका वह आकर्षण धीरे-धीरे कम हो गया। उनके जीवन में उस समय जो आध्यात्मिक बीज रोपित हुआ, वह शीघ्र अंकुरित होने लगा। उन्होंने अपने जीवन के लिए कल्याण मार्ग पर चलने का निश्चय किया। ऊंची नौकरी का मोह छोड़कर वे स्वदेश चले गये और एक कैथोलिक संन्यासी चर्च में शामिल हो गये।

१६१६ साल के पूर्वार्द्ध में माता आलागम्माल अरुणाचल आ गईं। कर्ज चुकाने में मदुरा का मकान बिक गया था। वृद्धा जननी अपने प्रिय पुत्र रमण के साथ स्थायीभाव से रहने के लिए आयी थीं। किन्तु संसार त्यागी तपस्वी के आश्रम में माता के आगमन से किसी प्रकार का चांचल्य नहीं आया। रमण ने अत्यन्त स्वाभाविक भाव से माता का आगमन स्वीकार किया।

इसके पहले भी माँ एक बार रमण के यहाँ आयी थीं। उस समय ज्वर ग्रस्त होकर उन्होंने बिछावन पकड़ लिया था। माँ की सेवा में रमण ने किंचित भी उदासीनता नहीं दिखलाई। अत्यन्त यत्नपूर्वक अपने हाथों माँ की सेवा शुश्रूषा करते थे। इतना ही नहीं, माता के आरोग्य के लिए, साधारण मनुष्य की तरह अरुणाचल शिव से प्रार्थना भी करते थे।

आश्रम में माँ के स्थायी रूप से आ जाने पर रमण ने उनको आश्रम की दिनचर्या और आचरण के बारे में अच्छी तरह समझा दिया और कहा, 'कि

यहाँ पुत्र के साथ व्यावहारिक संबंध रखना संभव नहीं होगा। किन्तु पुत्र के प्रति माता के अधिकार और दावा को अलागम्माल पूर्णतः छोड़ नहीं पाती थीं। कभी-कभी किसी कारणवश वे किसी से रुष्ट हो जाती थीं तो रमण स्पष्टतः कहते थे, "तुम जानलो कि अकेले तुम्हीं मेरी माँ नहीं हो, सभी स्त्रियाँ मेरी माँ हैं।"

अपने ज्ञानपंथी पुत्र की इस समदर्शिता के साथ माँ ने अन्ततः समझौता कर लिया। आश्रम के शांत, वैराग्यमय परिवेश और सात्विकता से उनका भी रूपान्तर हो गया।

वे बीच-बीच में अपने पुत्र के आध्यात्मिक स्वरूप को समझती भी थीं और उन्हें यह अनुभूति होती थी कि रमण शिव प्रतिम महापुरुष हैं। एक दिन वे रमण के सामने शांतभाव से बैठी थीं। हठात् उन्होंने देखा कि रमण वहाँ से अदृश्य हो गये हैं और जहाँ वे बैठे थे, एक शिवलिंग विराजमान है। माँ बहुत घबरा गयीं। यह अलौकिक दृश्य क्या बतला रहा है? पुत्र क्या देह त्याग करेगा?

वे चीत्कार कर रोने लगीं किन्तु शीघ्र ही स्वाभाविक दृश्य लौट आया। उन्होंने देखा, रमण पूर्ववत सशरीर वहाँ बैठे हुए हैं। (रमण महर्षि : ए. ओसबोर्न)

एक दिन की घटना है, रमण भक्तों से घिरे हुए गुफा में बैठे हुए हैं। माँ भी वहाँ हैं। उन्होंने हठात् देखा कि वहाँ रमण नहीं हैं, बल्कि वहाँ एक शुभ्र-कांति देव पुरुष हैं, जिनके गले में एक जोड़ा विषधर सर्प लिपटा हुआ है।

माँ चीत्कार कर उठी, कहने लगीं, "उन दोनों को हटाओ, शीघ्र हटाओ। मुझे भय लगता है।"

इस अलौकिक दर्शन के द्वारा अरुणाचलेश्वर ने माँ को उनके पुत्र का दिव्यरूप दिखला दिया।

रमण स्वयं सर्वत्यागी थे। किसी दिन भी उन्होंने गृही और गृहत्यागी में विभेद नहीं किया। स्वयं आश्रमवासी होने पर भी, माँ को अपने आश्रम में रखने में उन्हें कोई दुविधा नहीं हुई। अनेक संसार त्यागेच्छु भक्तों को वे घर में ही साधना करने को कहते थे। संन्यास कामी भक्तों को कहा करते, "यह समझलो कि वेशभूषा में परिवर्तन कर लेना संन्यास नहीं है। सच्चा संन्यास है, कामना वासना का त्याग, मोह का त्याग। जो सच्चा संन्यास ग्रहण करता है, वह समस्त विश्व में लीन होकर एकाकार हो जाता है।

उसका प्रेम सारे विश्व का आलिंगन करता है। इसलिए संन्यास की विशेषता उसका गेरुआ वस्त्र या गृह-त्याग नहीं है, उसकी विशेषता है उसका सर्वात्मक प्रेम।

महाज्ञानी रमण यह भी कहते थे, "यदि इस सर्व परिप्लावी प्रेम का अनुभव करते हो, यदि तुम्हारे हृदय में समग्र विश्व को धारण करने का विस्तार आ गया है तो संसार त्याग करने की तुम्हें इच्छा ही नहीं होगी। उस समय जीव-जीवन की डाल से एक पके फल की तरह तुम गिर पड़ोगे। तुम्हें अनुभव होगा कि यह विश्व ही तुम्हारा घर है।"

देवराज मुदालियर ने महर्षि की स्मृति-कथा में उनके द्वारा प्रतिपादित तत्वों के संबंध में लिखा है, "निरासक्त भाव से जीवन के सभी काम करते जाना और अपनी आत्मा का परम सत्ता रूप में ध्यान करना—यह दोनों एक साथ किया जा सकता है। किसी का मन यदि आत्मसत्ता में केन्द्रीभूत है तो उसके लिए वाह्य जीवन का कार्य करना सम्भव नहीं होगा— ऐसी धारणा बिल्कुल सत्य नहीं।

"आत्मज्ञान का साधक एक अभिनेता के रूप में है। वह साज-सजावट करता है, दैनिक कार्य करता है, अपने अभिनय के भाग का कथोपकथन भी बोलेगा, किन्तु उसके साथ-साथ उसे अपना प्रकृत ज्ञान भी कायम रहेगा। वह जानता है कि वह जिस चरित्र का अभिनय करता है, वह स्वयं नहीं है बल्कि अपने प्रकृत स्वरूप में दूसरा ही व्यक्ति है। उसी तरह, जब तुम निश्चित रूप से जानते हो कि तुम देह नहीं हो, तुम आत्मा हो, तब यह देहात्म बुद्धि अथवा "मैं यह देह हूँ" ऐसी बुद्धि तुम्हें चञ्चल नहीं करेगी। यह देह जो कुछ भी क्यों न करे, वह तुम्हें आत्मा की धृति से विच्युत नहीं करेगी और यह धृति भी तुम्हारी देह को किसी कर्त्तव्य से विचलित नहीं होने देगी। इस अभिनेता के चरित्राभिनय और व्यक्तिगत जीवन को अस्त-व्यस्त नही करेगी।"

इसलिए माँ के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने में रमण से कभी कोई त्रुटि नहीं हुई। पुत्र के आश्रम में करीब छः वर्ष रहने के बाद आलागम्माल का अन्तकाल आ गया। अन्तिम श्वास जाने में विलम्ब नहीं था। उनकी सेवा-शुश्रूषा और कल्याण कामना में संसार विरागी रमण ने कोई कोर-कसर नहीं रखा।

आलागम्माल के बिछावन के चारो ओर वेदपाठ और रामनाम कीर्त्तन हो रहा था। माँ के शिर और वक्ष पर अपने हाथ रखकर महर्षि बैठे थे।

माँ के अन्तिम सांस छोड़ने के बाद वे धीरे-धीरे उठकर खड़ा हुए। सब लोग शोक से विह्वल थे। दुश्चिन्ता और दौड़-धूप में व्यस्त रहने के कारण आश्रम-वासीगण निराहार थे। रमण महर्षि ने निर्विकार भाव से सबको बुलाकर कहा, "अब चलें, हमलोग भोजन कर सकते हैं। तुम लोग पाँत लगाकर बैठो। यह नहीं समझना कि मृत्यु के फलस्वरूप भोजन अशुद्ध हुआ है।

माँ की मृत्यु को रमण मृत्यु बिल्कुल ही नहीं मानते थे। माँ ने चैतन्यमय सत्ता में प्रवेश किया है, इसी दृष्टि से मृत्यु को देख रहे थे।

किसी व्यक्ति ने आलागम्माल की मृत्यु की चर्चा की। महर्षि ने कथन का संशोधन करते हुए कहा, "उनकी मृत्यु नहीं हुई, वे केवल लीन हो गयीं हैं।"

सन् १९३० साल की बात है। महर्षि रमण को घेर कर एक आश्रम बन गया था। अद्वैत भावना के मूर्त्त रूप में इन ज्ञानपंथी तपस्वी की प्रसिद्धि चतुर्दिक प्रसारित हो गयी थी। देश-विदेश के अनेक मुमुक्षु शरणार्थी प्रायः उनके चरणों के निकट बैठे रहते थे। उस भीड़ में विख्यात अंगरेज पत्रकार पाल ब्रान्टन भी एक दिन दिखाई पड़े। आधुनिक समाज में महर्षि के जीवन और दर्शन की व्याख्याता के रूप में उनकी अच्छी प्रसिद्धि भी हुई थी। वे महर्षि के सामने एक कम्बल पर बैठे थे। अनेक भक्त और शिष्य अर्धचन्द्राकार पाँत में महर्षि को घेरकर बैठे हुए थे।

महर्षि श्वेत आसन पर बैठे थे। उनके दोनों पांव सामने एक व्याघ्र-चर्म पर थे। उनका शरीर सुगठित और गौर वर्ण का था। प्रशस्त ललाट पर अपूर्व शांति थी। उनके दोनों नेत्र अपलक और अतल-स्पर्शी थे। उनकी गम्भीरता लोगों को आकर्षित कर लेता था। कमरे में निविड़ निस्तब्धता छा रही थी। धूपाधार से सुगन्ध का धुआँ कुण्डलित होकर उर्ध्व में विलीन हो रहा था।

ब्रान्टन ने बहुत-से प्रश्न पूछने का मन-ही-मन निश्चय किया था। किन्तु क्या वह सम्भव हुआ? महर्षि की निष्पन्द देह और अपलक दृष्टि के सम्मुख बैठे हुए ब्रान्टन की समस्त चेतन धारा की दिशा ही बदल गयी। इस नीरवता में दो घंटे व्यतीत हो गए। इस बीच महर्षि एक शब्द भी नहीं बोले। इस ध्यान-मौन परिवेश में बैठे हुए ब्रान्टन के मन के सभी प्रश्न और द्विधा-द्वन्द्व पता नहीं कहाँ अन्तर्हित हो गए। परम शांति और आनन्द के रस से

उनके हृदय का कोना-कोना भर गया। ऐसा तो उसने पहले कभी अनुभव नहीं किया था।

जिन प्रश्नों को लेकर वे इतने दिनों से विचार विश्लेषण कर रहे हैं, वे सब अब मन में व्यर्थ प्रतीत हो रहे थे। वे इतने दिनों से बुद्धि के क्षेत्र में खड़ा हो कर इन समस्याओं पर विचार कर रहे थे। वे गर्व पूर्वक सोचा करते थे कि कोई भी व्यक्ति उनका गुरु नहीं है।

किन्तु महर्षि के सान्निध्य में उनकी पवित्र दृष्टि से स्नात होकर ब्रान्टन बुद्धि क्षेत्र के परे, अपनी सत्ता के गम्भीर तल में डूब गए। यह कैसी अलौकिक बात है? किस शक्ति-बल से इस मौनी तपस्वी ने उनके भीतर इतना बड़ा विप्लव ला दिया?

ब्रान्टन ने सोचा, जिस प्रकार फूल निःशब्द हो स्वाभाविक भाव से चतुर्दिक अपना सौरभ प्रसारित करता है, उसी प्रकार महर्षि सबकी दृष्टि से अगोचर हो आध्यात्मिक शांति की धारा चारों ओर संचालित कर देते हैं। तीव्र बुद्धि सम्पन्न, सर्वदा खोज-ढूढ में लगे रहनेवाले इस पत्रकार से उस दिन एक भी प्रश्न पूछा नहीं गया।

एक अन्य दिन की घटना है। ब्रान्टन महर्षि के कमरे में आकर बैठे हैं। उनकी दृष्टि महर्षि पर ही लगी थी। धीरे-धीरे उनकी आँखें मुँद गयीं। तन्द्राच्छन्न होकर वह एक विचित्र स्वप्न देखने लगे। उन्होंने लिखा है, "लगा कि मैं पाँच वर्ष का बालक हो गया हूँ। महर्षि मेरा हाथ पकड़ कर ऊँचे-नीचे पथरीले मार्ग से लिए जा रहे हैं। सूचिभेद्य अन्धकार में महर्षि अरुणाचल के शिखर पर मुझे ले चल रहे हैं। फिर मैंने चन्द्रमा के मद्धिम प्रकाश में कुछ-कुछ देखने लगा। पत्थर और झाड़-झंखार की ओट में कितने ही प्राचीन योगियों के आश्रम दिखलाई पड़े।

"धीरे-धीरे हमलोग अरुणाचल के शिखर के निकट पहुँचे। उस समय मेरी समग्र सत्ता में रूपान्तर हो गया था। आशा और आकांक्षा एवं स्वार्थ-बुद्धि का लेशमात्र भी मेरे मन में नहीं था। एक परम शांति के समुद्र में मैं डूब दे रहा था।

"महर्षि ने मुझसे कहा, "तुम देश लौट कर यह शांति पा सकोगे किन्तु इसका मूल्य देना पड़ेगा। वह मूल्य है हमेशा के लिए देह-बोध और बुद्धि-वृत्ति का परित्याग। तब तुम अपने बहिरंग जीवन को भूल कर धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुखी हो सकोगे।" ('ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया'— पॉल ब्रान्टन)

इस रहस्यमय स्वप्न ने उस दिन पॉल ब्रान्टन की समग्र चेतना को झकझोर दिया।

पॉल ब्रान्टन ने एक दिन महर्षि से पूछा, "मेरे जैसे आधुनिक लोगों के जीवन में अत्यधिक कर्म-चंचलता रहती है। इसके साथ आपके साधन-पथ का तालमेल कैसे बैठेगा ? तब क्या हमलोगों को अपनी जीवन-धारा को बदलना पड़ेगा ? क्या हम कर्म-त्याग करें ?"

महर्षि ने उत्तर दिया, "कर्म-त्याग करने की आवश्यकता नहीं। तुम प्रतिदिन व्यावहारिक कार्य करते रहो और उसके साथ दो-एक घण्टा आत्मानुसंधान और उपासना भी करो। इस पथ पर ठीक-ठीक चलने से तुम्हारे मनोलोक में जो भावधारा संचारित होगी वह क्रमशः तुम्हारी कार्य-व्यस्तता के भीतर भी प्रवाहित होने लगेगी। जो आध्यात्मिक-जगत में नया-नया प्रवेश करता है उसको उपासना के लिए निश्चित समय निर्धारित कर लेना चाहिए। किन्तु साधना-पथ पर अग्रसर हो जाने के बाद कोई काम करे या न करे, उसे अधिकतर आनन्द लाभ ही होगा। उसके दोनों हाथ जितना भी कर्मरत रहें, उसका मस्तिष्क बहिरंग जीवन से बहुत उच्च स्तर पर अनासक्त, शान्त और अचंचल रहेगा।

"हमारा साधन-पथ योगियों के साधन मार्ग से पृथक है। जिस तरह ग्वाल बालक लाठी से हांक-हांक कर गौओं को गन्तव्य स्थल पर ले जाता है, उसी प्रकार योगी भी अपने चित्त को अपने लक्ष्य की ओर ले जाता है। किन्तु जो पथ मैं बतलाता हूँ, वह दूसरी तरह का है। यह पथ गाय को एक मुट्ठी घास से प्रलुब्ध करते हुए गन्तव्य स्थल पर ले जाने के समान है।"

भक्तों की भाव कल्पना और दर्शन-बिलास को महर्षि कभी प्रश्रय नहीं देते थे। अपने आदर्श और साधना-पथ की वे जितनी भी व्याख्या करते थे; उसका उद्देश्य था जिज्ञासुओं की जिज्ञासा मिटाना। केवल तत्वालोचन या उपदेश वर्षण उन्हें कदापि पसन्द नहीं था।

एक दिन किसी भक्त ने प्रश्न किया, "भगवान, मृत्यु के बाद मनुष्य की क्या अवस्था होती है ?"

महर्षि ने उत्तर दिया, "जीवित अवस्था में तो तुम्हें अपनी सत्ता का बोध नहीं है तब मृत्यु के उपरान्त या उसपार की खोज-खबर लेने की क्या आवश्यकता ?"

एक कौतुकी दर्शनार्थी ने पूछा कि इस पृथ्वी और मानव-सभ्यता का क्या भविष्यत् है ?"

महर्षि—"यह जानने के पहले अपने को जानो। संसार की बात पीछे होगी। अपने को जान लेने पर जगत को भी जान लोगे ; क्योंकि जगत और तुम एक हो।"

महर्षि आत्म-विचार पर विशेष महत्व देते थे। "मन की चिन्ता और समस्याओं को न बढ़ाकर एक-एक कर उन्हें विनष्ट करो। उन्हें निर्मूल करके फेंक दो।"

आत्मानुसंधान के संबंध में उन्होंने कहा, "आनन्द ही मनुष्य का स्वभाव धर्म है और आनन्द का उत्स आत्मा में है। स्वाभाविक भाववश मनुष्य जब आनन्द खोज करता है तो वह असल में आत्मा को ही खोजता है। आत्मा अखंड और अविनाशी है। इस आत्मा को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य निर्विच्छिन्न आनन्द का भोग करता है।"

महर्षि के अनुसार मनुष्य के मन में सर्वप्रथम 'मैं' का भाव उदित होता है। तत्पश्चात ही दूसरी चिन्ताएँ आती हैं। ऐसा न हो तो ये चिन्ताएँ जगेंगी नहीं। सर्वनाम का प्रथम पुरुष होता है "मैं" ही; इसके पहले "तुम" का उदय होता ही नहीं। मन के प्रवाह को पकड़ कर कोई "मैं" के उद्गमस्थल पर पहुँचे तो देखेगा कि जिस प्रकार "मैं" का भाव सर्वप्रथम उदित होता है उसी प्रकार सब के अन्त में वह विलीन होता है।

महर्षि कहते थे, इस "मैं" के उद्गम स्थल पर पहुँच जाने पर मनुष्य को महामुक्ति का लाभ मिल जाता है। इसके बाद होती है सच्चिदानन्द की परम अवस्था।

मन के भीतर ही इस जगत का बोध होता है। इसलिए रमण महर्षि कहते थे, 'जहाँ मन की उत्पत्ति होती है, वहीं मन को नष्ट कर दिया जाय, तब देखोगे कि आत्मज्ञान उद्भासित हो उठा है।

किन्तु मन का वास्तविक विनाश किस प्रकार होगा, इसका उपाय भी महर्षि ने साधनार्थी भक्त को बतलाया है। निरन्तर "मैं कौन हूँ" का अनुसन्धान एक मानसिक प्रक्रिया है और उसका चरम अन्त भी है। मन के विलय के साथ ही अनुसन्धान की प्रक्रिया का भी नाश हो जाता है। चिताग्नि को नियंत्रित करने के लिए जिस बाँस का इस्तेमाल किया जाता है, वह भी तो अन्ततः जल जाता है।[1]

---

१. टॉक्स विथ रमण महर्षि : रमणाश्रम

महर्षि के अनुसार, मन का नाश करने में विचार सहायक होता है। जब तक मन की क्रिया शेष नहीं हो जाती तब तक विचार की प्रक्रिया को जारी रखना आवश्यक है। शत्रु के किले के अन्दर सैनिकगण हैं। वे तुम पर आक्रमण करने के लिए बार-बार बाहर निकलते हैं। उनके आक्रमण के जवाब में, उनका विनाश जब तक नहीं हो जाता, कुछ-न-कुछ तो करना ही पड़ेगा अन्यथा शत्रु के दुर्ग पर अधिकार करना असम्भव ही रहेगा।

महर्षि द्वारा प्रचारित ज्ञान-साधना के मार्ग में कोई भी अनावश्यक जटिलता नहीं थी। वह सर्वजनीन भी थी। सभी धर्मों के लोग ज्ञानार्जन के लिए उनके सान्निध्य में आते थे और उनका आश्रय पा कर अपना जीवन धन्य करते थे। स्वप्रकाशित अध्यात्म-सूर्य की तरह वे सदा विराजमान थे और अगणित मुमुक्षुगण उनकी करुणा-दृष्टि का लाभ उठाते थे।

उनके अरुणाचल आश्रम में देश-विदेश के सैकड़ों दर्शनार्थी उनके पद-प्रान्त में आकर बैठते थे। उनके दर्शनमात्र से उनलोगों का रूपान्तर हो जाता था। उनकी दिव्य-दृष्टि और सान्निध्य से अनेक लोगों के ऊपर चामत्कारिक प्रभाव पड़ता था।

आत्मज्ञान की ज्योति से रमण महर्षि का जीवन उद्भासित होता रहता था। उनमें एक सर्वसत्ता की अखण्ड चेतना जागृत थी। उनके निकट जाति, धर्म और सैद्धान्तिक मतवाद की ग्रंथियाँ खुल जाती थीं और सब एकाकार हो जाती थी।

उन समदर्शी महापुरुष के निकट मनुष्यों के लिए किसी प्रकार का भेद-वैषम्य नहीं रहता था। उसी तरह जीव-जन्तुओं के प्रति भी वे भेद-भाव नहीं रखते थे। आस-पास के पशु-प्राणियों से उन्हें निविड़ आत्मीयता और एकाकारिता थी। वे भी उनको बड़े अपनापन से देखते थे और उन्हें आत्म-रूप ही समझते थे।

गिलहरियाँ कूद कर उनके बिस्तरे पर बैठ जाती थी। महर्षि उनके लिए भोजन का प्रबन्ध करके रखते थे। वे सब भी उनके हाथ से बादाम छीन कर ले भागती थीं।

उनके आश्रम का चिरकाल से नियम था कि भोजन बन जाने पर सर्वप्रथम वहाँ के कुत्ते को भोजन दे दिया जाय। पुकारने पर मयूरगण महर्षि के निकट नाचते हुए जुट जाते थे। उनके लिए भी आहार रखने की व्यवस्था थी।

लक्ष्मी गाय तो आश्रम की पालिता कन्या के समान महर्षि को प्रिय थी। प्रतिदिन मैदान में चरने के लिए लक्ष्मी को खोल दिया जाता था किन्तु जाने के पहले वह महर्षि के समीप जाती थी। महर्षि बड़े स्नेह पूर्वक उसकी पीठ सहला दिया करते थे तभी वह चरने निकलती थी।

आश्रम के कुत्ते चिन्ना कुरुप्पान और कमला के साथ महर्षि वैसा ही व्यवहार करते जैसा गृहस्थ के घर में, पिता पुत्र, कन्या आदि के साथ किया जाता था।

वन के बन्दरों के दल अपने सुख:दुख में महर्षि को लक्ष्य कर आश्रम में आते-जाते थे। इन सब जीव-जन्तुओं की भाषा तो महर्षि जानते नहीं थे किन्तु उनलोगों की आशा-आकांक्षा और आचरण के साथ उनका घनिष्ठ परिचय था। इनलोगों के शादी-व्याह, जन्म और मृत्यु के अवसर पर मनुष्योचित सभी संस्कार-अनुष्ठान वे सम्पन्न करते थे।

महर्षि के लिए उनका आश्रम एक रंगमंच मात्र था। काम-काज की भीड़ में, अतिथियों और दर्शनार्थियों के बीच में वे एक अभिनेता के रूप में विचारमग्न रहते थे। इस भूमिका में वे अनेक प्रकार के कौतुक किया करते थे।

एक दिन वे अपने कमरे में बैठे थे। आँगन में एक भिखारी खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न की भिक्षा माँग रहा था; किन्तु कोई आदमी इस दीन-मलिन व्यक्ति की ओर ध्यान नहीं दे रहा था। सब लोग विशिष्ट अतिथियों और साधु-संन्यासियों की देखभाल में व्यस्त थे।

जंगले के किनारे आकर महर्षि ने उस भिखारी को इशारे से बुलाया। लगता था, उसके साथ कोई गोपनीय बात करनी है। उसके निकट आने पर उन्होंने उस भिखारी को भिक्षा माँगने की कला बता दी। कहा, "अरे तुमतो एकदम मूर्ख हो। इस तरह से क्या भिक्षा मिलती है? मेरी सलाह सुनो। आज ही एक माला का जोगाड़ करो, शरीर पर के वस्त्र और झोली को गेरुआ रंग में रंग डालो। तब गम्भीर भाव से इस गली होकर सीधे आश्रम में घुस जाओ। सुग्गे की तरह भगवान के दो-चार नाम रटते रहो। फिर देखना यहाँ कर्मचारीगण कैसे तुम्हारे निकट दौड़े आते हैं और प्रचुर भिक्षा देते है। ऐसा नहीं करोगे तो देखना, केवल रोने-धोने से इस आश्रम में भले मन से कोई भिक्षा नहीं देता है।"

महाज्ञानी तपस्वी रमण को केन्द्र बनाकर आश्रम बन गया था। किन्तु वे स्वयं अरुणाचल के शिखर के समान उन्नत-शिर अनासक्त रहते थे। नीचे के कर्म-कोलाहल के पार जाकर वे अपनी महिमा में विराजमान रहते थे।

भ्रान्तबुद्धि साधकों के चैतन्योदय के लिए वे कभी-कभी कठोरभाषी भी होते थे। कड़ी बातों का प्रयोग करते थे।

एक दिन एक उर्ध्वबाहु संन्यासी आश्रम में आये। वे वहाँ एक सप्ताह तक रहे। वे अपना एक हाथ दिन-रात ऊपर उठाये रहते थे। यह उनकी कृच्छ्र-साधना का एक अंग था। आश्रम में आकर भी महर्षि के कमरे में नहीं गये। आंगन में बैठे-बैठे उन्होंने महर्षि को अपना प्रश्न भिजवाया, "मेरे साधन जीवन का भविष्य आज आपको बतलाना पड़ेगा।"

महर्षि ने उत्तर भेजा, "उसकी भविष्यत् अवस्था उसकी वर्त्तमान अवस्था की तरह ही है।"

तात्पर्य यह कि उर्ध्वबाहु होकर शरीर को व्यर्थ कष्ट देना महर्षि बिल्कुल ही नापसन्द करते थे। इसके अलावा उस संन्यासी के मन में प्रतिष्ठा पाने की प्रच्छन्न कामना भी थी। इससे भी महर्षि विरक्त थे।

एक बार एक विशिष्ट साधक महर्षि का दर्शन करने आये। उन्हें भारतीय दर्शन, पश्चिमी दर्शन तथा अध्यात्म शास्त्र पर समान अधिकार था। यहाँ आते ही वे अनर्गल भाव से अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने लगे। बहुत देर तक अपनी वक्तृता दिखलाने के बाद उन्होंने महर्षि से पूछा, "शास्त्र और साधकों ने विभिन्न प्रकार के साधन-पथ का निर्देश दिया है, तब आपकी किस बात को निभ्रान्त समझूँगा ? मैं किस मार्ग का अनुसरण करूँगा ?"

महर्षि ने उत्तर दिया, 'जिस राह से आये हो उसी राह से लौट जाओ।"

आगन्तुक ने बड़े खिन्न मन से कहा, "महर्षि के इस उत्तर से तो मुझे कोई सहायता नहीं मिलेगी। तब फिर यहाँ आने से क्या लाभ हुआ ?"

एक भक्त ने उन्हें समझाया, "महर्षि के कथन में उसका गूढ़ अर्थ छिपा है। विचारों के जिस प्रवाह को पकड़ कर आये हैं, उसे पीछे लौटा कर उसी रास्ते से मन के उद्गम-स्थल की ओर आप लौट चलें—यही महर्षि का इंगित था।"

एक अन्य भक्त मुँह घुमाकर हँस रहे थे। उन्होंने समझा कि महर्षि के संक्षिप्त दुमानिया वाक्य का कुछ दूसरा अर्थ था ; उन्होंने शायद इन विद्याभिमानी को यहाँ से लौट जाने को कहा है।

सुन्दरेश अय्यर महर्षि के एक पुराने भक्त थे। उन्हें बहुत दिनों तक रमण महर्षि के निकट रहने का सौभाग्य मिला था। एक बार उनके कार्यालय से आदेश आया कि सरकारी काम से उनकी दूसरे शहर में बदली हो गई है। वे बहुत खिन्न हो गये। यह बदली उनके लिए घोर कष्ट-प्रद था। महर्षि की शरण में गये बिना उनका क्या बचाव था ?

उन्होंने जाकर महर्षि से कहा, "चालीस वर्षों तक महर्षि के सान्निध्य में रहने के बाद आज मुझे अन्यत्र जाना पड़ रहा है; किन्तु वहाँ जाकर मैं कैसे रहूँगा ?"

तत्काल महर्षि ने सब लोगों को निकट बुलाकर कहा, "तुमलोग जरा अय्यर की अद्भुत बात तो सुनो। चालीस वर्षों तक मेरा उपदेश सुनने के बाद आज वह कहता है, वह मुझसे दूर चला जा रहा है।"

इस श्लेषपूर्ण वाक्य द्वारा महर्षि ने अपने स्वरूप और अपनी साधना के मर्म पर प्रकाश डाला। नित्यवस्तु-स्वरूप सद्गुरु की सत्ता के स्तर पर वे सर्वत्र विराजमान हैं। दूसरे जिन शिष्यों ने इतने दिनों तक आत्मोपलब्धि की साधना की है, उन्हें महर्षि की देह के सान्निध्य से बिछुड़ने पर इतना चंचल नहीं होना चाहिए।

ई० १९५० में महर्षि के शरीर में एक विषाक्त अर्बुद (ट्युमर) निकला। अनेक दवाएँ हुईं, चीरा भी लगाया गया, जो कुछ करणीय था सब किया गया, किन्तु रोग छूटा नहीं। शिष्यों ने समझ लिया कि इस बीमारी के बहाने महर्षि अब शरीर छोड़ना चाहते हैं।

उनकी हालत तेजी से बिगड़ती गई। गुरु के स्वास्थ्य लाभ के लिए भक्तों ने आश्रम में नाम–कीर्त्तन और शास्त्र-पाठ शुरु किया। किसी भक्त ने एकान्त में महर्षि से पूछा कि क्या इन सब से कोई लाभ होगा ? क्या महर्षि इन सब के फलस्वरुप नीरोग हो जायेंगे ?"

किंचित मुस्कराते हुये महर्षि ने कहा, "देखो सत्कर्म में लगा रहना हमेशा अच्छा है। यह सब जो हो रहा है: उससे नुकसान ही क्या है ?"

रोग से चेहरा पीला पर गया, किन्तु उनके चेहरे की हँसी नहीं गयी। तीव्र यंत्रणा के बावजूद वे अपने भाव प्रवण शिष्यों से हँसी-मजाक करने से नहीं चूकते थे।

अपने गुरु के घाव को देखकर एक महिला भक्त अधीर हो गयीं और कमरे से बाहर आकर खंभे पर जोर-जोर से माथा पटकने लगीं।

जब महर्षि की नजर उस पर पड़ी तो उनकी आँखों में हँसी चमकने लगी। उन्होंने कहा, "तुमलोग उससे कहो कि मैं अब तक समझ रहा था कि वह नारियल फोड़ रही है।"

महर्षि की अवस्था दिनोंदिन बिगड़ती ही जा रही थी। भक्तगण कातर भाव से निःश्वास छोड़ते और असहाय की तरह महर्षि की ओर देखते।

सब लोगों को समझाने के उद्देश्य से महर्षि ने एक दिन कहा, "समझ लो कि यह देह केले के पत्ते की तरह है। उस पर अनेक प्रकार के रुचिकर भोजन परोस कर लोग खाते हैं और खाने के बाद पत्ते को बटोर कर फेंक देते हैं। उनको कोई आदमी संचित करके नहीं रखता। फिर इस देह के लिए दुःख क्यों?"

संपूर्ण आश्रम पर विषाद की गहरी छाया मँडरा रही थी। सब लोग भीतर ही भीतर रो रहे थे। कौन उनलोगों को ऐसा आश्रय देगा?

एक दिन सब लोगों को सांत्वना देने के लिए महर्षि ने कहा, "देखता हूँ, तुम लोग इस देह को अत्यधिक महत्व दे रहे हो। सब लोग कहते हैं, मैं मर रहा हूँ। किन्तु मैं तो सचमुच जा नहीं रहा हूँ। जाऊँगा भी तो कहाँ? मैं तो सर्वदा यहीं रहूँगा।"

अगले दिन महर्षि के महाप्रस्थान का दिन था। पीड़ा घटाने के लिए डाक्टर एक नयी दवा देने जा रहा था। महर्षि ने संक्षेप में ही कहा, "बस करो! अब इस देह के लिए कुछ करने का प्रयोजन नहीं। चिन्ता की कोई बात नहीं है, दो दिनों के भीतर सब कुछ ठीक हो जायगा।"

अन्तरंग भक्त गण चौंक पड़े। उन्हें समझने में देर नहीं लगी कि चिर विदा का लग्न उपस्थित है।

ई० १९५० का १४ एप्रील। शोकाकुल हृदय से भक्तगण महर्षि की शय्या को घेर कर खड़े हैं। महर्षि परम स्नेह से सबको देख रहे हैं जैसे वे उनके चिरकालीन साहचर्य और सेवा-शुश्रूषा की मौन स्वीकृति दे रहे हों। फिर धीर कंठ से कहने लगे, "अंगरेजी भाषा का शब्द है, 'थैंक्स' और हमलोग कहते हैं 'संतोषम'।

धीरे-धीरे रात का अंधकार अरुणाचल के आकाश पर छा गया। उमड़ते हुए आँसुओं को सम्हाल कर भक्तों का एक दल बरामदा में बैठा है और सब मिलकर स्तव गान गा रहे हैं, 'अरुणाचल शिव'।

रात का करीब नौ बज रहा था। क्षण भर के लिए महर्षि की अतल स्पर्शी आँखें चमकीं, फिर जीवन-नाटक का पर्दा चिरकाल के लिए गिर गया।

प्राणवायु के उत्सर्ग होने के क्षण में एक अलौकिक दृश्य लोगों ने देखा कि एक उज्ज्वल नक्षत्र आश्रम के ऊपर से निकल गया और उर्ध्वाकाश के निस्सीम विस्तार में खो गया। महर्षि के अन्तिम समय का चित्र लेने के लिए एक फ्रांसिसी प्रेस फोटोग्राफर व्याकुल चित्त से बरामदे में चहल कदमी कर रहा था। वह उस धावमान नक्षत्रालोक को देखकर चौंक गया। आश्रम के अनेक लोगों ने इस दृश्य को देखा। वहाँ से दूर मद्रास में भी लोगों ने उस प्रकाश की झलक देखी थी।[1]

बहुत वर्ष पहले अरुणाचल ने अपने इशारे से बालक रमण को बुला लिया था और अपनी गोद में उसे आश्रय प्रदान किया था। क्या साधन और सिद्धि के समाप्ति के बाद रमण अरुणाचल की ही परम सत्ता में लीन हो गये ?

अपने 'अरुणाचल अष्टकम' में महर्षि रमण तेजोलिंगम अरुणाचल की महिमा गा गये हैं—[2]

"— सागर का जल सूर्य किरणों और वायु के सहारे ऊपर चला जाता है और फिर मेघ वर्षा के सहारे पर्वत–शृंगों और उपत्यकाओं में उतर आता है। वहाँ से अपने उद्‌गम स्थल सागर में लौट जाता है। वहीं उसको चरम विश्राम प्राप्त होता है।

'— बगुलों की पाँत आकाश में पंख फैलाकर दूर दिगन्त में चली जाती है। फिर वह अपने आश्रय स्थान पर लौट आती है।"

'हे पवित्र शैल, सृष्टि के आदिकाल में जो सूक्ष्म आत्मा एक दिन तुमसे आविर्भूत हुई थी, उसको फिर तुम्हारे ही भीतर उस महासत्ता में लौट जाना पड़ेगा। हे परमानन्द स्वरूप ! तुम्हीं में वह अपनी शरण लेगा, चिर विश्राम लेगा। तुम्हारी ही गंभीरता में वह डूब जायगा। तुम्हारी ही अमृतधार के साथ वह पिघलकर मिल जायगा और तुम्हारे साथ-साथ वह बन जाएगा अद्वैतस्वरूप।"[3]

उसी अद्वैतस्वरूप में महर्षि उस दिन विलीन हो गए।

---

१. रमण महर्षि: ए० ऑसबोर्न

२. सत्दर्शन भाष्य (रमण गीतावली), रमणाश्रम

३. सत्दर्शन भाष्य—(रमण गीतावली), रमणाश्रम

सिद्ध जयकृष्ण दास

"बाबा जी, श्रो बंगाली बाबाजी। खाना-पीना छोड़कर प्राण क्यों दे रहे हो ? यह कैसी बात है ? अरे थोड़ा-सा दूध तो पी लो। मेरी बात तो सुनो।"— काम्य वन के गहन अंचल में, झोपड़ी के सामने खड़ी व्रज माई बार-बार अनुनय कर रही है।

व्रजमण्डल के इस वन में कृच्छ्रव्रती वैष्णव साधक जयकृष्ण कई दिनों से ध्यान मग्न हैं— नीरव-निस्पन्द तथा वाह्य ज्ञान रहित। दिन पर दिन ऐसे ही कट रहे हैं। इसी कारण यह पुकार उनके कानों में नहीं पड़ी।

अब रमणी की चीख-पुकार तथा शोरगुल शुरू हुआ। ध्यान भंग हो गया तथा जयकृष्ण ने धीरे-धीरे नयन उन्मीलित किया। अवसर पाकर रमणी ने उनके मुख-विवर में पात्र स्थित दुग्धराशि उड़ेल दी।

साथ ही साथ जयकृष्ण के दोनों नेत्रों से अश्रुधारा झरने लगी। सिसकते हुए वे कहने लगे, "माई' यह तुमने क्या कर डाला। इस तुच्छ शरीर को जीवित रखने के लिए दुर्लभ लीला-दर्शन में तुमने व्यवधान डाल दिया ?"

दृढ़ स्वर में व्रजवासिनी कह उठी, "सुनो बाबा जी, श्रीमती का मुझे आदेश है। इस काम्य वन में आकर तथा उपवासी रह कर कोई साधु शरीर-पात न करे। देह के आधार की रक्षा करके ही तो उससे भजन सिद्धि के परम रस को पकड़ सकोगे। तू चिन्ता न कर, राधा-कृष्ण जी की नित्य लीला का तू जीवन भर दर्शन कर सकेगा। मैं कहती हूँ— तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।"

स्वर्गीय हंसी की आभा बिखेरती हुई ब्रज माई झोंपड़ी से निकल आयी और अकस्मात् गम्भीर अरण्य में कहीं अदृश्य हो गयी ।

साधक जयकृष्ण की सारी सत्ता पूर्व अनास्वादित, अप्राकृत आनन्द की तरंगों पर बार-बार हिचकोले खाने लगी । सोचने लगे, कौन है यह ब्रज-वासिनी ? ये तो मानवी नहीं हैं ? फिर क्या वे इस सिद्धप्रद काम्य वन की अधिष्ठात्री देवी हैं ? या कोई देवी कृपा करके सशरीर आविर्भूत हुई हैं ?

कठोर साधना से शरीर क्लान्त हो रहा है । विश्राम की आवश्यकता है । झोपड़ी के बीच में जयकृष्ण लेट गये तथा थोड़े ही समय में प्रगाढ़ निद्रा से अभिभूत हो उठे । इस समय उन्होंने स्वप्न के माध्यम से देखा, कि ज्योतिर्मण्डल की मध्यवर्त्तिनी एक दिव्य नारी मूर्ति उनकी ओर देखकर स्नेह-मधुर हँसी हँस रही है ।

देवी ने उनसे कहा, बाबा जी, मुझे तुम उस समय पहचान नहीं पाये । मैं वृन्दा देवी हूँ । जो बात मैं तुमसे कह आयी हूँ, उसे सत्य होना ही है । मधुर भजन के जिस परम साधना के तुम व्रती हो, वह सफल होगी । गुरु के आदेश से तुमने काफी दिनों तक कृच्छ्र व्रत भी किया । अपनी वैष्णवीय साधना के अन्तिम चरण में तुम काम्य वन में आये हो । अब राधारानी की कृपा पाने में तुम्हें अधिक विलम्ब नहीं है । फिर भी, बच्चा, तुम्हें यहाँ की साधना में कठोरता की अब आवश्यकता नहीं होगी ।"

अल्प काल में ही साधक जय कृष्ण आप्तकाम हो गये । रागानुगा भजन सिद्धि उन्हें हस्तगत हो गयी । उसके बाद धीरे-धीरे मात्र काम्यवन के साधुओं में ही नहीं, वरन् सारे ब्रजमण्डल में इन गौड़ीय वैष्णव के साधन ऐश्वर्य की ख्याति प्रचारित हो पड़ी । उसके बाद उच्च कोटि के वैष्णव साधक गण के दल के दल भी उनके चरणों में आकर आश्रय लेने लगे । इनमें उल्लेखनीय थे— गोवर्धन के कृष्ण दास, सूर्य कुण्ड के मधुसूदन दास इत्यादि भक्ति सिद्ध बाबा जी लोग ।

साधक जयकृष्ण के ऊपर गुरु के दो आदेश थे । उन्होंने कहा था, "वत्स, प्रेम साधना का श्रेष्ठ फल पाने के लिए, रागानुराग भजन की परमप्राप्ति के लाभ हेतु, देह-मन को पहले से ही वैराग्य की अग्नि में दग्ध कर देना होगा । सनातन गोस्वामी को आदर्श मानकर कृच्छ्र साधना करनी होगी, जिन्होंने साधन-जीवन के प्रथम चरण में, एक वृक्ष के नीचे, एक रात्रि से अधिक व्यतीत नहीं किया । तथा जिसका प्रतिदिन का आहार— सूखी अर्धदग्ध आंगाकढ़ी

आज भी मदन मोहन के प्रधान भोग प्रसाद के रूप में गण्य है। परमाराध्य गुरु का दूसरा निर्देश था, "जय कृष्ण, बारहवर्षों के कृच्छ्र साधना के बाद तुम्हें काम्यवन में जाकर ध्यान-भजन करना है। यह क्षेत्र, बहुत से सिद्ध तपस्वियों की तपस्या से पवित्र हो चुका है। वहीं तुम्हारे द्वारा प्राथित परम-वस्तु का तुम्हें लाभ होगा।"

साधक जयकृष्ण ने इस आदेश का अक्षरशः पालन किया था। कठोर ब्रह्मचर्य, दैन्य एवं वैराग्य के साधन के उपरान्त अब वे व्रजमण्डल के काम्यवन क्षेत्र में आकर उपस्थित हुए हैं। वैष्णवीय साधना के परम साफल्य के द्वार पर वे आकर खड़े हुए, तथा उनके त्याग-तपस्यापूत साधन-जीवन में सिद्ध देह से नित्य लीला के नित्य दर्शन का विरल सौभाग्य उपस्थित हुआ। अठारहवीं सदी के अंतिम दो चरणों में, काम्यवन के सिद्ध बाबा के रूप में, वैष्णव-समाज में वे विख्यात हो गये हैं। वे अनेक वैष्णव साधु एवं भक्त गृहस्थों के आश्रयदाता भी हो गये हैं।

अठारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, पश्चिम बंग के एक साधननिष्ठ वैष्णव-परिवार में सिद्ध बाबा जयकृष्ण दास ने जन्म ग्रहण किया। पूर्व सात्विक संस्कार एवं अपने घर के भजन-साधनामय परिवेश ने बाल्यकाल से ही उनके जीवन को कृष्णमय बना डाला था। उसके बाद उत्तरकाल में व्रजमण्डल के परम पवित्र काम्यवन में उपनीत होकर दुःसह कृच्छ्र एवं भजनमय तपस्या के व्रती हुए। सौभाग्य क्रम से उन्हें सद्गुरू के दर्शनों का लाभ भी इसी काम्यवन के एक एकान्त क्षेत्र में हुआ, और यहीं उनके द्वारा गुरु निर्देशित मार्ग पर साधना करके उन्हें इष्टदेव व्रजेन्द्रनन्दन एवं महाभावमयी प्यारी जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

एक बार काम्यवन के विचेल्लीवास नामक एक निर्जन स्थान पर वे भजन-साधना में रत थे। बाबाजी के साधन-ऐश्वर्य की ख्याति सुन कर ढाका नगरी के नित्यानन्द वंश से उद्भूत एक भक्त वैष्णव, नवकिशोर गोस्वामी, उनकी कुटिया में आकर उपस्थित हुए। उनके साथ उनके उपास्य विग्रह श्री राधा-मदन मोहन भी थे। कई दिनों तक बाबा से सत्संग के बाद गोस्वामीजी देश जाने को उद्यत हुए। अकस्मात्, उस दिन, उनके इष्ट विग्रह ने स्वप्न के माध्यम से आदेश दिया, "अरे गोस्वामी, मैं तुम्हारी इतने दिनों की सेवा से पूर्ण-रूप से संतुष्ट रहा हूँ इसमें संदेह नहीं। परन्तु अब यहाँ से वापस जाने की मेरी इच्छा नहीं हो रही है। मैंने निश्चय किया है कि कुछ दिनों तक, जयकृष्ण बाबाजी की ही सेवा ग्रहण करूँगा।"

नवकिशोर चौंक पड़े। ठाकुर के मुख से यह कैसी अकस्मात् विच्छेद की बात? अत्यन्त दुःखी होकर उन्होंने कहा, "प्रभु, इतने दिनों तक अपनी क्षमता के अनुसार मैंने सेवा की है, यह तो मेरा परम सौभाग्य ही रहा है। अब, तुम मुझे छोड़ कर जाना चाहते हो तो जाओ। किन्तु इस दरिद्र वैष्णव की कुटिया में, जन-मानवहीन, इस वन में, तुम्हारी सेवा-पूजा किस तरह चल सकेगी, यह सोच नहीं पा रहा हूँ।"

"चिंता न करो, यह दरिद्र वैष्णव, मुझे ही अपना परम काम्य धन समझ कर इतने समय से तपस्या करता आ रहा है। उसकी सेवा से मुझे कष्ट क्यों होगा? यहाँ की व्रजबालाएँ मेरी देखभाल ठीक से ही करेंगी। इसके अलावा, असल बात क्या है, तुम जानते हो? मेरी सेवा-पूजा में व्यस्त न रहने पर तुम्हारे सिद्ध बाबाजी का शरीर नहीं रह पायगा। इस शरीर से मेरे भक्तों को कार्य है। नवकिशोर, तुम दुःख न करो। मैं इस बार यहीं रुक जाता हूँ।"

इस आदेश की बात सुनकर जयकृष्ण बाबाजी के आनंद की सीमा नहीं रही। दूसरे ही दिन परम उत्साह के साथ उन्होंने श्री-विग्रह के लिए एक नयी कुटिया तैयार कर डाली। अब उनके बंधनहीन एकाकी तपस्यामय जीवन में इष्ट सेवा एवं जन-कल्याण का दौर प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे बाबाजी महाराज के व्यक्तित्व एवं साधना को केन्द्र करके निगूढ़ रागात्मिका भजन की एक वैष्णव-गोष्ठी का गठन हो गया।

थोड़े ही दिन बाद की बात। एक तरुण वैष्णव साधक बाबाजी के भजन-कुटीर के द्वार पर उपस्थित हुए। उनकी एकमात्र इच्छा थी कि सिद्ध बाबाजी की सेवा-परिचर्या में ही समय व्यतीत कर, अपना जीवन धन्य करेंगे। भगवान ने ही मानो आज सुयोग प्रदान कर दिया। नव-लब्ध विग्रह राधामदनमोहन की सेवा का दायित्व इनके ऊपर सौंप कर बाबाजी महाराज निश्चित हो सकेंगे। श्री विग्रह एवं सिद्ध बाबा-दोनों की ही सेवा का भार तरुण वैष्णव ने निष्ठापूर्वक अपने ऊपर ले लिया। अंततः बाबाजी महाराज की कृपालाभ में भी इस एकनिष्ठ सेवक को अधिक विलम्ब नहीं हुआ।

थोड़े ही दिनों बाद बाबाजी ने एक दिन प्रसन्न-मधुर स्वर में कहा, 'बाबा, तुम निगूढ़ कृष्ण-भजन के योग्य अधिकारी हो। तुम्हें मैं रागानुगा साधन-पद्धति की शिक्षा दूँगा। परन्तु पहले यह जानना आवश्यक है कि तुम्हारी गुरु-प्रणाली क्या है? वह तुम्हें ज्ञात है या नहीं?"

तरुण वैष्णव ने विस्मयपूर्वक उत्तर दिया, "प्रभु, इस विषय में तो मैंने कभी कोई जिज्ञासा नहीं की।"

साधना के मार्ग पर, परंपरानुसार सिद्ध गुरुदेव का आनुगत्य स्वीकार करना होता है– कृपादत्त मंत्र का साधन करना होता है, और उन्हीं के द्वारा प्रदर्शित पथ अनुसरण करके सिद्ध गोपीरूपा मंजरी देह से सेवा करना होता है– यही है प्रकृत रागात्मिका भजन का मार्ग। बाबा, एक बार तुम देश वापस चले जाओ, तथा अपने गुरुदेव के पास से गुरु प्रणाली का संधान लेकर आओ! ऐसा न करने पर श्री राधागोविन्द के प्रेम-सेवा के अधिकारी होने में तुम्हारे लिए कठिनाई होगी।"

सेवक-वैष्णव बाबाजी को छोड़ कर जाना बिलकुल ही नहीं चाहते थे। परन्तु कोई उपाय भी नहीं था। बाबाजी के दबाव के कारण उन्हें अंततः देश की ओर रवाना होना पड़ा।

उन दिनों मथुरा तक रेल लाइन नहीं आयी थी। बंगाल जाने के लिए, यात्रियों को हाथरस में आकर गाड़ी पकड़नी होती। वैष्णव, पदयात्रा करते हुए स्टेशन की ओर चले अवश्य, परन्तु बाबाजी को छोड़ कर जाने के कारण, उनका हृदय हाहाकार कर उठा।

मार्ग का अतिक्रमण करते-करते उन्होंने साश्रुनयन राधारानी एवं वृन्दादेवी के चरणों में प्रार्थना की कि गाड़ी तक पहुचने से पहले ही उनके नश्वर जीवन का अवसान हो जाय।

रास्ते में अनेक कारणों से विलम्ब हो गया, और स्टेशन पहुँच कर उन्होंने सुना कि गाड़ी दूर जा चुकी है। हृदय पर से मानो एक बोझ उतर गया। ऐसा सोच कर कि उनकी जान बच गयी, वे जल्दी-जल्दी काम्यबन में वापस आ गये।

इधर बाबाजी महाराज द्रुतगति से अपने भजन-कुटीर के सामने पाँवचारी कर रहे थे, और सेवक वैष्णव के प्रत्यागमन की आशा में अधीर होकर प्रतीक्षा कर रहे थे।

क्षुधा-तृष्णा से कातर एवं पथ-श्रान्त-सेवक धीरे-धीरे कुटीर के प्रांगण में आकर खड़े हुए। अंतर उत्कंठा तथा भय से परिपूर्ण था। आशंका थी कि सिद्ध बाबाजी क्रोध में उन्हें बाहर ही निकाल देंगे। परन्तु अकस्मात, एक विचित्र काण्ड घट गया। बाबाजी ने दौड़ते हुए आकर उन्हें परम

स्नेहपूर्वक आलिंगनबद्ध कर लिया, और बार-बार अपने हृदय से आशीर्वाद देने लगे ।

थोड़ी ही देर बाद बाबाजी के मुख से सारी कहानी सुन कर, तरुण सेवक के विस्मय तथा आनंद की सीमा नहीं रही । गत रात्रि वृन्दादेवी ने बाबा जी को स्वप्न में दर्शन दिया था, उन्हें तीव्रता से तिरस्कृत किया था, "तू क्यों उसे निष्ठुरतापूर्वक दूर भेज रहा है ? उसकी गुरुप्रणाली तो तुम्हारे श्रीविग्रह के सिंहासन के नीचे रखा हुआ है । जाओ, जल्दी से उसे खोज कर देख लो ?"

बाबा जी हड़बड़ा कर उसी समय ठाकुर के आसन की ओर चले गये । उन्होंने विस्मयपूर्वक देखा, स्वप्नादेश के अनुरूप उनके इस सेवक के गुरुप्रणाली का पत्र वहाँ यत्नपूर्वक रखा हुआ है । इस अलौकिक कृपा-दर्शन के फलस्वरूप उनके दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रु बह चले । वृन्दादेवी के चरणों में वे विनती करने लगे, "ओ कृपामयी, मेरे सेवक शिष्य को शीघ्र वापस ला दो ।"

उसके बाद हाथरस स्टेशन पर गाड़ी न मिलने की घटना जिसके कारण तरुण वैष्णव सानन्द वापस आ गये हैं । उन्हें सिद्ध बाबा से विच्छेद नहीं सहन करना पड़ा जिससे उनको महान आनंद था ।

शीघ्र ही इस घटना की बात व्रजमण्डल के साधु-संतों की गोष्ठी में प्रचारित हो गयी । इसके बाद से ही जयकृष्ण दास बाबाजी का 'सिद्ध' नाम विशेषरूप से प्रचारित हो गया ।

बाबाजी महाराज, काम्यवन के विमलाकुण्ड के तट पर बैठ कर भजन-साधन में रत हैं, और मुमुक्षु साधक एवं दर्शनार्थीगण के दल के दल इन समर्थ महावैष्णव के दर्शन हेतु आते रहते है । उनकी स्नेहमय उपदेशवाणी तथा आशीर्वाद पाकर सभी कृतार्थ होते हैं ।

कृष्णदास बाबाजी, गोवर्धन के विख्यात भजन-सिद्ध वैष्णव थे । साधन-जीवन के अंतिम चरण में वे प्रवीण साधक जय कृष्णदास बाबाजी से उपदेश लाभ करके अत्यन्त उपकृत हुए थे । किसी समय कृष्णदास जी जयपुर में निवास करते एवं जाग्रत विग्रह गोविन्दजी की सेवा-पूजा निष्ठापूर्वक संपन्न करते । एक दिन अत्यन्त समारोह के साथ जयपुर राज की एक विशेष पूजा अनुष्ठित हुई । भोग-प्रसाद की व्यवस्था भी बड़े सुन्दर ढंग से थी । पूजा की समाप्ति पर कृष्णदासजी ने अन्यान्य सेवकों के साथ महाप्रसाद ग्रहण किया ।

परन्तु शीघ्र ही उनके शरीर तथा मन में एक महान उपद्रव शुरू हो गया। उनके भजननिष्ठ शरीर में काम का प्रचण्ड वेग बार-बार आने लगा। साधक कृष्णदास बाबाजी बहुत भीति विह्वल हो पड़े। इस विपत्ति में वे क्या करें तथा किसके पास जाएँ, वह सोच भी नहीं पा रहे हैं। अकस्मात्, उन्हें काम्यवन के सिद्ध बाबाजी की बात स्मरण हो आयी। जल्दी-जल्दी वे जयपुर से उनकी शरण में आ गये।

आर्त स्वर में उन्होंने सिद्ध जयकृष्ण दास के समक्ष निवेदन किया, "बाबाजी, दीर्घकाल तक मैं गुरु के निर्देशानुसार साधन करता रहा। अपनी जानकारी में मैंने कभी कोई अनाचार का कार्य नहीं किया, फिर आज मेरा यह दुर्भाग्य कैसा? प्रसाद ग्रहण के बाद भी मेरे चित्त में वह कामरिपु का जघन्य उत्पात कैसा? फिर क्या यह समझना चाहिए कि मेरी साधना में कहीं गंभीर त्रुटि अथवा विच्युति हो गयी है? इसके अलावा, मेरे मन में एक और प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। मैंने सुना है, प्रसाद चिन्मय वस्तु है। परन्तु उसके ग्रहण करने के बाद मेरी यह दुरवस्था कैसी? क्या मेरे जैसे अभागे में महाप्रसाद के चिन्मयत्व में भी व्यतिक्रम हो गया?"

स्नेहपूर्ण स्वर में सिद्ध बाबाजी ने उत्तर दिया, "जानते हो बाबा, जीव विषय के क्लेश एवं पंक में दिन-रात डूबा हुआ है। भक्ति की अग्नि में क्या वह सहजरूप में जल उठना चाहता है? साधक को पहले कठोर संयम एवं तपस्या के माध्यम से शरीर तथा मन को सुखा देना होता है। तभी अग्नि की कृपा दृष्टिगोचर होती है। महाप्रभु तो स्वयं ही कृच्छ्र व्रत साधन के माध्यम से जीव को यह तत्व सिखा गये हैं। सर्दियों में भी तीन बार स्नान, भूतल-शयन—यही उनके संन्यास जीवन का चिरआचरित अभ्यास था। तुम्हारी इस अवस्था में साधन-कठोरता में जरा-सी ढील देने पर सर्वनाश हो सकता है। राजा द्वारा प्रदत्त भोग—महाप्रसाद तो अवश्य है, परन्तु उसे तुमने भर पेट खाया क्यों, बाबा? अगर विषयी द्वारा निवेदित प्रसाद खाना ही है तो, उसे कणमात्र ही खाना चाहिये और उसे भी तुलसी मंजरी से स्पर्श करा कर।"

"परन्तु, बाबाजी, महाप्रसाद तो चिन्मय है, उसे खाकर ऐसा अनर्थ हुआ ही क्यों?"

"महाप्रसाद चिन्मय है, इसमें संदेह कैसा? परन्तु इस चिन्मय को उसके स्वरूप में ही ग्रहण करने की क्षमता क्या तुमने अर्जित की है? बाबा, जैव

देह की खुराक के हिसाब से कभी महाप्रसाद ग्रहण नहीं करना। उससे पाप होगा, और शरीर के दुर्योग का भी अंत नहीं रहेगा।"

कृष्णदास ने उनके चरणों में गिर कर आत्मसमर्पण किया। नवीन साधक को स्नेहपूर्वक वक्ष से लगा कर जयकृष्ण बाबा ने कहा, "बाबा, अब तुम जयपुर में विषयी लोगों के पास वापस मत जाओ। यहीं दोमन वन में निवास करते हुए तुम भजन शुरू करो। शीघ्र ही तुम महाप्रभु की कृपा संपदा के अधिकारी होगे।"

सिद्ध बाबाजी के आशीष एवं उपदेश के फलस्वरूप, यही कृष्णदास बाबाजी, उत्तरकाल में एक भक्तिसिद्ध साधन के रूप में परिणत हो गये, तथा गोवर्धन के सन्निकट अपना भजन-आसन स्थापित करके बहुत से ममुक्षुओं के आश्रयदाता हुए।

जय कृष्णदास बाबाजी के प्रेमभक्ति की सिद्धाई के विषय में, व्रजमण्डल में नाना जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं। प्रसिद्ध वैष्णव साधक तथा आचार्यगण, बीच-बीच में, काम्यवन आकर इन महात्मा से रागानुगा साधक का दिग्दर्शन ले जाते तथा वैष्णवशास्त्रों के निगूढ़ तत्वों की विवेचना इनके श्री-मुख से श्रवण करते। इन अवसरों पर प्रेम-तत्वों की व्याख्या आरंभ होने पर सभी विस्मयपूर्वक देखते कि सिद्ध बाबाजी के मात्र शरीर के रोम ही नहीं, वरन् मस्तक की केशराशि भी प्रेमविकार के फलस्वरूप काँटों के जैसे खड़े हो जाते। भक्त एवं अभ्यागतगण, इस अलौकिक प्रेम-विकार के दृश्य की ओर निर्निमेष देखते ही रह जाते।

एक बार एक विशेष उत्सव के उपलक्ष में वृन्दावन के एक दल उच्च-कोटि के वैष्णव साधु एवं आचार्य सिद्ध बाबा की कुटिया के निकट एकत्रित हुए हैं। साधु और आचार्यगण, भजन कुटीर में प्रवेश करके महात्मा के साथ तत्वालोचना में रत हैं, तथा आंगन में उच्च स्वर से अविराम नाम-कीर्तन चल रहा है। थोड़ी ही देर नाम-श्रवण के पश्चात्, सिद्ध बाबा, दिव्य भाव से उद्दीप्त हो उठे, और प्रेम प्रमत्त होकर उन्होंने एक प्रचण्ड हुँकार किया। सभी उपस्थित लोगों ने विस्मय पूर्वक देखा, कुटीर का छप्पर उस हुँकार के फलस्वरूप फट गया।

एकान्त वासी बाबा जी महाराज को लोगों का आना जाना, विशेष कर विषयी लोगों का संपर्क, बिलकुल पसन्द नहीं करते। सनातन के वैराग्य साधन को लम्बी अवधि तक अनुसरण करने के कारण, वित्तवान व्यक्ति अथवा राजे-महराजों को टाल देना ही उनका बराबर का अभ्यास था।

एक बार एक विचित्र घटना हो गयी। बाबा जी महाराज का साधन स्थल, काम्यवन, भरतपुर महाराजा के अधिकार क्षेत्र में था। ये राजा अत्यन्त वैष्णव सेवा परायण थे। इतने बड़े एक सिद्ध वैष्णव उनके राज्य में निवास कर रहे हैं, तथा वे उनके दर्शन एवं आशीर्वाद लाभ नहीं कर पा रहे हैं, यह बड़े खेद का विषय है। सर्व प्रथम बाबाजी को प्रासाद में लाने की पूरी चेष्टा हुई, जो कि व्यर्थ गयी। उसके बाद भरतपुर-राज ने दीनता पूर्वक आवेदन कराया कि वे स्वयं बाबा जी की कुटिया में उपस्थित होकर उनके कृपा की याचना करेंगे। परन्तु यह आवेदन भी ग्राह्य नहीं हुआ। अकिंचन वैष्णव साधक, विषयी राजा के संपर्क से सर्वदा अपने को सतर्कता पूर्वक दूर ही रखना चाहते हैं।

एक दिन जय कृष्ण बाबा जी, भिक्षा के लिए निकटवर्ती ग्रामों में गये हुए हैं, इसी बीच भरतपुर-राज एक वैष्णव भिखारी के छद्म वेश में उनके भजन कुटीर में प्रवेश करके एक कोने में चुपचाप बैठ गये। उद्देश्य मात्र इतना ही था, कि बाबा जी महाराज जब वापस लौटें, उस समय वे उनके चरण पकड़ कर विनती करेंगे तथा कृपा भिक्षा की याचना करेंगे।

राजा का यह मनोभाव सर्वज्ञ वैष्णव महात्मा के लिए अंजाना नहीं रहा। भिक्षापात्र लिए हुए वन में उस दिन प्रवेश करते ही उन्होंने चतुराई का सहारा लिया। उच्च स्वर में वे ग्राम वासियों से कातर प्रार्थना करने लगे।

सभी को पुकार कर वे कहने लगे, "भाई लोगों, सुनो, मेरे भजन कुटीर में आग लग गयी है। तुम सभी दया करके वहाँ जुट जाओ तथा किसी तरह आग बुझा डालो।"

गाँव के बहुत से लोग भागते-दौड़ते, बाबाजी के आश्रम पर जाकर उपस्थित हुए। परन्तु यह कैसा काण्ड! अग्नि का तो प्रकोप कहीं भी नहीं है। उन लोगों ने विस्मय पूर्वक देखा कि बाबा जी की कुटिया में भरतपुर के राजा दीन वेश में बैठे हुए हैं। किसी को यह समझने में कठिनाई नहीं हुई कि सिद्ध जयकृष्णदास जी छल करके राज संस्पर्श से दूर रहना चाहते हैं। मात्र इतना ही नहीं, सारे लोगों के समक्ष राजा बहादुर की उपेक्षा करके, उनकी भक्ति निष्ठा की भी जांच उन्होंने की।

भरतपुर के महाराज भक्त एवं वैष्णव सेवा परायण थे। इसी कारण सिद्ध बाबा जी की इस छलना से उन्होंने अपने को अपमानित महसूस नहीं

किया। राज संपदा एवं प्रतिष्ठा के कारण इन महावैष्णव के समक्ष वे नगण्य व्यक्ति थे—इसी चिन्ता के कारण उनके अंतर की आर्ति एवं दैन्य और भी प्रबल ही हो गया था। कुछ दिनों के बाद ये राजा सिद्ध बाबाजी का आशीर्वाद पाकर धन्य भी हुए।

जीवन के अंतिम चरण में बाबाजी ने जीवन के सारे बन्धनों का त्याग कर दिया था, और निगूढ़ प्रेम-साधना के गंभीरतम स्तर में निमज्जित हो गये थे। इन दिनों गोप बालकों का एक दल प्रायः ही उनके भजन-कुटीर के सम्मुख आकर कोलाहल एवं उपद्रव करता। इसी कारण एकांत-प्रिय बाबाजी ने उस स्थान का त्याग कर दिया। सभी ग्रामवासी लोगों ने मिलकर उनके लिए गहन वन में एक और भी अधिक स्थान पर कुटिया का निर्माण कर दिया जहाँ वे सुविधापूर्वक भजन कर सकें। यहीं एकान्त में रहकर उनका साधन-भजन चलने लगा।

एक दिन बाबाजी, अंतरंग सेवा एवं लीला आस्वादन में मत्त थे, कि अकस्मात् पता नहीं कहाँ से गोपबालकों के एक दल ने उनके कुटीर के प्रांगण में आकर शोर मचाना आरंभ कर दिया। बालकों का यह उपद्रव उनके लिए नया नहीं था। इसीलिए वे अपनी साधना में ही रत रहे। परन्तु शांति से रहने का कोई उपाय नहीं था। बालकों का दल चीखता रहा, "बाबाजी, ओ बाबाजी, प्यास से हम लोगों का बुरा हाल हो रहा है। शीघ्र ही थोड़ा जल की हम लोगों के लिए व्यवस्था करो।" फिर भी भजन-कुटीर के भीतर से कोई उत्तर नहीं मिल रहा है। कारण सिद्ध बाबा, उस समय अर्धबाह्य अवस्था में हैं। दत-चित्त होकर वे लीलारस का आस्वादन कर रहे हैं।

गोप बालक भी छोड़ने वाले नहीं हैं। गाली गलौज करते हुए वे चिल्लाते ही रहते हैं, "बंगाली बाबाजी" तुम किस तरह भजन कर रहे हो, यह हम लोगों को ज्ञात है। दयाहीन भजनकारी को कसाई छोड़कर और क्या कहा जा सकता है ? तुम कुटिया से अभी बाहर निकल आओ और शीतल जल देकर हम लोगों के प्राण बचाओ।

बालकों की चीख-पुकार से अंततः जयकृष्णदासजी को भजन-कुटीर का दरवाजा खोल कर बाहर आना पड़ा।

उन्होंने देखा कि दिव्यकांतियुक्त चंचल गोप बालकों का एक दल उनके सामने शैतानी और लूट-पाट कर रहा है। सारा आंगन बिलकुल उलट-

पलट हो गया है। पता नहीं क्यों, इन पर दृष्टि पड़ते ही बाबाजी का मन बहुत शांत एवं प्रसन्न हो उठा।

स्नेहपूर्वक उन्होंने प्रश्न किया, "लाला, तुम लोग यहाँ कहाँ से आये हो ? कहाँ रहते हो ? तथा तुम लोगों के नाम क्या हैं ?"

एक श्यामकांति बालक ने आगे बढ़ कर कहा कि उसका नाम कन्हैया है और बगल में खड़े संगी का नाम बलदेव है।

बाबाजी को और कुछ कहने का अवसर न देकर बालक चिल्लाने लगे, "बाबाजी, पहले जल देकर हम लोगों के प्राण तो बचाओ, उसके बाद दूसरी बातें ?"

सिद्ध बाबा ने कमंडलु लाकर शीतल जल उनके चुल्लू में डाल दिया जिसे पान करने के बाद वे सभी आश्वस्त हुए।

जाते समय वे हँसी-हँसी में ही कह गये, "देखो बाबाजी, तुम तो घर में बैठ कर माला जपते हो और दोनो आखें बन्द करके बैठे रहते हो और इधर हम लोग संकट में पड़ जाते हैं। नित्य ही हम लोग क्षुधा-तृष्णा से कातर होकर यहां से लौट जाते हैं। कल से कुछ शीतल जल तथा बाल-भोग हम लोगों के लिए रख देना न भूलना।"

गोप बालक गण नाचते नाचते वन में उसी समय अंतर्हित हो गये। जयकृष्ण ने प्रसन्न मन फिर भजन कुटीर में प्रवेश किया। सहसा, उन्हें होश आया। यह बालकों का दल तो बहुत विचित्र था। कितना अपरुप, सुदर्शन चेहरा, कैसी चाल-ढाल, तथा कैसी मधुर बोली। मानो वे इस पृथ्वी के नहीं, किसी और लोक के निवासी हों। इसीलिए तो अबतक इतने विस्मृत से थे। ये क्या सचमुच ही गोप-बालक हैं—या और कोई ? फिर क्या साधना के काम्य अपने ही पास आकर फिर छिप गये हैं ?

जल्दी-जल्दी वे तुरत घर से बाहर निकले। आंगन में आकर देखा, बालक वहाँ नहीं हैं। परम आश्चर्य क्षण भर में ही दुष्ट बालकों का यह बड़ा दल कहाँ अदृश्य हो गया ? ध्यानस्थ होकर उन्हें ज्ञात हुआ कि कृपामय कृष्ण एवं बलराम आज इस छलना के माध्यम से उन्हें अनायास दर्शन दे गये। हाय, अपने इष्ट को वे पहचान क्यों न पाये। दोनों नेत्र अश्रुओं से प्लावित हो गये। आर्त होकर वे जमीन पर लोटने लगे।

अकस्मात् कानो में देववाणी पड़ी। सिद्ध बाबाजी दोनों आखें पोंछकर उठ बैठे। सुना, नटवर वेश में मुरलीधर श्रीकृष्ण स्वयं उन्हें पुकार कर कह

रहे हैं, "जयकृष्ण, तुम दुःखी मत हो। धीरज रखो। कल ही मैं तुम्हारी कुटिया के द्वार पर उपस्थित हूँगा और काफी लम्बी अवधि तक तुम्हारी सेवा-पूजा लूँगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल भजन कुटीर के द्वार पर एक व्रजमाई आकर उपस्थित हुई। उसके हाथ में एक परम मनोहर श्री गोपालमूर्ति थी। उन्होंने कहा, "बाबाजी, यह विग्रह मैं तुम्हें ही देने के लिए लायी हूँ। मैं बूढ़ी एवं अशक्त हो चुकी हूँ। प्रभु की सेवा, परिचर्या मेरे द्वारा हो नहीं पाती। आज से तुम्हीं इसका सारा भार लो।"

महाजाग्रत, दिव्यमधुर विग्रह! बाबाजी शंकित हो उठे। कहा, "माई, प्रभु की उपयुक्त सेवा कर सकूँ ऐसी सामर्थ्य मुझमें कहाँ? गोपाल को दही, दूध तथा छेना नित्य चाहिए। इस कंगाल की कुटिया में वह कहाँ मिलेगा?"

उत्तर मिला, "उसके लिए तुम्हें क्या चिंता है? सेवा के लिए सारी सामग्री तो मैं जूटा दूँगी।"

आनन्द विह्वल, जयकृष्ण श्रीविग्रह को कुटीर के अभ्यन्तर में ले गये। उसी रात उन्होंने स्वप्न देखा, विग्रह को हाथ में लेकर जो वृद्धा माई उनके पास उपस्थित हुई थी, वे और कोई नहीं, स्वयं वृन्दाजी थीं।

उसके बाद काफी समय बीत चुका है। सिद्ध बाबाजी के नश्वर लीला समापन के लग्न में भी अब अधिक विलम्ब नहीं है। अब नित्य लीला में प्रवेश की वार्ता है। उस दिन चैत्र मास की शुक्ल द्वादशी तिथि थी। वसन्त श्री और आनंद उल्लास प्रेमसिद्ध महासाधक के हृदय को उद्वेलित कर रही है। रागानुगा भजन के सिद्ध साधक अपने परम प्राप्ति के आनंद से दिशाहारा हो रहे हैं।

भक्त मण्डली तथा समर्थ वैष्णव साधकगण चारों ओर खड़े हैं। बाबाजी महाराज की सारी देह अलौकिक आनंद के आवेश से थर-थर काँप रही है। अष्ट सात्विक विकारों के चिह्नसमूह बार-बार प्रकाशित हो रहे हैं, जिनके दर्शन कर सभी विस्मय तथा आनंद से अवाक् हैं। व्याकुल कण्ठ से बाबाजी बीच-बीच में प्रश्न कर रहे हैं, "अरे मेरी घांघरी कहाँ है, ओढ़ना तथा कंचुकी कहाँ है?"

चारो ओर स्थित भक्तजनों के नयन अश्रुसजल हो उठे। किसी को भी यह समझने से बाकी नहीं रह गया कि रागानुगा भजन के सार्थक साधक ब्रजमण्डल के दुर्लभ पुरुष आज अपनी दिव्य परिणति का संधान पा गये हैं। प्रिय मिलन का परम लग्न समुपस्थित है। अभिसार प्रस्तुति की बात कहते-कहते, प्रेमाश्रुओं का ज्वार उफना कर सिद्ध बाबाजी अपने परम अभिसार के मार्ग पर उस दिन सर्वदा के लिए चले गये।

★

साधक कमलाकान्त

दिन प्राय: ढल चला था। साँझ होने में अधिक देर नहीं थी। भट्टाचार्य महाशय को शीघ्र ही अपने चान्ना गाँव पहुँचना था। वे अपने एक शिष्य के घर से लौट रहे थे। वहाँ का काम पूरा करने में आज अत्यधिक बिलम्ब हो गया था। उनके सम्मुख उड़गाँव का विस्तीर्ण तट पड़ा था जिस होकर उनकी राह जाती थी। संध्या समय इस राह से अकेले कोई आता-जाता नहीं था। डाकुओं का भय था। वे सुयोग पाते ही निरीह पथिकों का सर्वस्व लूट लेते, उनकी हत्या भी करने से नहीं चूकते।

साँझकी अंधियाली घिरती आ रही थी। अंधकार की काली छाया दिग्पथ को ढँकते हुए उतर चली है यह देखकर भट्टाचार्य महाशय और तेजी से कदम बढ़ाने लगे।

सामने के रूक्ष, कंकरीले प्रान्तर में सन्नाटा साँय-साँय कर रहा था। आस-पास पेड़-पौधों का भी नामोंनिशान नहीं था। केवल दूर दिगन्त में दो-एक ताड़ के पेड़ काले दैत्य की तरह अपना उद्धत सिर उठाये खड़े थे।

अचानक निकट ही तट के ढलवान पर से डरावनी आवाज आई, "हाँ रे, कौन है?" बेचारे भयग्रस्त ब्राह्मण रुक गये। देखते-देखते लाठी-बल्लम से लैस डाकुओं के दल ने उन्हें घेर लिया। डाकू-सरदार ने कर्कश स्वर में कहा—"अरे ब्राह्मण, पास में जो कुछ भी है, शीघ्र सामने रख दो।"

ब्राह्मण के हाथ में एक पोटली थी जिसमें शिष्य के घर से प्राप्त कुछ सामान्य वस्तुएँ बँधी थीं। पल्ले में कुछ रुपये-पैसे भी थे। वह सब

उन्होंने डाकुओं के आगे रख दिया और बोले—"लो बाबा, जो कुछ था, सब तुम्हारे आगे है। पास में और कुछ नहीं है। मैं तो नितान्त दरिद्र ब्राह्मण हूँ।"

रुपये और सामग्री समेट कर डाकू सरदार ने बांधते हुए कर्कश स्वर में बोला "सो तो ठीक है, लेकिन यह तो बताओ, तुम कहां जाओगे? और, तुम्हारा नाम क्या है?"

"पास के ही चान्ना गाँव मुझे जाना है, वहीं मेरा घर है। मेरा नाम है कमलाकान्त देवशर्मा।"

"अरे, तुमने तो हमलोगों को मुश्किल में डाल दिया। चान्ना गाँव यहाँ से मात्र दो-तीन कोस पर है। तुम्हें तो यों ही छोड़ा नहीं जा सकता। घर लौट कर तुम हल्ला मचाओगे और कौन कह सकता है कि हमलोगों में से दो-एक आदमी को तुमने पहचान नहीं लिया है? इसलिए ब्राह्मण देवता, दोष नहीं देना, हमलोग तुमको जीवित नहीं छोड़ेंगे, नहीं तो हमलोग ही विपत्ति में पड़ेंगे। तुमको मार कर फेंक देने के सिवा हमलोगों के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। तुम मरने के लिए तैयार हो जाओ।"

कमलाकान्त ने प्रशान्त स्वर से उत्तर दिया, "ठीक है, तुमलोगों की जो इच्छा! लेकिन मरने के पहले मुझे माँ का नाम गान कर लेने दो। इसमें तो तुमलोगों को कोई आपत्ति नहीं है?"

"हाँ, हाँ, ठीक है। तुम गान गालो, उसके बाद हमलोग भी अपना काम समाप्त कर चलते बनेंगे।"

कमलाकान्त जमीन पर आसन बिछा कर बैठ गये। लाठी—बल्लमधारी डाकू भी उन्हें घेर कर बैठे। कमलाकान्त आवेग पूर्ण स्वर में श्यामा-संगीत गाने लगे।

"माँ श्यामा, मुझे और क्या चाहिए, केवल तुम्हारे दोनों राग-रंजित चरण हों तो? वह भी तो, सुनता हूँ, त्रिपुरारी ने अपना लिया है। इसलिए मेरा साहस टूट रहा है।

"जाति, मित्र, पुत्र, पत्नी, सब तो सुख के ही साथी हैं। विपत्ति काल में कोई साथ नहीं। कहाँ गया मेरा घर-द्वार और कहाँ यह उड़गाँव का तट। अरी मेरी माँ, तुमही अपने गुण-पाश में मुझे बाँधकर रखो और अपने करुणा पूर्ण नेत्रों से मुझे देखो।

"माँ, यदि जप करने से तुम्हें न पा सकूँगा तो यह सब क्या भूतों की कहानी मात्र है?

"बेचारा कमलाकान्त अपनी माँ से मनकी व्यथा कथा कहने के अलाव और क्या करे उसकी जप की माला, झोड़ी-गुदड़ी सब तो पूजा घर में ही खूँटी पर टँगी रह गई है।"

क्या ही हृदयद्रावक संगीत था! माँ से बिछुड़े हुए शिशुकी व्याकुल रुलाई इसमें से फूट पड़ती थी। कमलाकान्त हाथ जोड़कर गाते जाते थे और आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह जारी था। वे माँ श्यामा के दिव्य भावसे आविष्ट थे। उनकी सुन्दर अरुणाभ गौर कांति की अभिव्यंजना अपूर्व थी, मुखमंडल से एक दिव्य ज्योति छिटक रही थी।

डाकु-दल अपलक नेत्रों से उनको देख रहा था। सब-के-सब मंत्रमुग्ध-से थे। कमलाकान्त के आवेदन पूर्ण संगीत और भावदीप्त व्यक्तित्व से एक मोहमय इंद्रजाल की सृष्टि हो रही थी। उनकी आकुल रुलाई डाकुओं के अन्तर में प्रतिध्वनित हो रही थी। भावावेग में उनकी आँखें भी अश्रुपूर्ण थीं।

गान समाप्त होने पर डाकूदल कमलाकान्त के चरणों पर गिर पड़ा। रोते-रोते उनका सरदार बोला, "ठाकुर, हमलोग घोर पापी हैं। हमलोगों को अपने चरणों का आश्रय दो, हमारी रक्षा करो। तुम ही यह काम कर सकते हो। हमलोगों ने माँ की असीम करुणा से तुम्हारा मुखमंडल उद्भासित होते देखा है। हमलोगों पर कृपा करो, ठाकुर।"

डाकुओं ने एक साथ 'जय काली' का उद्घोष किया। उनके समवेत स्वर से उड़गाँव का तट गूँज उठा।

कमलाकान्त की कृपा से डाकुओं का वह दल आगे चलकर भक्त और साधक बन गया।

यह डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की कथा है। उड़गाँव की इस घटना ने न केवल कुछ डाकुओं का जीवन रूपान्तरित कर दिया, बल्कि उस दिन से साधक कमलाकान्त के जीवन का भी एक नया अध्याय आरंभ हुआ। एक शक्तिमान तंत्र साधक के रूप में चारों ओर उनकी प्रसिद्धि फैल गई।

उन्होंने बंगाल के जन-जीवन में, विशेष कर साधक समुदाय में, मातृ-साधना की एक प्राणवंत धारा प्रवाहित कर दी। कुशल गायक, कवि और शक्तिधर सिद्ध साधक के रूप में वे वहाँ की लोक-चेतना में विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो गये।

कमलाकान्त तन्त्रमन्त्र के साधक थे। शक्तिस्वरूपिणी आद्याशक्ति माँ काली की साधना उनके जीवन का व्रत था, और व्रत में उन्हें सिद्धिलाभ भी हुआ। उनका व्यक्तित्व उनकी साधना और संगीत ने अनेक मुमुक्षु भक्तों को भावोद्दीप्त किया। उनका श्यामा-संगीत घर घर लोग गाने लगे। इस प्रकार उन्होंने गाँव-गाँव में, हाट-बाट में मातृ नाम की शांति प्रदायिनी धारा प्रवाहित कर दी।

दक्षिणेश्वर के महान साधक श्री रामकृष्ण परमहंस रामप्रसाद और कमलाकान्त के श्यामा-संगीत को सुन कर तन्मय हो जाते थे। वे स्वयं भी प्राण-विभोर होकर इन गीतों को गाते थे। इन गीतों से उनके हृदय में मातृ-प्रेम का भाव-समुद्र उद्वेलित होने लगता था। माँ भवतारिणी के सामने वे एक दिन रो-रो कहने लगे, "माँ तुमने रामप्रसाद और कमलाकान्त को दर्शन दिया था, मुझे क्यों नहीं दोगी ?"

कमलाकान्त का जन्म अनुमानतः १७७० ई० में बंगाल के बर्दमान जिले के अम्बिका-कालना गाँव में हुआ था। उनके पिता महेश्वर भट्टाचार्य की आर्थिक स्थिति कोई अच्छी नहीं थी। उनके मरने के बाद तो परिवार की चरम दुर्गति हो थी। कमलाकान्त की माता, महामाया देवी सब तरह से निरुपाय होकर पुत्र के साथ अपने नैहर चान्ना गाँव चली आईं। कमलाकान्त के नाना ने उनको थोड़ी जमीन दे दी जिससे किसी प्रकार उस परिवार की उदरपूर्ति की व्यवस्था हो पाई।

कमलाकान्त ब्राह्मणकुल के लड़के थे, अच्छी तरह शास्त्र-अध्ययन नहीं करते तो चलता कैसे ? किन्तु आर्थिक दुरवस्था ऐसी थी कि पढ़ाई का खर्च जुटना कठिन था। लाचारी कमलाकान्त को अम्बिका गाँव के अपने एक यजमान के घर भेजा गया जहाँ वे पढ़ाई-लिखाई करते।

पाठशाला में साहित्य और व्याकरण की पढ़ाई शुरू हुई। उनकी मेधा-बुद्धि थी तो असाधारण, किन्तु पढ़ने-लिखने में उत्साह की उतनी कमी थी। लोग उन्हें पुस्तकों का बस्ता खोलते भी नहीं देखते। किन्तु क्या आश्चर्य कि परीक्षा-काल में सभी-के-सभी पाठ उनके मुखस्थ थे। बालक की इस अद्भुत शक्ति को देखकर पंडितगण चकित-विस्मित रह जाते थे।

कमलाकान्त का कंठ खूब सुरीला था। रामप्रसाद के श्यामा-संगीत गाने में उन्हें अतिशय आनन्द था। वे अक्सर पाठशाला से भाग जाते और खुले पथ-प्रान्तर, झाड़-झंकार से आकीर्ण स्थानों में भटकते रहते और श्यामा-संगीत उच्च स्वर से गाते। उनकी सुरीली आवाज से दिशाएँ गूँजती रहतीं।

उपनयन-संस्कार के बाद उन में एक अद्भुद् परिवर्त्तन आया। फाँक पाते ही वे चान्ना गाँव के विशालाक्षी मंदिर के निभृत एकान्त में ध्यानस्थ हो कर बैठ जाते और घंटों बैठे रहते।

गाँव के निकट ही गोविन्द मठ था जिसके सेवाइत थे प्रभुपाद चन्द्रशेखर गोस्वामी। उच्च स्तर के साधक के रूप में उनकी अच्छी ख्याति थी। कमलाकान्त अक्सर उनके पास आकर उपदेश ग्रहण करते।

कमलाकान्त की माता अपने पुत्र की यह गति-मति देख कर चिन्ता में पड़ गईं। इस तरुण वयस में ऐसा बैराग्य भाव बना रहा तो यह लड़का सांसारिक भाव कभी ग्रहण करेगा भी क्या ? अपने भाई से सलाह कर उन्होंने कमलाकान्त का विवाह कर देने का निश्चय किया। समीप के ही लड्डूका गाँव के भट्टाचार्य वंश की एक सुलक्षणा कन्या थी। उससे कमलाकान्त का विवाह कर दिया। किन्तु कमलाकान्त की यह पत्नी अधिक दिन जीवित नहीं रहीं।

पत्नी के असामयिक देहावसान ने कमलाकान्त के जीवन में वैराग्य और निर्वेर को जागृत कर दिया। चान्ना गाँव के पास खड़गेश्वरी नदी है। इसी नदी के किनारे बालूकामय श्मशान में पत्नी की मृत देह को चिताग्नि में समर्पित कर कमलाकान्त खड़े थे। सम्पूर्ण आकाश रागमयी संध्या के गैरिक अंचल से आच्छन्न हो रहा था। कमलाकान्त देख रहे थे उनकी आँखों के सामने ही उनकी प्रिय पत्नी का शरीर जलकर भस्म हो रहा है और चिताग्नि की ऊर्ध्वमुखी धूमशिखा उसे आकाश के महाविस्तार में लोपित करती जा रही है। यह सब देखकर कमलाकान्त गतिहीन की गति, निराश्रय की एकमात्र आश्रय जगज्जननी को उद्देश्य कर उदात्त स्वर से गाने लगे—

"काली ! तुमने मेरी सभी समस्याओं को हल कर दिया है। बताओ तो सही, मेरे भाग्य में जो कुछ लिखा है, वह सब यथावत् रहने भी दोगी या नहीं ?

"जिस पर तुम्हारी कृपा होती है, उसके अलौकिक, अपूर्व रूप का क्या कहना ? उसे अपने लज्जा-निवारण के लिए कमर में एक कोपीन भी जुटती और सारे शरीर में भस्म लिपटा रहता, सिर पर रहता है जटा-भार।

"तुम स्वयं श्मशान में सुखपूर्वक रहती हो। उस सुख के सामने वैभवपूर्ण मणि-कंचन खचित अट्टालिका का सुख भी तुच्छ है।

"माँ, तुम जैसी हो, कुछ वैसा ही तुम्हारा स्वामी भी है जिसका भांग घोंटना कभी छूटा नहीं।

"तुम जैसा चाहो, वैसा ही रखो। सुख में रखना चाहती हो तो सुख में रखो, दुख में रखना चाहती हो तो दुख में ही रखो। उसमें खोट निकाल कर मैं करूँगा ही क्या ? मैं तो लकीर खींच कर बैठा हूँ लेकिन क्या मैं इतना पूछ सकता हूँ कि क्या मेरे भाग्य में साधना का एक बिन्दु भी है या नहीं ?

संसार ने तो मेरा नामकरण कर दिया है कि कमलाकान्त माँ काली का बेटा है, लेकिन अपने बेटा के प्रति तुम्हारा कैसा व्यवहार है, यह मर्म कितने लोग जानते हैं।

चिताग्नि में जल ढालकर कमलाकान्त घर आये। उन्होंने निश्चय किया कि वे पुनः संसार-बन्धन में नहीं पड़ेंगे। माँ श्यामा का नाम-जप करते हुए चरम वैराग्य-पथ पर चलेंगे। किन्तु माँ के अश्रुपूर्ण मुख ने उनके सभी संकल्पों को ध्वस्त कर दिया। माँ के अनुनय-आग्रह पर उन्हें पुनः विवाह करना पड़ा। कन्या बर्दमान जिले के कांचनपुर गाँव की थी। किन्तु त्याग-वैराग्य की जो धारा उनके जीवन में प्रवाहित हो रही थी, वह विवाह के पश्चात् और भी वेगवती हो गई। जिसके प्राणों में मुक्ति का आलोक संकेत प्रवेश कर गया था, उसे क्या पारिवारिक पाश में बाँधकर रखा जा सकता था ? वे दाम्पत्य-जीवन के आकर्षण को ठेलकर माँ काली के नाम-जप की उन्मादना में चारों ओर भटकने लगे। जहाँ-कहीं माँ काली की पूजा होती, जहाँ-कहीं माँ काली के सिद्ध-साधक का पता चलता, वहाँ कमला-कान्त अपना विह्वल अन्तर लिए पहुँच जाते।

चान्ना के पास एक गांव था सुघड़े। वहाँ एक बार काली पूजा का आयोजन था। पूजा देखने कमलाकान्त वहाँ पहुँच गये। वहाँ केनाराम भट्टाचार्य नामक एक तन्त्रसाधक उपस्थित थे। कमलाकान्त ने सुना कि केनाराम शक्तिवर कौल साधक हैं, उनका घर पास ही है जहाँ वे पंचमुण्डी का आसन और काली की मूर्त्ति स्थापित कर साधना करते हैं।

केनाराम की यह भी प्रसिद्धि थी कि वे श्यामा-संगीत के निपुण गायक हैं। जो भी उनके भाव-विह्वल कण्ठस्वर का जादू-भरा गान सुनता, वही मोहित हो जाता।

उन्हीं केनाराम महाशय के चरणों में कमलाकान्त ने आत्म-समर्पण किया। दीक्षा और शाक्ताभिषेक के बाद केनाराम ने उन्हें बतलाया कि शाक्तसाधना के लिए घर-संसार छोड़ने की आवश्यकता नहीं। महामाया द्वारा रचित संसार में रहते हुए कौल-साधना द्वारा धीरे-धीरे माया का बन्धन काटना होगा।

कमलाकान्त नवीन प्रेरणा से अनुप्राणित होकर अपने गाँव लौट आए। गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए उन्होंने निगूढ़ तन्त्र साधना और आचार-अनुष्ठान का व्रत लिया। आनन्दमयी माँ श्यामा की आराधना करते-करते उनके अन्तर में दिव्य आनन्द का स्रोत फूट पड़ा और अनायास ही वे स्वर्गिक शास्त्रीय संगीत की रचना करने लगे। उनका वह संगीत दूर-दूर तक प्रसारित भी हो चला।

कमलाकान्त का स्वयं का शास्त्र अध्ययन कब का समाप्त हो गया था। अब उन्होंने अध्यापक वृत्ति का अवलम्बन लिया। घर पर एक छोटी-सी पाठशाला खोलकर बैठ गये। इसमें छात्रों की संख्या कोई कम नहीं थी किन्तु पाठशाला चलाने के लिए जिस धैर्य और सांसारिक मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है, वह तो कमलाकान्त बहुत पहले ही खो बैठे थे !

किसी प्रकार आठ-दस वर्ष यों ही बीत गये। अब यह परिवेश उनके लिए असह्य हो गया। प्रायः सारा दिन, सारी रात वे साधन-भजन में निमग्न रहते थे। विशालाक्षी मंदिर में उन्होंने अपने लिए एक पंचमुंडी आसन भी बना लिया था। उस आसन पर एक बार बैठ जाने के बाद वे मातृ-ध्यान में इतने लीन हो जाते थे कि अपना कुछ भी होश नहीं रहता। भाव-विभोर होकर वे कभी-कभी निकटस्थ श्मशान में चले जाते, और उनकी—'माँ-माँ' की रटना से श्मशान का निर्जन एकान्त मुखरित हो उठता।

ऐसी अवस्था में पाठशाला चलना असंभव था। किन्तु अध्यापक वृत्ति के चले जाने पर परिवार का प्रतिपाल कैसे होता ? उनके कुछ विद्यार्थियों ने, जो कि सफल कृतविद्य हो गये थे, निश्चय किया कि उस पाठशाला को बन्द नहीं होने देंगे; वे लोग कष्ट उठाकर भी भट्टाचार्य महाशय का काम चलावेंगे। उनलोगों ने नये विद्यार्थियों को पढ़ाने का भार अपने ऊपर ले लिया।

कमलाकान्त जगन्माता के दर्शन के लिए व्याकुल हो रहे थे। यह व्याकुलता क्रमशः तीव्र ही होती जा रही थी। सुनते हैं, एक दिन वे वीरभूम जिला स्थित तारापीठ चले गये, जहाँ भाग्यवश एक तंत्रसिद्ध शक्तिधर साधक से उनकी भेंट हो गई। उन महात्मा द्वारा बतलाए गये निगूढ़ कौल-साधना-पथ पर वे क्रमशः आगे बढ़ने लगे।

उचित देखरेख के अभावमें कमलाकान्त की पाठशाला को प्रसिद्धि कम हो चली। छात्रों की संख्या नितान्त घट गई। फलतः कमलाकान्त के परिवार को घोर अर्थाभावका सामना करना पड़ा। परिवार के लिए दोनों

शामका भोजन जुटाना कठिन हो रहा था ; लेकिन इस विषय की ओर कमला-कान्त का कोई ध्यान ही नहीं था। वे तो विशालाक्षी मंदिर और सुनसान श्मशान में परम आनन्दपूर्वक काल व्यतीत करते थे। एक दिन उनकी पत्नी अत्यन्त कठिन परिस्थिति में पड़ गई। घर में एक भी पैसा नहीं था। शिशु कन्या के लिए दूध की आवश्यकता थी, और वह पूरी हो तो कैसे? स्वामी और अपने लिए भोजन की क्या व्यवस्था होगी – यह भी उन्हें सूझ नहीं रहा था। हताश होकर वे चुपचाप बैठी अपने दुर्भाग्य पर विचार कर रही थीं।

इतने में किसी ने धीरे से द्वार खटखटाया। साथ ही बाहर से स्त्री-कंठ की आवाज आई, "भट्टाचार्य महाशय क्या घर में हैं? कृपा करके दरवाजा खोलिए।"

द्वार खोलते ही कमलाकान्त की पत्नी ने देखा, सामने अत्यन्त लावण्यमयी श्यामवर्णा एक किशोरी खड़ी है। उनके साथ दो सेवक हैं जिनके सर पर खाद्य-सामग्रियों से भरपूर बड़ी-बड़ी टोकरियाँ हैं। कमलाकान्त की पत्नी को, सप्रश्न-दृष्टि के उत्तर में उस किशोरी ने कहा, "माँ ने आपलोगों के लिए यह सब भेजा है, ले लीजिए।"

इतनी अधिक खाद्य-सामग्री देख कर कमलाकान्त की पत्नी अवाक रह गईं। उनके विस्मय का भाव कटा भी नहीं था कि सेवकों ने दोनों टोकरियाँ उतार कर रख दीं और चले गए। वह किशोरी भी अपनी रहस्यमयी मनमोहिनी मुस्कान की छाया छोड़ती हुई चली गई।

इतनी-सारी सामग्री किसने भेजी है, यह भी पूछने का अवसर नहीं मिला था। बेचारी कमलाकान्त की पत्नी मन-ही-मन आकाश-पाताल एक कर रही थीं कि यह सब क्या हुआ, कैसे हुआ?

आधी रात को भावाविष्ट अवस्था में कमलाकान्त घर आये। प्रवेश करते ही खाद्यान्न से भरपूर दोनों टोकरियों पर उनकी नजर पड़ी। वे चमत्कृत हो उठे – दरिद्र घर में यह विस्मयकारी प्रचुरता कैसी? किसने यत्नपूर्वक इतनी सामग्री भेजी है?

पत्नी ने विस्तार से सब-कुछ बतलाया और बोलीं, "देखो न! मैं उस किशोरी से उसका नाम-पता भी नहीं पूछ सकी और न जान पाई कि किसने खाद्य-सामग्री भेज कर हमलोगों की प्राण रक्षा की है। किशोरी ने मात्र इतना ही कहा, माँ ने भेजा है! कौन है वह माँ?"

साधक कमलाकान्त के पुलकित नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। उन्हें समझने में देर नहीं लगी कि वह सबकी माँ हैं, सम्पूर्ण जगत की माँ हैं। सारे संसार

का प्रतिपाल करने वाली जगज्जननी ने आज अपने सिंहासन से उतर कर छद्म वेश में दीन भक्त की कुटिया में आई थीं। यह सब उनकी ही स्नेह-लीला है।

गाँव के उपान्त में जंगल के बीच विशालाक्षी देवी का एक छोटा-सा मंदिर था। कमलाकान्त दिन-दिनभर, रात-रातभर यहीं समय बिताते थे। कभी तो अपने पूर्ववर्त्ती साधक रामप्रसाद का और कभी अपना ही रचा गीत प्राणों की सम्पूर्ण विह्वलता उड़ेल कर गाते और माँ के चरणों में आर्त्ति निवेदित करते।

मातृपूजा में कमलाकान्त की प्रगाढ़ निष्ठा थी। परन्तु देवी के पूजा-उपचार और भोग-राग का कोई स्थायी प्रबन्ध वहाँ गाँव की ओर से नहीं था। अपने घर में सम्पत्ति के नाम पर एक फूटी कौड़ी भी, नहीं थी फिर भी देवी की पूजा-अर्चना का भार उन्होंने स्वयं ही अपने ऊपर ले लिया था। आकाश वृत्ति से जिस प्रकार अपने परिवार का भरण-पोषण होता, उसी प्रकार देवी का पूजा-उपचार भी चलाते जा रहे थे।

प्राचीन-प्रथा के अनुसार विशालाक्षी मंदिर में रात में मछली बना कर देवी को भोग लगाया जाता था। एक दिन वे किसी प्रकार भी भोग के लिए मछली का प्रबन्ध नहीं कर सके। और, साँझ होते ही गम्भीर ध्यान में निमग्न हो गये। बाह्य कार्यों के लिए उन्हें होश ही नहीं था। गंभीर रात्रि में जब उनका ध्यान टूटा तो माँ के भोगान्न रंधन की बात याद आई, लेकिन मछली का प्रबन्ध तो कर नहीं पाये थे। सेमल वृक्ष के नीचे आसन पर बैठे-बैठे अपने दुर्भाग्य पर विचार करने लगे। मन बड़ा ही खिन्न था। देवी-पूजा में इस प्रकार विघ्न पड़ने से उनके मन में तीव्र वेदना हो रही थी। सर्वथा निरुपाय होकर कमलाकान्त माँ का नाम-गान करने लगे।

हठात् मंदिर के पीछे के पोखर से 'छप-छप-छपाक' की आवाज आई। कमलाकान्त ने हाँक दी, "कौन ? इस कन-कन ठंढ़ में कौन डुबाह जल में उतरा है ?"

"मैं बाग्दी जाति की स्त्री हूँ। मछली मार रही हूँ"—उत्तर आया।

"अगर मछली पकड़ पाओ तो कुछ मुझे भी दे जाना। माँ को अभी तक भोग नहीं लगाया जा सका है।"

कुछ ही देर बाद वह बाग्दी रमणी भींगे वस्त्रों में वहाँ आई। उसके हाथ में एक जोड़ी गांगुर मछली थी। कमलाकान्त के सामने मछलियाँ रखकर बोली, "लो बाबा। देवी को भोग लगाओ।"

दीपक के प्रकाश में कमलाकान्त ने उस स्त्री को देखा। देखकर चमत्कृत हो उठे। कैसा भुवन-मोहक रूप है इस युवती का। इन्द्रनीलमणि-जैसा कृष्ण वर्ण है, अंग-प्रत्यंग से एक दिव्य रूप-माधुर्य छलक पड़ता है। बड़ी-बड़ी आँखें बड़ी ही आकर्षक हैं। सुस्मित हास्य और उल्लास से मुखमंडल झिलमिला रहा है। आत्म-विस्मृत कमलाकान्त चित्रलिखित-से खड़े रह गये। सोचने लगे, प्राणों को आलोड़ित करनेवाली यह युवती कौन है? याद नहीं आता कि इस अंचल में इसे कभी देखा है।

उन्होंने पूछा, "बेटी, तुम कौन हो? तुम्हें पहचान नहीं पाया।"

हास्य-दीप्त मुख से रमणी बोली, "तुम मुझे नहीं पहचानते, लेकिन मैं तुम्हें खूब पहचाती हूँ। तुम्हारा गान सुनकर मेरा मन आनन्द से भर उठता है। इसीलिए तो मैं यहाँ बार-बार दौड़ी आती हूँ।"

"इतनी रात को अकेले आई हो, तुम्हें क्या भय नहीं लगता?

"नहीं, बाबा। मैं चिरकाल से अकेले ही आती-जाती हूँ। लेकिन ये बातें छोड़ो। यह रहीं मछलियाँ। तुम माँ के भोग का जोगाड़ करो, मैं अब चली"—इतना कहकर रमणी धीरे-धीरे गहन अंधकार में विलीन हो गई।

कमलाकान्त भाव-तन्मय देखते रह गये। कुछ देर बाद होश हुआ तो याद आया, उन्होंने मछली का दाम तो दिया ही नहीं। और, न तो उस स्त्री ने माँगा ही। कौन है वह रहस्यमयी नारी जो मेरी समग्र सत्ता को तरंगायित कर गई?

अचानक उनके अन्तर्मन में एक विद्युत रेखा-सी चमक गई—इस गंभीर आधी रात में विशालाक्षी मंदिर के निर्जन वन में कौन युवती अकेले आवेगी? मछली पकड़ने की उसके मन में कौन-सी ऐसी व्याकुलता थी? निश्चय ही वह स्त्री मानवी नहीं हो सकती। मानव शरीर में क्या वैसी अपार्थिव रूप ज्योति संभव है? कैसा था वह दिव्य रूप जिससे उनका समग्र मन-प्राण उद्भासित हो उठा है?

कमलाकान्त अपने को नहीं रोक सके, दौड़ पड़े मंदिर के बाहर और ऊँचे स्वर से पुकारने लगे, "ओ माँ, एक बार सुन जाओ, एक बार लौट आओ।"

निस्तब्ध गहन रात्रि के अंधकार में उनकी आवाज डूब गई, केवल उसकी प्रतिध्वनि आती रही और बीच-बीच में उल्लू और बादुर की कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ती थी।

दूसरे दिन अनेक खोज-ढूढ़, पूछताछ करने पर भी कमलाकान्त को उस बाग्दी नारी का अता-पता नहीं मालूम हुआ। किन्तु उनके अन्तर्पट पर उस नारी का अपार्थिव नीलघन रूप चिरकाल के लिए अंकित रह गया !

उस रूप का ध्यान करते हुए कमलाकान्त ने गाया—

"माँ श्यामा के रूप में मेरा मन भुला गया है। वह अत्यन्त अनुपमेय, सुचिक्कण कृष्णवर्णी है।

"उस निरुपम कोमल रूप को देखकर ही शायद त्रिलोचन शिव ने उसे परम यत्नपूर्वक अपने हृदय में संजो रखा है।"

कमलाकान्त को घेर कर उनके इर्दगिर्द जगज्जननी की गोपनीय लीला अब इसी प्रकार से चलने लगी। मानो, रहस्य के पर्दे में अपने को छिपा कर माँ श्यामा अपने परम भक्त के आसपास मँडरा रही हैं, लेकिन किसी भी प्रकार से पकड़ में आना नहीं चाहतीं।

माँ का दर्शन नहीं हो रहा है, दिव्य स्फुरण से हृदय मंदिर अभी तक आलोकित नहीं हुआ है। उसी के लिए तो कमलाकान्त समस्त विषय-वासना, घर-संसार त्याग कर मातृमंदिर में चले आये हैं। किन्तु उस कृपामयी की कृपा कहाँ छिपी है ?

पंचमंडी की साधन क्रियाएँ समाप्त कर उस दिन गंभीर रात में कमलाकांत विशालाक्षी मूर्त्ति के समीप आ बैठे। चतुर्दिक निस्तब्ध एकान्त है। वे चुपचाप एकाग्र मनसे लाल उड़हुल की माला गूँथते हैं और माँ की वेदी पर उसे अर्पित करते जाते हैं। साथ-साथ चल रहा है संगीत के माध्यम से माँ के प्रति संतान का अनुनय-अभियोग, मान-अभिमान—

"मैं जानता हूँ, तुम तो पाषाण-कन्या हो। मुझसे ही छिपकर मेरे अंतर में रहती हो।"

"तुमने चतुर्दिक अपनी माया फैला रखी है। अनेक जीवों की तुमने सृष्टि की है और निर्गुण छाया को भी तीन गुणों से बाँध रखा है।"

"तुम किसी की दुर्मति बनती हो तो किसी की सुमति। अपने दोषों को ढँक कर किसी दूसरे को ही दोष देती हो।"

"माँ, यह सुनलो, मैं निर्वाण की आशा नहीं करता। मैं स्वर्ग भी नहीं चाहता। मैं तो तुम्हारे दोनों नेत्रों की ओर टकटकी लगा कर, देखते रहना चाहता हूँ, उन्हें अपने हृदय में सँजोकर रखना चाहता हूँ।"

गान रुक गया। कमलाकान्त ध्यान के आनन्द में विभोर थे, आँखों से अविरल अश्रु-प्रवाह जारी था। वे नीरव निस्पन्द बैठे थे।

अचानक एक आवाज आई— "चुप क्यों हो गये, बाबा? फिर से गाओ।"

चकित-विस्मित कमलाकान्त ने देखा कि मन्दिर के द्वार पर एक प्रसन्न-मुख वृद्धा बैठी है। अपनी ममता-भरी आँखों से कमलाकान्त के सर्वांग को सहलाती हुई बोली— "तुम्हारा यह गीत बड़ा ही मधुर है। मुझे कुछ और सुनाओ न, बेटा!"

कौन है यह वृद्धा नारी? चेहरे से तो जानी-पहचानी नहीं लगती है। गम्भीर रात्रि के अन्धकार में कहाँ से यह आयी हैं?

कमलाकान्त ने कहा, "माँ, मैं तो तुम्हें गान सुनाता हूँ, किन्तु उसके पहले यह तो बतलाओ, तुम कौन हो, कहाँ से आई हो?"

"यह क्या? तुमने मुझे पहचाना नहीं? मैं तो तुमलोगों के धर्मनारायण की माँ हूँ।" — वृद्धा ने उत्तर दिया।

"सो कहो! इसके पहले मैंने कभी तुम्हें देखा नहीं।" — कमलाकान्त ने कहा।

धर्मनारायण उसी गाँव का ग्वाला है। वह प्रतिदिन विशालाक्षी मंदिर में दूध-खीर भेंट चढ़ाने आता है। यह महिला उसकी माँ है, यह जानकर कमलाकान्त प्रसन्न हुए। मन के आनन्द में वे एक-के-बाद-एक श्यामा संगीत उसे सुनाने लगे। कुछ देर के बाद उन्होंने देखा कि वृद्धा हठात् उठकर चली गई है।

अगले दिन सबेरे धर्मनारायण दूध देने विशालाक्षी मन्दिर में आया। कमलाकान्त ने उससे पूछा, "क्यों रे धर्मनारायण, कल तुम कहाँ थे? तुम्हारी माँ मन्दिर में आयी थीं। मन-प्राण से मैंने उन्हें कितने ही गीत गा-गा कर सुनाए।"

"यह क्या कहते हो, ठाकुर? मेरी माँ तो बहुत दिन पहले ही मर गयीं। उस समय मैं बहुत छोटा था। दूसरों के घर में ही रहकर बड़ा हुआ हूँ। अब तो विशालाक्षी देवी ही मेरी माँ हैं। उनके सिवा इस संसार में मेरा कोई नहीं है।"

धर्मनारायण की बात सुनकर कमलाकान्त के हृदय में एक उन्मादक भाव-तरंग उच्छ्वासित हो उठी। समझ गये, कल रात स्वयं जगज्जननी आई

थीं। छद्मवेश में उनका गान सुन कर गयीं। माँ के विछोह की तीव्र वेदना आर्त्त क्रन्दन बन कर फूट पड़ी। माँ-माँ पुकारते हुए वे मूर्छित हो कर गिर पड़े।

यह ऐसा समय था जब कमलाकान्त चरम दुःख-दैन्य में जीवन-यापन कर रहे थे, परन्तु सांसारिक विषयों की ओर उनकी दृष्टि बिल्कुल ही नहीं जाती थी। अहर्निश मातृ-ध्यान में लीन रहते थे।

उनके परिवार की यह दुरवस्था देखकर उनका एक प्रिय शिष्य अत्यन्त उद्विग्न हो उठा। वह अम्बिका गाँव का रहने वाला था। चान्ना से वह गांव नहीं-नहीं तो प्रायः बारह मील दूर था। शिष्य अनेक प्रकार से अनुनय-विनय कर कमलाकान्त को सपरिवार अपने घर ले गया और उनलोगों का समस्त सांसारिक भार अपने ऊपर ले लिया। फलतः कमलाकान्त पारिवारिक चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गये।

किन्तु अपने गाँव चान्ना-स्थित साधन पीठ और विशालाक्षी मंदिर को छोड़कर वे भला किस प्रकार रह सकते थे! मन शीघ्र ही उचाट हो गया। इस पर दुर्योगवश अम्बिका गाँव में जाने के कुछ ही दिनों बाद उनकी माँ का देहान्त हो गया।

उसके बाद कमलाकान्त अम्बिका गाँव में नहीं रुके। विशालाक्षी देवी की शरण में अपने चान्ना गाँव लौट आये। तत्पश्चात शुरू हुई उनकी और भी कठिन तपश्चर्या। शक्ति-साधना की निगूढ़ क्रियाएँ और अनुष्ठानादि एक-पर-एक सम्पन्न करने लगे। अन्त में एक दिन जगज्जननी की कृपा का द्वार-कपाट खुल गया और उन्हें तन्त्र-साधना की चरम सिद्धि की उपलब्धि हुई।

इस बार साधक कमलाकान्त का जीवन-घट मातृ-नाम के रसामृत से भर गया। मातृ-कृपा के ऐश्वर्य से सम्पन्न साधक का मन आनन्दोल्लास से गाने लगा।

"रे मन, तू कंगाल क्यों है! तू घर बैठे काली के नाम का सुधा-रस पान किया कर। यह भवसागर उनकी ही माया है। कितने उसमें डूब गये, कितने डूबते-उतराते हैं, और कितने ही उसमें धसते जा रहे हैं।"

"अरे, तुम आनन्द-धाम में रहो और हँसते-हँसते वहाँ का रंग देखो।"

कमलाकान्त की साधना और सिद्धिलाभ की कहानी और मातृसंगीत-रचना में उनकी पारदर्शिता की कथा अब तक सर्वत्र प्रसारित हो गयी थी। चान्ना और बर्दमान के बीच की दूरी कोई अधिक नहीं थी। बर्दमान के महाराजा के कानों

में भी कमलाकान्त की साधना और सिद्धिलाभ की ख्याति पहुँची। महाराजा तेजचन्द्र ने बड़े आदर से उन्हें अपनी राजधानी में बुलाया और श्रद्धापूर्वक उनसे गुरु-दीक्षा ली। तत्पश्चात् वर्द्धमान शहर के निकट कोटालहाट में उनके लिए एक वास-गृह बनवा दिया। उनकी श्यामा-विग्रह की सेवा-पूजा के लिए पर्याप्त मासिक वृत्ति और उसका समय भी निश्चित कर दिया।

कमलाकान्त के व्यक्तित्व और साधना का असाधारण प्रभाव था। युवराज प्रतापचाँद ने भी कुछ दिनों बाद उनसे दीक्षा ली। वह मुमुक्षु कमलाकान्त के आश्रय में रह कर तंत्र-साधना पथ पर क्रमशः अग्रसर होने लगा।

"कोटालहाट स्थित कमलाकान्त की श्यामामूर्ति महाजाग्रत देवी रूपमें प्रसिद्ध हो गई। देश-देशान्तर से अनेकानेक पुण्यार्थी स्त्री-पुरुषों की भीड़ वहाँ होने लगी। वे लोग कभी साधन-पीठ पर तो कभी दामोदर नदी तटवर्त्ती काठगोला के श्मशान घाट पर शक्ति-साधन की क्रियाएँ अनुष्ठित करता।

एक बार की बात है, अमावस्या की रात थी। घोर अन्धकार चारों ओर व्याप्त था। उस पर से आरम्भ हुई जोरों की वर्षा और तेज हवा। इस गंभीर रात में मातृसाधक कमलाकान्त कालीमंदिर में भावाविष्ट बैठे हुए थे। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि देवी पूजा का लग्न बीता जा रहा है। प्राकृतिक दुर्योग के बीच उनके मानस पटल पर जगन्माता का एक भीम-भयावह प्रलयंकर रूप उद्भासित हो रहा था। ध्यानावेश के कटने पर माँ के रुद्राणी रूप का स्तव-गान करने लगे—

करालवदनां घोरां
मुक्तकेशीं चतुर्भुजां।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां
मुंडमाला विभूषितां।
सद्यश्छिन्न शिरः खड्ग-
वामाधोर्द्ध करांबुजां
अभयं वरदंष्ण
दक्षिनाधोर्द्ध पाणिकां।
महा मेघप्रभं श्यामां
तथाचैव दिगम्बरीं
कंठावसक्त मुंडाली-
गलद्रुधिरचर्चितां।

महाकाली के इस स्तोत्र और मातृ-नाम के जपसे पूजास्थली प्रकम्पित हो रही थी। प्रलयंकर झड़-वर्षा के साथ मानो प्रलयंकरी देवी के सिद्ध साधक का भी स्वर मिल गया था।

विष्णु कर्मकार, कमलाकान्त का अनुगत भक्त था। मंदिर की परिचर्या वह नित्यप्रति परम निष्ठापूर्वक करता था। उसने देखा कि ठाकुर (कमलाकान्त) अपनी उद्दीपना में भावप्रगत हो रहे हैं और इधर पूजा का लग्न शेष होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

मंदिर में घुस कर उसनें निवेदन किया, "ठाकुर, आप सुस्थ होकर पूजा पर बैठ जायँ, पूजा का लग्न बीता जा रहा है।"

कमलाकान्त बोले, 'अरे, यह देखो। आज मेरी माँ का दनुज-विनाशिनी रूप प्रस्फुटित हो रहा है। आज तो पूजा में भैंसे की बलि देनी होगी।"

"यह क्या कह रहे हैं, ठाकुर ? इस घोर अमावश्या की रात में, जब कि झड़-वर्षा का प्रकोप है, मुझे भैंसा कहाँ मिलेगा ? पहले कहा होता तो कोई प्रबन्ध किये रहता।"

"अरे, माँ का रुद्राणी रूप देखते नहीं ? मैंने समझ लिया कि आज भैंसे की वलि के सिवा अन्य किसी प्रकार से उनकी अर्चना नहीं हो सकती। तुम भय न करो। माँ अपनी पूजा के निमित्त, जिस किसी उपचार की आवश्यकता होती है, स्वयं संग्रह-प्रबंध कर लेती हैं। तू केवल एक बार खोज कर तो देख !"—कमलाकान्त ने कहा।

फलतः बेचारे विष्णु कर्मकार को आँधी-पानी में निकलना पड़ा। गाँव की राह पकड़ कर कुछ ही दूर गया था कि उसने देखा की आँधी-पानी में भीजते हुए कुछ लोग मंदिर की ओर आ रहे हैं और उनके साथ डोरी से बँधा एक वृहदाकार भैंसा है और देवी-पूजा के लिए बहुत-सा द्रव्यादि भी है।

मन्दिर के परिचारिक के रूप में विष्णु कर्मकार इस अंचल में सुपरिचित व्यक्ति था। आनेवाले लोग उसे देखते ही आनन्द-ध्वनि करने लगे। यह जानकर उनके आनन्द की सीमा नहीं रही कि मातृपूजा अभी शुरू नहीं हुई है।

उनलोगों के मुनीम की मनौती थी कि कमलाकान्त के जाग्रत देवी-विग्रह के आगे इस भैंसे की बलि देकर वे षोड़शोपचार पूजा करेंगे। मौसम के दुर्योग के कारण उन्हें आनेमें विलम्ब हो गया।

किन्तु विष्णु कर्मकार तो विस्मय से हतवाक् रह गया। उसने सोचा भी नहीं था कि कमलाकान्त के संकल्पित पूजा-उपचार का इस अप्रत्याशित रूपसे प्रबन्ध हो जायगा। खैर, उसके सिर से दुश्चिन्ता का बोझ उतर गया।

पूजा पूरे समारोह से सम्पन्न हुई। रातके शेष प्रहर में कमलाकान्त अपने ध्यानासन से उठे और उच्च स्वर में सद्यः रचित मातृ संगीत गाने लगे—

"मां, आज तेरी जिह्वा लाल क्यों है ?
शवासन पर विवस्त्र क्यों बैठी हो ?
मां, शिवके हृदय में तुम क्या कर रही हो ?
"कपड़े फटे-चिटे हैं, केश राशि गलित है ?
यह कैसा रूप तुमने धारण किया है ?
तुम्हारे पद-चाप से पृथ्वी कांप रही है।
गलेमें नरमुंडों और कटे हाथों की माला है।
यही क्या तेरे आभूषण हैं ?

"हे मेरी स्वर्णमणि,
किस कारण से तुम निर्वस्त्र हो ?
मणि-मन्दिर को छोड़कर क्यों श्मशान में उन्मत्त पगलिनी
की तरह भटक रही हो !
क्षण-क्षण में तेरी हूँकार का भार पृथ्वी के लिए असह्य
हो रहा है।
दिग्गज, कूर्म-कच्छप और शेषनाग कांप रहे हैं।
हे ब्रह्ममई, कमलाकान्त की विनती है कि तुम जरा धीरे-
धीरे ही नाचो, शिव भी भय-विकम्पित हो रहे हैं।"

वर्दमान महाराजा तेजचन्द्र ने कमलाकान्त को गुरुरूप में वरण किया था। तत्पश्चात् इस शक्तिधर साधक का आचार्यरूप में जीवन प्रारम्भ हुआ। लाभोत्सुक भक्त दल-के-दल उनके चरणों में आने लगे। उनलोगों की साधना में कमलाकान्त तंत्राचार और योग-मार्ग, दोनों का समावेश करने लगे। उनकी इस साधन-प्रक्रिया का कुछ परिचय उनकी रचित पुस्तक "साधक रंजन" में मिलता है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा का हस्ताक्षर इस पुस्तक के रूपमें सुरक्षित है।

कमलाकान्त एक साथ ही साधक, कवि और लोक-कल्याणकामी महा-पुरुष थे। उनकी संगीत-रचना में उनके पूर्ववर्त्ती साधक रामप्रसाद का

कुछ प्रभाव अवश्य दीख पड़ता है। रामप्रसाद के भावमय संगीत ने अनेक प्रकार से उन्हें अनुप्राणित किया था, उनमें उद्दीपना भी जगाई थी। किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि कमलाकान्त की साधना-सिद्धि की अपनी विशेषता और उनके जीवन-दर्शन की मौलिकता उनके भावमय जीवन और रचनाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उनके गीत अनेक वर्षों तक सिद्धि-साधना के इच्छुक लोगों के कंठों में गूँजते रहे। निस्सन्देह साधक कवि रामप्रसाद के बाद कमलाकान्त का ही स्थान है।

कमलाकान्त की पुस्तक "साधक रंजन" के भाव और भाषा ने बंगाल के सहस्रों लोगों को अनुप्रेरित किया है। इस सुन्दर पुस्तक के सम्बन्ध में पंडित-प्रवर हरप्रसाद शास्त्री कह गए हैं— "सुललित भाषा और मनोहर छन्दों में थोड़े में ही तंत्र-साधना के सभी गूढ़ तत्वों को दूसरे किसी ने इतने सहज रूपमे नहीं समझाया है।"

इस पुस्तक के अलावा भी कमलाकान्त के रचित अनेक पद मिले हैं जिनमें हैं श्यामा संगीत, समर संगीत, आगमनी, विजया, शिव संगीत और कृष्ण संगीत प्रभृति नाना प्रकार की हृदय-स्पर्शी सार्थक रचनाएँ।

माँ श्यामा का चिन्मय रूप कमलाकान्त के अन्तर्पट पर अंकित था। उनके अन्तर की निभृत गुहा माँ के इस दिव्य रूप-ऐश्वर्य से उद्भाषित था। इष्ट देवी का रूप काला है तो क्या हुआ। इसी निस्सीम काले पारावार में तो नाम की, रूप की, सब-कुछ की परिसमाप्ति होती है। यह काला रूप ही उनके लिए अत्यन्त मधुर, अत्यन्त विमुग्धकर है। इसलिए उन्होंने गाया है—

"माँ, मैं तुम्हारे श्याम रूप को कितना प्यार करता हूँ!
तुम भुवन मनमोहिनी हो, मुक्तकेशिनी हो!
तुम्हें सबलोग काली कलूटी कहते हैं, लेकिन मैं तो देखता हूँ,
तुम निष्कलंक चन्द्रमा-जैसी धवल हो।"

इष्टदेवी की चिद्‌घन सत्ता निरन्तर उनके अन्तर में प्रकाशित रहती थी। कोई कुछ भी कहे, किन्तु मातृसाधक कमलाकान्त के लिए तो देवी का यह काला रंग काला नहीं— बल्कि दिव्य प्रकाश से उद्भासित है। माँ के इस रूप के सम्बन्ध में कमलाकान्त ने गाया है—

"अरे, तुम मेरी श्यामा माँ को क्यों काली-कलूटी कहते हो?
यदि वह काली-कलूटी है तो क्यों उसने सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित कर रखा है?

मेरी माँ तो कभी श्वेतवर्णा होती हैं तो कभी पीताभ और कभी नील-
लोहित वर्ण की ।

सोचते-सोचते जीवन बीत गया और मैं समझ नहीं पाया कि मेरी माँ
सचमुच कैसी हैं ।

मेरी माँ कभी प्रकृति बनती है तो कभी पुरुष, और कभी शून्याकाश हो
जाती है ।

कमलाकान्त के काली तत्व में सन्निहित था सर्वव्यापिनी ब्रह्मशक्ति का परम तत्त्व। वे सम्पूर्ण सृष्टि को जगज्जननी माँ श्यामा से ओतप्रोत देखते थे :

"मेरी माँ स्थल में, शून्य में, वायु और जल में सर्वत्र ही व्याप्त है ।
"तुमलोग मेरी ब्रह्मांडरूपिणी माँ को जानते नहीं ?
"मेरी माँ घट में है, पट में है, सम्पूर्ण शरीर में है ।
"वह रमणी का नयन-कटाक्ष भी है जिसके फलस्वरूप संसार का मन
मोहित करती है ।

"अरे, कमलाकान्त का मन, तुमको किसका भय है ? तुम्हें तो विरंची
ब्रह्मा का वांछित धन मिल गया है ।

अखण्ड ब्रह्मतत्व स्वरूपिणी इष्टदेवी महाकाली का जो रूप कमलाकान्त के अन्तर में प्रकाशित रहता था, उसमें आकाश-तत्व और शब्द-तत्व के साथ काली और शिव की, प्रकृति और पुरुष की परमसत्ता एकाकार होकर निहित थी। वे निरन्तर अखण्ड चैतन्यमई महाकाली के ध्यान में मग्न रहते थे, इसलिए उनकी दृष्टि में श्यामा और श्याम में कोई अन्तर नहीं था। उनकी यह समन्वय-वाणी उनकी साधना और काव्य-कृतियों के माध्यम से प्रस्फुटित हो गयी है :

"अरे मेरे मन, तुम जानते नहीं, परम कारण-स्वरूपिणी माँ काली केवल
स्त्री ही नहीं है ।
कभी-कभी वह मेघ वर्ण धारण कर पुरुष बन जाती है ।
"कभी तो मुक्तकेशिनी बनकर हाथमें तलवार धारण करती है और दनुज-
पुत्रों को भयार्त्त करती है ।
"वह कभी व्रज में जाकर बंसी बजाती है और व्रजांगनाओं का मन हर
लेती है ।
"कभी अपने त्रिगुण से सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करती है ।

"कमलाकान्त के शिष्य, वर्दमान के राजकुमार प्रतापचान्द के अन्तर में मुक्ति की तीव्र पिपासा जग पड़ी थी। कमलाकान्त से मातृ-मंत्र की दीक्षा पाकर वह तन्त्र की निगूढ़ क्रियाएँ निष्ठापूर्वक सम्पन्न किया करता था। गुरुके प्रति उसकी असीम भक्ति थी। वह प्रायः उनके निकट आ कर रहता भी था और साधन-उपदेश ग्रहण करता था। एकबार अमावश्या की रात में कमलाकान्त ने प्रतापचान्द को पूर्णाभिसिक्त किया पंचमुंडी आसन पर बैठा कर तंत्रकी निगूढ़ क्रियाएँ भी कराईं।

राजकुमार सिद्धि-लाभ के लिए व्याकुल हो उठा था। वह अक्सर श्मशान में ही रहता और कारण-वारि (सुरा का पान करता। यह बात शीघ्र ही महाराज तेजचन्द्र के कानों तक पहुँची। वे महाक्रुद्ध हुए और अचानक एक दिन सदलबल कोटाल हाट पहुँचे।

काली मन्दिर के निकट पहुँचते ही उनकी कमलाकान्त से भेंट हो गई। कमलाकान्त श्मशान से लौट रहे थे। कारण-वारि के सेवन से उदीप्त थे, आंखें ओड़हुल के फूल की तरह लाल थीं। हाथ में सुरा-पात्र भी था। डगमगाते-डगमगाते मन्दिर की ओर गाते हुए आ रहे थे—

'सदा आनन्दमयी काली !
तुम तो महाकाल का मन हरनेवाली हो।
"तुम अपने मन की मौज में नाचती हो और अपने ही ताली बजाती हो।
"तुम आदिभूता सनातन सत्ता हो।
ललाट पर चन्द्रमा को धारण करने वाली शून्य-रूप हो।
"जब सृष्टि ही नहीं थी तब तुमने अपनी यह मुण्डमाला कहाँ पाई ?
"सबको चलानेवाली यन्त्री तुम हो। हम सब तो तुम्हारे यन्त्र हैं और तुम्हारे तन्त्र-डोर से बँधे चलते हैं।
तुम जैसे रखती हो, वैसे ही रहता हूँ। जैसे बोलवाती हो, वैसे ही बोलता हूँ।
"कमलाकान्त अशांत होकर तुम्हें गाली-गलौज करता है—अरी सर्वनाशिनी, हाथ में तलवार धारण कर तुम धर्म और अधर्म, दोनों ही खेल खेलती हो !

जैसा ही मधुर स्वर था, वैसा ही उद्दीपनामय भावावेश था। महाराजा तेजचन्द्र मंत्रमुग्धवत् इस महासाधक को देखते रहे। हठात् उनका होश लौटा और ध्यान आया कि कमलाकान्त से ही बातें करने वे कोटालहाट दौड़े आये थे।

गंभीर स्वर में महाराजा ने पूछा, "ठाकुर, आप यहाँ क्या सब कांड कर रहे हैं ? मैंने अपने पुत्र प्रताप को आपके हाथ में सौंप दिया था। आशा थी कि आपसे शिक्षित होकर वास्तव में आदमी बनेगा। लेकिन देख रहा हूँ कि सब-कुछ उल्टा ही हो रहा है। आपके साथ रहते-रहते वह घोर शराबी हो गया है। उसके संबंध में जो बातें मेरे सुनने में आईं वे सब सच हैं, यह समझने में अब कुछ भी बाकी नहीं रहा।

कमलाकान्त ने हँसते-हँसते कहा, "महाराज, किस आधार पर आप ऐसी बात कह रहे हैं ?"

"उसका सबसे बड़ा प्रमाण तो ठाकुर, आपके हाथ में शराब का यह घड़ा ही है। मैं यहाँ खड़ा-खड़ा शराब की गंध पा रहा हूँ।"

"महाराज, किसने आपसे कह दिया कि इस घड़े में शराब है ? इसमें तो शुद्ध दूध है।"

महाराजा तेजचन्द्र क्रुद्ध होकर आगे बढ़ने लगे। साथ के कर्मचारी और अंगरक्षक लोगों को कुतूहल हुआ। सबने देखा, कमलाकान्त के हाथ के उस बड़े घड़े में शराब नहीं, सचमुच में दूध भरा है। शराब की जो गंध सब लोग पा रहे थे, वह भी गायब थी। सबलोग विस्मय विमूढ़ हो गये।

यह कैसा अलौकिक कांड है ! अन्ततः इसका पता लगाकर ही महाराजा छोड़ेंगे। उन्होंने कहा, "ठाकुर, यदि यह दूध है तो इससे मक्खन भी तैयार किया जा सकता है ? हमलोग आज इसकी परीक्षा करके देखेंगे।"

कमलाकान्त ने हाँड़ी उन लोगों को दे दी। उस दूध से मक्खन निकाला गया और मक्खन को गलाकर घी भी तैयार किया गया। उस घी से साधक कमलाकान्त ने मंदिर में होम सम्पन्न किया। तत्पश्चात् आसन से उठकर वे महाराजा से बोले, "महाराज, अब तो आपका संदेह मिटा कि हाँड़ी में शराब नहीं थी, दूध था ?

महाराजा तेजचन्द्र ने माना कि आज उनके कल्याण के लिए उनमें विश्वास-भाव जगाने के लिए ही उनके गुरु ने अपनी अलौकिक विभूति को प्रकाशित किया है। उन्हें खेद भी हुआ कि गुरु पर अविश्वास करके उन्होंने अच्छा नही किया।

युवराज प्रतापचाँद को लेकर महाराजा को अधिक दिनों तक चिन्ता नहीं करनी पड़ी। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद वैरागी युवराज गृह त्याग कर न मालूम कहाँ चला गया।

अबतक सिद्ध कौल साधक कमलाकान्त की प्रसिद्धि बंगाल के बाहर भी फैल चली थी। काशी में बड़े समारोह से काली पूजा का आयोजन था। आयोजकों की बड़ी इच्छा थी कि कमलाकान्त के द्वारा ही मातृ-पूजा का अनुष्ठान हो। कमलाकान्त की भी एकवार काशी जाने की बहुत दिनों से इच्छा थी। उन्होंने अन्नपूर्णा और विश्वनाथ का अब तक दर्शन नहीं किया था। इसलिए काशी का निमंत्रण उन्होंने स्वीकार कर लिया।

मध्य रात्रि में कमलाकान्त माँ श्यामा की पूजा पर बैठे थे। पूजन के समय बीच-बीच में कारण-वारि का पान और मातृ नाम का जप चल रहा था।

यह देखकर कुछ लोग उत्तेजित हो गये– यह कैसा अनाचार है! देवी की अर्चना-पूजा पर बैठकर सुरा-पान?

आयोजकों ने उत्तेजित लोगों को समझाया, कमलाकान्त सिद्ध पुरुष हैं। वे भावावेश में अपने इच्छानुसार माँ की पूजा करते हैं। वे पूजा की पुरानी निर्धारित पद्धति बहुत-कुछ नहीं मानते हैं। किन्तु वे लोग यह बात क्यों मानने लगे? कुछ ने व्यंगपूर्वक कहा, बहुत-से लोग वामाचार का नाम देकर इस तरह पूजा करते हैं, किन्तु मूर्त्ति में प्राण प्रतिष्ठा कितने लोग कर पाते हैं? कमलाकान्त यदि मिट्टी की मूर्त्ति को सचमुच प्राण-प्रतिष्ठा करके जागृत कर सकें, तब हमलोग मानेंगे कि हाँ, इनमें सामर्थ्य है।

एक स्पष्ट वक्ता ने आगे बढ़कर कहा, "ठाकुर, कारण (सुरा)-पान और नशा तो खूब हुआ किन्तु इस माटी को मूर्त्ति में आप प्राण-प्रतिष्ठा कर सके या नहीं? केवल लोगों को दिखलाने में इस रंग-ढंग की क्या सार्थकता है?

कमलाकान्त की आँखें मुहूर्त्त भर में प्रदीप्त हो उठीं। उन्होंने उच्च स्वर से कहा, क्या सचमुच देखना चाहते हो कि मूर्त्ति जीवन्त हुई या नहीं?— तो देखो।"

इतना कह कर उन्होंने सामने पड़ा बलिदान-वाला खड्ग उठा लिया और प्रतिमा के हाथ पर उसे बैठा दिया। माटी की उस मूर्त्ति के हाथ से, जहाँ तलवार का घाव था, झरझर रक्त की धारा बहने लगी।

भय-विस्मय से विमूढ़ समालोचकगण कमलाकान्त के चरणों पर गिर पड़े। इसके बाद कमलाकान्त काशी में और नहीं रुके। कोटालहाट लौट आये। किन्तु काशी जाकर उनका मन भरा नहीं था। अन्तर्मुख होकर वे धीरे-धीरे आत्म-सत्ता में डूबने लगे। उस समय की उनकी मानसिक स्थिति का परिचय इस गीत में मिलता है—

"रे मन, किसी अन्य के घर मत जा,
तुम अपने-आपको ही देख ।
"अपने अन्तःपुर में ही जो कुछ खोजोगे,
मिल जायगा ।
"तीर्थ यात्रा केवल दुःखपूर्ण भ्रमण है ।
लेकिन तुम उचाट क्यों होते हो, मेरे मन ?
"तुम मूलाधार की आनंद-त्रिवेणी में स्नान कर,
शीतल क्यों नहीं हो जाते ?

अनेक वर्ष इस प्रकार से बीत गये । साधक कमलाकान्त अब बहुत बूढ़े हो गये हैं । प्रिय शिष्य प्रताप चाँद नहीं रहा । उत्तर साधिका परम प्रिय द्वितीय पत्नी भी चल बसी थीं । गृहस्थ जीवन के नाम पर एकमात्र उनकी कन्या थी । इस पतली डोर को लेकर अब और कितने दिन रहेंगे । अन्ततः एक दिन कमलाकान्त के जाने की पुकार आ गई ।

शिष्य महाराज तेजचन्द्र अपने रुग्ण गुरुदेव को देखने आये । देखकर समझ गये, इनकी इहलीला समाप्तप्राय है । वे अत्यन्त व्यस्त हो उठे कि अंतिम समय में गुरुदेव को गंगा तट पर ले जाना चाहिए । किन्तु कमलाकान्त इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं हुए । बार-बार आग्रह करने पर अस्फुट स्वर से स्वरचित एक पद गाने लगे—

किसलिए मैं गंगा-तीर जाऊँगा ?
काली माँ की संतान मैं
क्यों विमाता की शरण में जाऊँ ?

तेजचन्द्र प्राचीन प्रथा और धर्म-संस्कृति के आग्रही थे । वे बड़ी दुश्चिन्ता में पर गये । वे गुरुदेव के गंगा तट पर ले जाने की सभी व्यवस्था कर चुके थे । किन्तु कमलाकान्त को किसी प्रकार भी राजी नहीं किया जा सका ।

कमलाकान्त ने महाराजा को समझाया, "महाराज, मन का संताप दूर कीजिए । मैं यहाँ ही माँ के मंदिर के सामने प्राण छोड़ना चाहता हूँ । आप कल दोपहर को एकबार आइए ।"

दूसरे दिन कमलाकान्त के घर पर बहुत-से बंधु-बान्धव और अन्यान्य लोगों के साथ महाराज तेजचन्द्र उपस्थित हुए । साधक कमलाकान्त सुबह से ही दिव्य भाव में विभोर थे । उन्होंने उपस्थित मंडली से कहा, "मेरे लिए तृण-शैय्या बिछा दो ।"

उसी तृण शैय्या पर लोगों ने उन्हें सुला दिया। कमलाकान्त के मु पर अलौकिक आभा छिटक रही थी। कंठ-स्वर क्षीण हो गया था, पि अपनी इष्टदेवी के उद्देश्य से आनन्दपूर्वक धीरे-धीरे गाने लगे—

"माँ श्यामा के रूप में मेरी आँखें डूब गई हैं।

"उसका अनुपम रूप कितना कोमल काला है, चिकना-चिकना।

"उस सुचिक्कण, काले; अनुपमेय रूप को देखकर त्रिलोचन शिव ने अपने हृदय में रख लिया है।

"जगज्जननी के उस नील मेघवर्णी रूप का ध्यान करते-करते मातृस कमलाकान्त ने सदा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

उपस्थित जनता ने विस्मय से देखा कि उस तृण शैय्या के नीचे पृथ्वी को फोर कर भगवती की पवित्र जलधारा फूट पड़ी है। उस अलौ जलधारा को देखकर साधक कमलाकान्त को अंतिम समय में गंगा-तट ले जाने का खेद महाराज तेजचन्द्र के मन से मिट गया।